लेखक

तीन असफलताओंसे उनका दिल टूट गया और आत्महत्याके लिए वे पटना स्टेशनपर आये। मेलसे उन्हें कटना था—उसके आनेमें अभी कुछ देर थी। जाने कैसे जेबमें अठन्नी पड़ी रह गई और उन्होंने बुकस्टालसे 'नया जीवन' खरीद लिया।

उसमें छपा था एक लेख—धीरे-धीरे जियो!! पढ़ते ही उनकी दुनिया बदल गई, वे घर लौट आये और आज लखपति हैं। इसी तरहके लेखोंका संग्रह इन पन्नों-में है, जिन्हें पकड़कर जाने कितने बच गये, जाने कितने बढ़ गये, जाने कितने चढ़ गये! और जाने कितने जीना सीख गये!

आप आत्महत्या नहीं कर सकते,
आप निराश नहीं हो सकते,
आप चिन्तित नहीं रह सकते,
आप असफल नहीं हो सकते,

ज्ञानपीठ-लोकोदय ग्रंथ माला हिन्दी ग्रंथांक —२५

ज़िन्दगी मुसकराई

[निराशा और उदासीकी जगह निर्माण और उत्फुल्लता भरनेवाले विचारोंका अक्षय भण्डार]

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
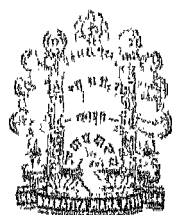
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० ए०

प्रथम संस्करण
१९५४
मूल्य चार रुपया

प्रकाशक
अयोध्या प्रसाद गोयलीय
मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

मुद्रक
जी० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

कहाँ क्या है ?

पृष्ठ-भूमि

भाई ब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु' जन्मजात कवि थे। वे कवि थे, गायक थे, लिखते और गाकर सुनाते। समा बँध जाता और हमलोग एक स्वर्गीय विभूतिकी तरह उन्हें टुकर-टुकर देखा करते, देखते रह जाते।

जी में आता, एक गहरी सनसनाहट नसोंमें उठती कि काश, मैं भी लिख पाता ऐसा ही कुछ, पर कुछ लिख न पाता।

एक सुन्दर-सी कापी खरीदी और एक दिन उसमें शिशुजीकी कुछ कविताएँ लिख लीं। लिख नहीं सकता, तो पढ़ तो सकता था। जाने कितनी बार मैं उन्हें पढ़ता-गाता, झूम उठता, भूल जाता कि ये मेरी नहीं हैं और यह भूल ढीली पड़ती, तो तड़प उठता कि हाय ये मेरी नहीं हैं। एक अजीब नशा था, जो सहालस हाथों उठाता, तो उतावले हाथों पटकता भी।

सन् १९२८, सर्दियोंकी रात, देवीकुण्डका एक जंगल, दो बजेका समय और मैं संस्कृतकी मध्यमा परीक्षाका विद्यार्थी। सब सोये पड़े और मैं जाग रहा। उठकर बाहर आया, तो एक अजब सन्नाटा। लौटकर फिर कोठरीमें आया, तो पढ़नेमें जी न लगा। भीतरी गुनगुनाहट, दिमाग़में गान बना और यह मैंने लिखी ८-१० पंक्तियाँ। कुछ गजलों-सी, भाव कुछ प्रार्थनाके-से। आज सोचता हूँ, तो मामूली-सी तुकबन्दी, पर उस दिन तो उसे लिखकर, मैं कालिदास, मैं रवीन्द्रनाथ और मैं क्या-क्या हुआ! कई बार जीवनमें भंग पी है, बीमारीके दिनोंमें कई-कई नामी शराबोंकी खुमारियाँ भी देखीं, पर उस रातके नशेकी क्या बात? जाने कितनी बार मैंने उन पंक्तियोंको गाया, दोहराया, गुनगुनाया, देखा, पढ़ा, नाचा और

उछाल दिया। ओह, मैं अब कवि हूँ, स्वयं कवि, मुझे क्या जरूरत कि भाई साहबकी कविताएँ कापीमें नकल करूँ? अपनी कविताएँ कापीमें लिखूँगा, सारे विद्यालयमें मैं ही मैं—और कौन लिखता है कविता! बड़ी मुश्किलसे कोई ५ बजे मुझे झपकी आई।

एक कागज पर मैंने बहुत-बहुत साफ उसकी नकल की और एक पत्रके साथ लिफाफेमें रख, वह किसीके हाथों शिशुजीके पास भेज दी। दिल धड़कता रहा, पर उसी दिन उनका पत्र मुझे मिल गया।

बहुत खुश हुए थे भाई साहब, बहुत तारीफ की थी उन्होंने, मेरे भविष्यके मनसूबोंसे उनका मन भर उठा था और अन्तमें उन्होंने जो कुछ लिखा था, उसका यह सार मुझे याद है—"साहित्यिककी सफलताका रहस्य इस बातमें नहीं है कि वह कितने अच्छे भाव संग्रह करता है, कितनी अच्छी तरह उन्हें लिखता है। भाव तो भगवान्‌के हैं, आकाशमें भरे हुए हैं। साहित्यिककी सफलताका रहस्य यह है कि वह अपनेको कितना निर्मल, कितना सरस, कितना सरल बना पाता है, जिससे वह उन भावोंका ग्रहण करनेका पात्र बन सके। गाना तो रिकार्डमें भरा ही है, जिसका ग्रामोफोन जितना अच्छा होगा, उसका गाना उतना ही मधुर सुनाई देगा। तुम अपना ग्रामोफोन यानी मानस अच्छा रखो, गाना तो फिर खुद ही अच्छा होगा।"

चिट्ठी पढ़कर उस दिन तो बस मैं मस्त हो गया—पर आज सोचता हूँ, वह एक बालकको दी गई थपथपी थी। अब मेरा हाल यह कि विद्यार्थी पढ़ा करते अपना पाठ, मैं सोचा करता कविताकी पंक्तियाँ, वे लिखते अपनी परीक्षाके कल्पित प्रश्नपत्र, मैं लिखता नई कविताएँ—रात दिन मुझे कविताकी धुन थी। मैंने सैकड़ों शब्दोंमेंसे चुनकर अपना उप-नाम भी रख लिया था—प्रभाकर; क्योंकि मैं अपनी दृष्टिमें उन दिनों सूर्यके समान तेजस्वी था! इस तरह कविताओंसे मेरी कापी भरती गई, पढ़ाईका चस्का कम होता गया और मैं निहायत शानके साथ जीवनमें पहली बार फेल हो गया, पर सच

नहीं, मेरी दृष्टिमें उन कविताओंका तब इतना महत्त्व था कि अपना फेल होना, मुझे जरा भी न अखरा और अपनी बैलेंसशीटको मैं लाभकी ही मानता रहा।

[२]

एक दिन मैंने उन कविताओंको एक जगह करनेके लिए स्वयं एक कापी बनाई और रंगीन कागजोंके कई फूल काटकर उसपर चिपकाये। शिशुजी अपनी कापियोंमें भूमिका भी लिखा करते थे। मैंने भी भूमिका लिखनी शुरू की, तो कलम ऐसी चली कि पूरे आठ पेज लिख गया। इन पृष्ठोंमें मेरी कविताओंकी पृष्ठभूमि और जाने क्या क्या बताया गया था। यह [illegible] स्वयं अनुभव किया कि मेरा गद्य मेरे पद्यसे तगड़ा है और इस तरह अब मैं पद्यके साथ-साथ गद्य भी लिखने लगा। इन्हीं दिनों मैंने श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का 'नंदन-निकुंज' पढ़ा, तो मैं उसकी भाषा-तरंगोंमें बह-बह गया और मेरी भाषापर उसका प्रभाव भी पड़ा—वह मंज चली और मुझे तो अपने लेख बहुत ही अच्छे लगने लगे।

[illegible] आ बरसी। मैं अब अपनी [illegible] कोई संपादक मुझे अपने [illegible] न लगने देता था। मैं बहुत साफ लिखकर अपनी रचना उन्हें भेजता। उत्तरके लिए टिकट रखता। साथके पत्रमें संपादकजीको प्रसन्न करनेके लिए भिन्न-भिन्न प्रयोग करता।

उदाहरणके लिए; मैं पत्रकी वी० पी० भेजनेको लिखता और उनके दूसरे ग्राहक बनानेका आश्वासन भी [illegible]। [illegible] प्रशंसा करता, अपने मित्रोंसे मैंने उसकी कथा-कथा

तारीफ़ की, या अपने किस भाषणमें मैंने उनका जिक्र (कोरी गप्प !) किया और उसका श्रोताओंपर क्या प्रभाव पड़ा, यह सब लिखता। बिना जान-पहचानके ही झूठ-मूठ कई संपादकोंको अपना मित्र बताता, वहाँ जो मेरी रचनाएँ छपनेवाली हैं, उनका नामोल्लेख करता, मैं आजकल अपने नगरमें साहित्यिक जागरणके लिए जो रात-दिन जी तोड़ मेहनत कर रहा हूँ, उसकी तस्वीरें खींचता, संपादकका मुझपर रौब गालिब होता तो उसकी खुशामद करता, उसे ही अपना निर्माता बताता कि कैसे उनके किस लेख-टिप्पणीसे मेरा मानस-कपाट खुल गया है और तब संशोधन करके अपने लेख छापनेकी प्रार्थना करता, उनके पत्रके जो ग्राहक मैंने बनाये हैं, उनके नंबर-पते लिखता, एजेंसीके नियम पूछता, नये लेखकोंके संबंधमें उनका कर्तव्य उन्हें बताता, अपने नगरमें होनेवाले किसी भावी महोत्सवमें उन्हें सभापति बनानेकी बात कहता, उनके नये वर्षपर उन्हें बधाई देता और संक्षेपमें उनकी हर अनुमानित कमज़ोरीपर सेक लगाता और अपनी हर कल्पित विशेषताकी घोषणाएँ छौंकता—कभी-कभी तो यह भी लिखता कि मैं शीघ्र ही स्वयं एक पत्र निकालनेका आयोजन कर रहा हूँ, जिसका पहला लेख आपसे ही लिखाऊँगा।

गर्ज़ और लिप्सामें फँसकर आदमी कितना धूर्त हो जाता है, पर यह सारी धूर्तता बेकार थी, क्योंकि इस सबका जो फल मुझे मिलता था, वह था—'रिटर्न विद थैंक्स'—अर्थात् धन्यवादके साथ मेरी रचना वापस आ जाती थी।

मैं उसे देखता, काँप उठता, दुखी होता, कभी-कभी रो भी पड़ता, मेरा दिल टूट जाता, मुझे गुस्सा आता, मैं आप ही आप गालियाँ देता, कोसता, कार्यालयमें पहुँचकर संपादकके मुँहपर उसकी दावात उलटनेके मन्सूबे बाँधता, अपनी रचना फाड़ डालता, भोजन न करता, गुम-सुम पड़ा रहता और अन्तमें फिर अपनेको समझाता, सँभालता और किसी दूसरे पत्रपर अपना निशाना बाँधता।

[३]

मेरा पहला निशाना जहाँ फिट बैठा, वे थे परम श्रद्धेय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी।

'प्रताप' में आयुर्वेदकी उन्नतिपर एक आचार्यका लेख छपा। उसपर किसी दूसरे विद्वान्‌ने एक पूरक नोट लिखा। मैं आज सोचता हूँ कि मुझे न आयुर्वेदके सींगका पता, न पूँछका, पर उन दिनों तो मैं सर्वज्ञ था। मैंने उसपर एक तीसरा लेख लिखा और 'प्रताप' में छपनेको भेज दिया। क्या कहूँ, मेरी जिंदगीका वह सबसे बेचैन सप्ताह था, क्योंकि मैंने गणेशशंकरजीकी [illegible] थी कि कलम ही तोड़ दी थी। जाने कितनी [illegible] दूसरोंसे पूछा और तब कहीं मुश्किल तमाम सोमवार आया। डाकखाने गया, प्रताप आया, बांसों उछलते दिल उसे खोला, खोजा, पर कहीं लेख न था। जीवनकी वह सबसे बड़ी असफलता थी—ऐसा धक्का मुझे फिर बादमें भी कभी नहीं लगा। धरती घूम गई; आकाश टूट गिरा और घर आया, तो हिचकियों रोया।

रोकर सो गया, सोकर उठा, तो वही उधेड़बुन। दोनों लेख पढ़कर अपना लेख पढ़ा और क्या बताऊँ, मुझे तो अपना ही लेख सर्वोत्तम जँचा। मैंने उसकी फिर नकल की और गणेशशंकरजीको एक पत्र लिखा। इस पत्रमें उनको महानताके नक्कारे थे, तो उनके सहकारी [illegible] के मारे भी थे। कहा था—वे लोग रचनाओंका महत्व [illegible] प्रसिद्ध लेखकोंका नाम देखकर ही लेख-वेख छाप दें [illegible] गया था कि इससे आपके पत्रमें धब्बा लगता है और [illegible] सात होता है। अपने लेखको पूर्ण, उपयोगी और [illegible] [illegible] अत्याचारसे बचा सकेंगे। इस समय यद्यपि [illegible]

फेल हुए विद्वान् थे, पर अपने प्रहारको पूरी शक्ति देनेके लिए लेखके नीचे लिखा गया था—लेखक कन्हैयालाल मिश्र शास्त्री।

लिफाफा भेजा, तो साँस आया—'अब देखूँगा कि ये टुटपूँजिये सहकारी कैसे मेरा लेख रोकते हैं!'

पाँचवें दिन एक कार्ड आया। छोटे-छोटे अक्षरोंमें स्वयं गणेशशंकरजीने लिखा था—तुम्हारी बातोंसे सहमत नहीं हूँ, पर तुम्हारे उत्साहकी कद्र करता हूँ। लेख ठीक करके दे दिया है, इसी अंकमें जा रहा है। मैं भविष्य-वाणी करता हूँ कि तुम शीघ्र ही एक प्रसिद्ध लेखक हो जाओगे।

रोम-रोममें खुशी फूट निकली और सोमवार तो अगला युग ही हो गया। डाकखाने गया, 'प्रताप' आया, वहीं खोला, अपना छपा नाम देखा और 'प्रताप' का वह अंक अगले सप्ताहतक अधिकसे अधिक जितने आदमियोंको दिखा सकता था, दिखाता फिरा।

मुझे आजतक खूब याद है—२८ रुपयेके टिकट खराब करनेके बाद मेरी ये पहली पंक्तियाँ छपी थीं, पर मुझे अब कोई दुख न था—मेरी रकम सूद सहित वसूल हो चुकी थी।

[४]

'प्रताप' में नाम छपनेसे [illegible] उतर गया था, वह पूरे जोरसे फिर चढ़ आया [illegible] जमानेकी एक नई तरकीब हाथ आ गई थी—'प्रताप' में आपने मेरा लेख पढ़ा होगा और इससे भी बढ़कर कभी-कभी तो यहाँतक—'प्रताप'में तो आप मेरे लेख पढ़ते ही होंगे।

अनुभवने बताया कि 'प्रताप'में लेख छपनेका दूसरे संपादकोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और इसलिए [illegible] न हुए। मैं इससे बहुत परेशान था कि मेरी कविताएँ और लेख [illegible] उत्तम हैं, तो फिर ये [illegible] मेरा [illegible] क्यों आ रहे हैं? आज सोचता

हूँ जब मनुष्यमें झूठा अभिमान जाग उठता है, तो वह कितना दयनीय हो जाता है। क्या थे मेरे लेख और क्या खाक थीं मेरी कविताएँ ?

उन्हीं दिनों मेरे साहित्यिक जीवनकी एक महान् घटना हुई कि 'माधुरी' में उर्दूके महाकवि अकबरपर एक लेख छपा और उसीमें उनका यह शेर भी—

"लगी चहकने जहाँ भी बुलबुल, हुआ वहीं पर जमाल पैदा,
कमी नहीं क़द्रदाँकी 'अकबर' करे तो कोई कमाल पैदा !"

इन पंक्तियोंने मुझे बिजलीके सैकड़ों धक्कोंसे झनझना दिया, अंक मेरे हाथसे छूट गया और मैं अपने रोम-रोमसे झंकारती यह गूँज स्वयं सुनने लगा—

"कमी नहीं क़द्रदाँकी 'अकबर' करे तो कोई कमाल पैदा !"

तीन दिन मेरी बुरी हालत रही, मैं इस नशेमें झूमता-सा रहा। मुझे ऐसा लगता जैसे मेरे भीतर हजारों दीपक जल रहे हैं और उन सबकी लौमें लिखा है—

"कमी नहीं क़द्रदाँकी 'अकबर' करे तो कोई कमाल पैदा !"

और जब मैं जरा ढीला पड़ा, तो मैंने सोचा—ओह, कमी उन संपादकोंमें नहीं; मुझमें ही है। मैं [illegible] पैदा नहीं कर सका हूँ, तभी तो वे मेरी क़द्र नहीं करते। अब मैं कमाल हासिल करूँगा और तब देखूँगा, कैसे वे मेरी क़द्र नहीं करते !

उस दिन मैंने अपनी सारी निकम्मी कविताएँ और लेख फाड़ डाले। जोश मुझमें इतना कि इनको फाड़ते समय मैंने कहा—"तुम कमाल नहीं हो, तुम घास हो, [illegible] कमालकी ही चीज़ चाहता हूँ।"

इन रचनाओंको फाड़कर मेरे मन [illegible]

सीखा वह यह है—'रचनाओंको छपाकर नहीं, फाड़कर ही नया लेखक आगे बढ़ता है!' अपने संपादकीय जीवनमें मेरी हार्दिक इच्छा रही है कि मैं हर नये लेखकके कानमें अपने अनुभवका यह महामन्त्र सुना दूँ और कहूँ कि छपाओ मत, फाड़ो!

[५]

अब मुझे कमाल करना था; पर कमाल बेचारेका कोई अता-पता मुझे मालूम न था। यह भी मेरा एक लड़कपन था, पर इसमें जोशके साथ होश भी थी, इतनी ही ग़नीमत है।

इस विचार-धाराकी पहली सफलता यह थी कि मुझे लिखनेके लिए लिखना था, छपानेके लिए नहीं, तो बेताबी मुझमें न थी।

एक दिन खेतोंपर गया, तो अजब हरियाली थी। उससे प्रेरणा मिली और हृदयेश जीकी शैलीमें मैंने एक गद्यकाव्य लिखा, कोई पेजका। आज सोचता हूँ उसमें गद्यकाव्य और स्केचका समन्वय था।

इसे लिखकर रख दिया और ३-४ दिन बाद फिर पढ़ा और इस तरह कि मैं एक संपादक हूँ और मेरा महत्त्व इस बातमें है कि इसके लेखकको मैं उसकी त्रुटियाँ बता सकूँ।

यों एक पत्रके कल्पित संपादकत्वसे मेरी संपादनकलाका आरंभ हुआ। आज सोचता हूँ, तो हँस पड़ता हूँ कि मैं उस दिन संपादककी पोज़में ही न था, वास्तवमें संपादक था। मुझे अनुभव हो रहा था कि मैं हूँ संपादक श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' और मेरे सामने ही बैठा है—यह एक नया लेखक कन्हैयालाल प्रभाकर; हुं; जिसे अभी कुछ भी नहीं आता!

मैं वह गद्यकाव्य पढ़ता जाता और उसकी त्रुटियाँ मुझे सूझती जातीं। मैं अत्यंत गौरवके भावसे उन्हें बताता जाता, पर मुझपर [illegible] कभी बेचारे लेखक पर तरस भी पड़ता —'यह लेखक है अजान, और अन-

खुदी नहीं। यों जल्दी करोगे और भरती भरोगे, तो तीन कौड़ीके रह जाओगे आप!"

आश्चर्य है कि मेरे सुझाव उपयोगी थे और उनके अनुसार मैंने उसे दुबारा लिखा, तो उसमें एक नई चमक आ गई! कोई तीन दिन बाद मैं फिर उस खेतपर गया और वहां बैठकर मैंने उस लेखको इस तरह पढ़ा कि जैसे किसी दूसरेको सुना रहा हूं, तो दो नये फल निकले। पहला यह कि खेतके वातावरण और लेखके वर्णनमें जो अन्तर था, वह मेरे सामने आ गया और दूसरा यह कि कई जगह मुझे खटका कि यहां अभी कमी है। मैंने उसे तीसरी बार लिखा, तो ये सुधार तो हुए ही, उसका अन्त भी एक नये रूपमें बदल गया और इस तरह वह लेख अब पूरी तरह खिल उठा।

अब मैंने उसे फिर अपने कल्पित संपादकको दिखाया तो उन्हें पसंद आ गया और वे उसमें कोई नया संशोधन न कर सके। लेख पास हो गया और मैंने उसे उठाकर रख दिया। छपनेको तो अब कहीं भेजना ही न था!

इसके बाद मैंने दो कहानियां लिखीं और तीन कविताएं, पर वे मुझे न जंचीं, न मेरे संपादकको, तो मैंने फाड़ फेंका उन्हें। मुझे इससे ज़रा भी दुःख न हुआ।

कोई दो सप्ताह बाद मैंने अपना तीन बार लिखा वह लेख एक मित्रको सुनाया, तो वे प्रसन्न हुए, पर मुझे कई जगह भाषामें खुरदरापन खूब अखरा, जिसे चौथी नकलमें मैंने नई चिकनाईसे ढंक दिया।

[illegible] पहुंचनेके लिए मैंने जो सीढ़ियां पार कीं, वे थीं—छपनेके लिए कभी मत लिखो, सिर्फ लिखनेके लिए लिखो।

[illegible] पढ़ो और जो कमियां दिखाई दें, उन्हें [illegible]।

[illegible] दो और खूब मांजो। मुझे लिख

बाद फिर पढ़ो और जो नई बातें सूझें—अवश्य सूझेंगी—उन्हें उसमें बढ़ा दो।

अब उसे फिर रख दो और कुछ दिन बाद उसे अपने मित्रोंको सुनाओ। वे यदि कुछ सुझाव दें और वे अपनेको जँचें, या सुनाते समय स्वयं जो नई बातें सूझें—अवश्य सूझेंगी—उन्हें फिरसे लेखमें बढ़ा दो।

यदि लिखकर पढ़ते समय ही यह सूझे कि यह कुछ नहीं है, तो उसे तुरन्त फाड़कर फेंक दो।

मैं इन सीढ़ियोंपर चढ़ा चला जा रहा था और यह अनुभव कर रहा था कि कवितामें मैं १०० फीसदी असफल हूँ और गद्यमें बराबर आगे बढ़ रहा हूँ, पर इस बढ़तमें मैं पढ़तमें पिछड़ रहा था और मध्यमाके चतुर्थ खंडकी परीक्षामें मैं इस बार भी चारों खाने चित्त रहा।

[६]

अब मैं अपने ही विद्यालयमें द्वितीयाध्यापक था और इसीमें मेरे विद्यार्थी जीवनके साथी श्री भगवत्प्रसाद शुक्ल 'सनातन' (अब स्वर्गीय) पढ़ रहे थे। मेरे ही संपर्कमें वे कविता लिखने लगे थे—वही तुकबन्दियां!

एक दिन उन्होंने मुझे इटावासे प्रकाशित 'ब्राह्मण सर्वस्व' का एक अंक दिखाया। इसमें उनकी एक कविता छपी थी—संस्कृतमें देव-प्रार्थना। यह उनका पहला प्रकाशन था, इसलिए वे भी आज नशेमें थे और यह ८-१० दिन बाद तो बोतलों पहुँच गया, जब उस कवितापर गिण्डोरीके महन्तने ५) मनिआर्डरसे पुरस्कारके रूपमें भेजे! उनका दिल बढ़ा और एक नई कविता उनकी उसी पत्रमें छपी।

मेरा एक लेख उन्होंने बिना मुझे बताये, [illegible] 'ब्राह्मण सर्वस्व' में भेज दिया और वह उसी मास छप गया। [illegible] श्री ब्रह्मदेव शास्त्री (अब स्वर्गीय) का पत्र भी आया कि [illegible] लेख लिखें। मेरी लेखन-शैलीकी प्रशंसा भी थी। संपादकोंसे प्रार्थना करनेका

तो मुझे अनुभव था, पर मेरे जीवनमें यह नई बात थी कि कोई संपादक मुझसे प्रार्थना करे। इस पत्रने मुझे फिर नशेमें भर दिया और कई दिन मैं उछला फिरा। अपने एकान्तमें कई बार मैंने कहा—ओहो, अब तो होने लगा है कमाल, और हर महीने एक लेख मेरा 'ब्राह्मण सर्वस्व' में छपने लगा।

इस बीच कमाल पैदा करनेकी एक नई सीढ़ी मैंने खोज निकाली थी, उसका उल्लेख यहीं कर दूँ। मैं दूसरे पत्रोंमें प्रकाशित किसी लेखकका कोई लेख चुन लेता। उसे कई बार पढ़ता और फिर उसे बिना देखे अपने ढंगपर लिखता—उसमें कुछ नई बात पैदा करनेकी कोशिश करता और तब उसे मूल लेखसे मिलाता और फाड़ फेंकता। इससे मेरे लिखनेका ढंग निखरता जाता और मेरे नये लेखोंपर इसका असर पड़ता।

इन्हीं दिनों एक और घटना हुई कि मेरे नगरके स्कूलमें श्री गंगाप्रसाद 'प्रेम' प्रधानाध्यापक होकर आये। बढ़े हुए बाल, खादीका कुरता, सिली हुई खादीकी धोती, हाथमें छड़ी, माथेपर चंदनकी बिन्दी और अत्यंत मधुर बोल; वे मेरे नगरमें एक नई चमक-सी साथ लिये आये।

मैं उनसे मिला, संपर्कमें आया और उनका बन्धुत्व पा गया। वे हिन्दीके श्रेष्ठ कवि; झूम-झूमकर अपनी कविताएँ सुनाते और मैं आनन्दमें डूब-डूबकर उन्हें सुनता। मेरी कविताएँ नई दृष्टिका अब काम थीं और मैं कविताके एक नये मोड़पर खड़ा था। प्रभावको ग्रहण करनेकी मुझमें क्षमता थी, कलाकी मुझे प्यास थी, प्रयत्नकी मुझे आदत थी। मैं पहलेसे बहुत सुन्दर कविताएँ लिखने लगा। मैं लिखता, वे उनमें काट-छाँट करते, वे निखर आतीं। मैं झूमकर उन्हें कवि-गोष्ठियोंमें पढ़ता और अपने कानों अपनी प्रशंसा सुनता।

अब मैं नये लिखनेवालोंके लिए ये तीन नई सीढ़ियाँ और पा चुका था—

आरम्भमें कभी बड़े पत्रोंके दरवाजे न झाँको और जब रचनाओंमें कुछ जान आने लगे, तो छोटे-मोटे पत्रोंमें ही उन्हें भेजो।

दूसरे लेखकोंके लेखोंको १-२-३ बार पढ़कर, फिर उन्हें बिना देखे, अपने ढंगपर उन्हें लिखो और तब असलसे मिलाकर देखो कि क्या कमी रह गई है और बस उन्हें फाड़ फेंको।

किसी श्रेष्ठ लेखकसे संपर्क बनाओ, उन्हें अपनी रचनाएं दिखाओ, अपनी नम्रता, अहंकार-हीनता और सेवासे उन्हें उनसे ठीक कराओ।

[७]

'ब्राह्मण सर्वस्व' में मेरे लेख क्या छपने लगे, मैं उससे लिपट ही गया। दूसरे वर्ष मैंने उसमें एक नया स्तंभ खोल दिया स्वर्ण-संकलन। इसमें मैं दूसरे पत्रोंमें प्रकाशित श्रेष्ठ लेखोंका या उनके सारांशका संकलन करता और इस तरह पत्रको अच्छी सामग्री मिल जाती। कभी-कभी छोटे नोट भी मैं लिख भेजता और वे मेरे कहनेपर बिना मेरा नाम दिये संपादकीय स्तंभमें छप जाते।

'ब्राह्मण सर्वस्व' को प्रकाशित हुए २५ वर्ष हो रहे थे। मैंने शास्त्रीजी को लिखा कि वे इस अवसरपर रजत-जयंती-अंक प्रकाशित करें। इस अंककी लेख-सूची, किस लेखकसे कौन लेख लिया जाय और लेखकोंको क्या पत्र लिखा जाय, यह सब मैंने लिख भेजा। किस सज्जनसे, किस तरह, कितनी आर्थिक सहायता मिल सकती है, यह भी लिखा।

उनका उत्तर आया कि उन्हीं दिनों मेरी पुत्रीका विवाह है, इसलिए मैं छपाईका प्रबन्ध तो कर सकता हूँ, पर संपादन मेरे बसका नहीं। मैंने उन्हें लिखा कि आप कार्य आरंभ करें, मैं पूरा सहयोग दूंगा। ऐसा अवसर फिर न आएगा, इसलिए यह विशेषांक अवश्य निकालिए।

उनका कोई उत्तर न आया, तो मैंने मान लिया कि वे तैयार नहीं, पर एक दिन डाकसे मुझे सौ-सवासौ छपे पत्रोंका एक पैकेट मिला। यह रजत-जयंती-अंकके लिए लेखकोंसे लेख माँगनेका वही पत्र था, जो मैंने शास्त्रीजीको तैयार करके भेजा था। इसपर विषय-सूची भी मेरे ही

वाली थी, पर आश्चर्य यह कि नीचे रजत-जयंती-अंकके संपादककी जगह मेरा नाम छपा था। मैं देखकर धक रह गया। यह काम मेरी योग्यता और अधिकारका कहाँ था? मैं क्या जानूं संपादन? अभी तो मैं लेखक भी न बन पाया था, पर मित्रोंने हिम्मत बँधाई और इसमें मैं लिपट गया।

एक-एक लेखकको मैंने लिखा और इतने तकाजे किये कि लेख दिये बिना पीछा ही न छोड़ा। सच यह है कि मुझपर संपादनका भूत सवार था और लेखकोंपर संपादकका भूत। कोई दो महीनेके घनघोर परिश्रमसे मैंने जो सामग्री संग्रह की, उसका बोझ ६ सेरसे ऊपर था!

अब यह अस्तव्यस्त सामग्री मेरे पास थी। पूरे एक महीने मैं उसपर फिर जुटा और उसकी एक-एक पंक्तिपर मैंने ध्यान दिया। मुझे आश्चर्य हुआ कि बड़े-बड़े लेखकोंकी भाषामें शिथिलता थी। मैंने बेधड़क होकर काट-छाँट की और तब अनेक स्तंभ बनाकर उनमें उस सामग्रीको बाँटा। हरेक स्तंभकी विषय-सूची अलग बनाई और हरेक लेख पर संक्षेपमें लेखकका परिचय अपनी ओरसे दिया। ये परिचय मेरी उस समयकी स्थितिको देखते हुए असाधारण थे—अनेक लेखकोंने उनकी प्रशंसा की थी, यह मुझे याद है।

यह विशेषांक असाधारण रूपसे सफल रहा और इसमें मेरे [illegible] खूब माना, यह सब था—परिश्रम ही इस सफलताकी कुंजी है और [illegible]। प्रतिभा कोई बड़ी चीज़ हो और वह ईश्वरके यहांसे ही आती हो, पर नये लेखकोंको उसकी अपेक्षा नहीं, अपने परिश्रमपर भरोसा होना चाहिए।

इस विशेषांकके संपादनसे हिन्दीकी दुनियामें मेरा परिचय तो बढ़ा ही, मेरा आत्मविश्वास भी दृढ़ हो गया। इसके कुछ दिन बाद मैंने 'गढ़देश' का एक विशेषांक संपादन किया और अप्रैल १९३० में तो मैं ही 'गढ़देश' का [illegible] संपादक बनाया गया। कोई ४ महीने मैंने यह काम किया और फिर मैं कांग्रेस आन्दोलनमें जेल चला गया।

यहाँ तक आते-आते मैंने यह समझ लिया कि मेरा मन कवितामें नहीं उतरता और कविताको नमस्कारकर मैंने उसका लिखना ही बन्द कर दिया। इससे मुझे यह लाभ हुआ कि मेरा सारा ध्यान एक तरफ सिमट आया और इस तरह कमाल पैदा करनेका यह एक नया सूत्र मेरे हाथ लगा—कभी फालतू चीज न लिखो, वही लिखो जिसमें पूरा मन लगे, पूरा रस मिले और पूरी डुबकी आये।

[८]

अब मैं अपने साहित्यिक जीवनके चौराहेपर था। १९३२की जेल-यात्रामें मुझे बहुत ऊँचे मनुष्योंका संपर्क मिला और मैंने इस बीच काफ़ी पढ़ा भी। इस जेलयात्रामें मेरे साहित्यिक जीवनमें जो नई बात हुई, वह थी यह कि सहारनपुर जेलके खेतोंपर बैठ कर मैंने अपने पिताके संस्मरण लिखे, कोई ६०-७० पेजोंमें और फैजाबाद पहुँचकर कुछ ऐसे लेख लिखे, जिन्हें बादमें श्री बनारसीदास चतुर्वेदीने स्कैच बताया। एक तस्वीरके दो पहलू और मोती इनमें मुख्य हैं। इस तरह मेरी कलमको एक नई सूझ मिली। मैं इसे यों कहता हूँ कि मेरा कवित्व मेरे गद्यमें ही समा गया। जेलमें लंबी बीमारीके कारण मुझे जो एकान्त मिला, उसमें मैंने यह निश्चय किया कि मैं एक मिशनरी पत्रकारके रूपमें ही अपनी सर्वोत्तम शक्तियोंका राष्ट्रके लिए उपयोग करूँगा; क्योंकि प्लूरिसीने मुझे देहातोंकी दौड़-धूपके लिए अयोग्य ही कर दिया था और साहित्य-विहीन राष्ट्रसेवा तो मेरे लिए सदासे ही अभिशाप-सी थी।

वहीं जेलमें एक दिन [illegible] 'प्रताप'-संपादक पंडित [illegible] 'नवीन' से [illegible] जेलसे छूटकर आपके 'प्रताप' [illegible]।" [illegible] प्रति [illegible] एकस्वरसे बोले—"[illegible]!"

मुझे [illegible]—"[illegible] जी?" बोले—"वहां रहोगे, तो हम तुम्हें खा जायेंगे?" [illegible]

बिना किसी प्रश्नके एक प्रश्न-चिह्न ही बन गया, तो बोले "हाँ हाँ, पुराना नियम है कि बड़ी मछली छोटी मछलीको खाकर पनपती है। 'प्रताप'में तुम आओ, बहुत खुशी, पर इससे हम पनपेंगे, तुम रल जाओगे। तुम एक स्वतन्त्र पत्रकारके रूपमें सामने आओ। मैंने खूब देख लिया, तुममें इतनी शक्ति है कि सफल हो जाओ।"

मेरे भावी जीवनमें पत्रकार कलाका जो रूप प्रस्फुटित हुआ, उसकी नींव फैजाबाद जेलमें नवीनजीकी इसी इण्टरव्यूने रखी थी, यह स्मरणकर मैं उनका सदा ही मन मन अभिनन्दन किया करता हूँ।

अपने स्कैच और संस्मरणोंकी कलमको माँजनेमें मैंने बहुत परिश्रम किया। पहले तो मैंने यह अध्ययन किया कि किस बड़े लेखकमें क्या विशेषता है और फिर यह कि मैं अपनी कलममें उन विशेषताओंका कौन-सा अंश ले सकता हूँ। मुझपर चार लेखकोंका प्रभाव पड़ा। सबसे अधिक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदीका और उसके बाद पं० श्रीराम शर्मा, श्री इन्द्र विद्या-वाचस्पति और श्री रामनाथ 'सुमन'का। श्री चतुर्वेदीजीका आरंभ मुझे गजबका लगा। शर्माजीकी प्रवाह-शक्ति और चित्रण, सुमनजीके विश्लेषण-कौशल और इन्द्रजीकी शृंखलाके सामने मेरा सिर झुक गया।

इस अध्ययनकी छायामें मैंने कोई १०० तरहसे स्कैच और संस्मरण लिखे होंगे। लिखे, काटे, फिर लिखे और फाड़े। एक लेखको अधिकसे अधिक १४ बारतक मैंने हट-हटकर लिखा, यह मुझे याद है।

इस तरह मैं अच्छे स्कैच और संस्मरण लिखने लगा और कमाल पैदा करनेका एक नया सूत्र मैंने रचा—अपनी कमियोंपर हमेशा आँख गड़ाये रखो और दूसरोंकी उन विशेषताओंपर गहरा ध्यान दो कि जिनसे उन्हें यश और सम्मान मिले। तब उन विशेषताओंको [illegible] प्रयत्न करके इस तरह लो कि वे भद्दे पैबन्द होकर नहीं, [illegible] तुममें समा जायें।

[९]

श्री विश्वम्भर प्रसाद शर्माने सहारनपुरसे अपना साप्ताहिक 'विकास' प्रकाशित किया, तो कुछ जिम्मेदारियाँ मुझे भी सौंपी। हर सप्ताह में उसमें कुछ लिखता रहा, पर उसके 'आर्यसमाज' अंकके काममें हाथ बटानेको मैं सहारनपुर क्या आया, बस 'विकास' का ही हो गया। यह १९३३ की बात है।

१९३४ में 'विकास' को एक लिमिटेड संस्थाका रूप दे दिया गया और यह निश्चय हुआ कि पाँच महीनेके लिए 'विकास' का प्रकाशन स्थगित करके संस्थाके हिस्से बेचने और अपना प्रेस लगानेमें परिश्रम किया जाय।

इन पाँच महीनोंमें मैं घूमते-घूमते बराबर जिस बातको सोचता रहा वह यह थी कि 'विकास' अब कैसा निकले? उसमें क्या क्या रहे? कैसे वह आदर्श साप्ताहिकका रूप ले? और कैसे वह लोकप्रिय हो?

मेरी परेशानी यह 'लोकप्रिय' था। यदि पत्रको अश्लील कहानियों, सस्ते वाद-विवादों और इसी तरह दूसरी सामग्रीसे सजाया जाय, तो पत्र-तुरन्त लोकप्रिय हो सकता है, पर इस स्थितिमें मेरे लिए उस पत्रसे अपना संबंध रखनेका क्या अर्थ? मेरी तो रग-रगमें गुलामीकी पीड़ा थी, स्वतन्त्रताकी आग थी, मैं नौकरीके लिए तो पत्रकार बन न रहा था!

तो वह रास्ता मुझे न चलना था। दूसरा मार्ग

को ऊँचे और आदर्श विचारोंसे भरें और उसमें अपना आत्माका श्रमदान दें। यह रास्ता ठीक था, पर इसमें दिक्कत यह थी कि इस तरहके पत्र का कोई ग्राहक न था। यदि अपनी शक्तिके भरोसे हम उसे घाटेपर भी चलानेको तैयार हों, तो उससे हमारा यह लक्ष्य कहाँ पूर्ण होता था कि जनतामें जागृति हो, नये विचार फैलें?

सारे-सारे दिन मैं इस प्रश्नको सोचता रहता और रातको तारोंकी ओर ताकते-ताकते भी! मुझे सपनोंमें भी यही उलझन रहती। मैं परे-

शान था और जब मुझे कुछ न सूझता, तो ऊबकर मैं सोचता—"छोड़ो जी, यह कलमका काम; चलो देहातमें कहीं आश्रम बनाकर बैठें और भावी क्रान्तिकी तैयारी करें।"

पूनोकी चाँदी भरी रातमें एक दिन मैं नहरपर जा लेटा और निश्चय कर लिया कि इस प्रश्नका निपटारा करके ही उठूँगा। मैं सोचता रहा। अचानक मेरा ध्यान नहरकी धारापर जा टिका। लहरें भी हैं, सरसता भी है, प्रवाह भी है, सन्तुलन भी है और गहराई भी। मुझे ऐसा लगा कि यह नहर मेरे भीतर बह रही है और मैं उसमें तैर भी रहा हूँ। तल्लीनताकी इसी तैराईमें अचानक चाँद-सा चमकता एक प्रश्न मेरे मनमें उभरा—क्या लिखनेकी कोई ऐसी शैली नहीं हो सकती, जिसमें लहरें भी हों, सरसता भी हो, प्रवाह भी हो, सन्तुलन भी हो और गहराई भी?

प्रश्न क्या मनमें उभरा मैं ही उभरकर बैठ गया। मुझे राह मिल गई थी। मैंने सोचा—मैं ऐसी शैलीपर लिखूँगा, जिसमें यह सब हो और इस तरह हम जनताको वह देंगे, जिसकी उसे जरूरत है, पर इस ढंगपर कि वह उसे ले सके, पचा सके, बिना कोई बोझ भार उठायें। संक्षेपमें, ज्ञान उपनिषद्का, पर अभिव्यक्ति लोरियोंकी।

मुझमें इतना उल्लास था कि लगा—मैं नहरमें तैरता हुआ ही तीन मील दूर अपने घर पहुँच गया हूँ।

प्रयोग आरंभ किये। नहीं लिखना, काटना, बार-बार पढ़ना और फाड़ना। कोई १०-१२ लेख फाड़नेके बाद मैंने एक लेख लिखा—आग लगानेकी कला। इसका आरंभ [illegible] घटनासे हुआ था और इस तरह यह शैली आप [illegible]।

यह कुछ दिन बाद 'विकास' में छपा, तो [illegible] उल्लेख किया—'भाई प्रभाकर, तुम [illegible]। मैं तो [illegible] ही लिखता था, तुमने [illegible] पर

लिखा।" विश्वके सर्वश्रेष्ठ महापुरुषके इस आशीर्वादको पा, मैं और किस क़द्रदाँकी प्रतीक्षा करता। मुझे सब कुछ मिल गया था।

तबसे मैं इस ढंगपर नये-नये प्रयोग करता रहा और १९५०में आकर मुझे लगा कि मैं अब अपनी जगह आ गया हूँ। १९३५ से १९५० तकके इन १५ वर्षोंमें मैं अपने स्कैच और संस्मरणोंमें भी नये प्रयोग करता रहा और बराबर उन्हें नई चमक देता रहा।

इस तरह अनजाने ही इन लेखोंमें स्कैचकी चित्रता और संस्मरणकी आत्मीयता भी आती गई और अब हिन्दीके वन्दनीय विद्वान् कहते हैं—यह एक नई शैली है। इस संकलनके लेख इसी शैलीके हैं।

इन लेखोंके साथ इस संग्रहमें कुछ 'रेडियो टाक' भी हैं। इनकी शैली बातचीतकी है और मुझे आशा है कि पाठक उन्हें अपने साथ ही लेखककी बातचीत अनुभव करेंगे। यही इनकी विशेषता है। इन्हें लिखानेका श्रेय आलइण्डिया रेडियो नई दिल्लीके अधिकारियों और साथियोंको है और निश्चय ही मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

इन रचनाओंके सम्बन्धमें मैं क्या कहूँ; सिवाय इसके कि यह संचित रत्न है, जो आज पाठकोंको भेंट कर रहा हूँ अपने फक्कड़ जीवनमें इसके सिवाय मैंने और कुछ भी तो संचय नहीं किया।

विकास लिमिटेड
सहारनपुर : उत्तर प्रदेश
गान्धी जयन्ती १९५३

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

एकताके उन प्रतिनिधियोंको

- मनुष्य जंगलमें जन्मा, वहीं पनपा और रहता रहा। कुछ पेड़, कुछ झरने, कुछ कन्दराएँ, बस, यही इतनी-सी उसकी दुनिया !
- गुट बने, कबीले आए, गधे-घोड़ोंका उपयोग हुआ और मनुष्यकी दुनिया कुछ चौड़ी हो गई !
- यों ही वह नगर और प्रदेशको पार करता देशवासी हुआ—देशकी सीमा तक फैल गया !
- भारतके भिक्षुओं, हुएनसांग-जैसे यात्रियों और कोलम्बस-जैसे वीर खोजियोंकी जय; कि वे मनुष्यको विश्वका नागरिक बना गये !
- भारतके ज्योतिषाचार्योंका अभिनन्दन कि उन्होंने धरतीपर जीते-जागते मनुष्योंको आकाशका परिचय ही नहीं दिया, उसके साथ उनका जीवन-सूत्र भी जोड़ दिया !
- क्या मनुष्यकी यह यात्रा यहाँ पूर्ण हो गई ?
- ना, यह यात्रा तब पूर्ण होगी, जब धरतीके मनुष्यका आकाशके वासियोंसे, लोकका परलोकसे सीधा, साक्षात् और साधारण—आना-जाना, मिलना-जुलना—सम्बन्ध जुड़ जाएगा !
- और तभी किसी दिन होगा यह भी सम्भव कि इस लोककी होगी कोई कन्या और उस लोकका कोई कुमार और वे दोनों परस्पर विवाह-सूत्रमें बँध लोक-परलोककी एकताके प्रतिनिधि होंगे। तब लोकके लिए परलोक न भयका कारण रहेगा न प्रलोभनका !
- बस, यही यह ग्रन्थ, हृदयके सम्पूर्ण प्यार और सुखके साथ उसी दम्पतिको सादर समर्पित !

क० ला० 'प्रभाकर'

धोखेबाज़को प्रणाम !

उस दिन जीवनमें एक घटना हुई । घटना अपनेमें इतनी साधारण है कि उस पर कोई ध्यान न दिया जाए, तो उसकी यह उपेक्षा किसी अपराधके दर्जेमें खींच-तान कर भी दर्ज नहीं की जा सकती ।

सरदियोंमें श्रीमती विद्यावती कौशल बीमार हुईं, तो सैप्टिकके भयंकर प्रकोपको रोकनेके लिए उन्हें पैनिसिलीनके इन्जैक्शन दिये गये । पैनिसिलीन गर्मीमें ही रह सकती है, इसलिए मैंने अपना बड़ा थर्मस उनके घर भेज दिया । वे अच्छी हो गईं, पर थर्मस वहीं रहा ।

गरमियाँ आईं, तो बर्फ रखनेके लिए मुझे थर्मसकी ज़रूरत पड़ी । मँगाया, तो उत्तर मिला कि उसे तो तभी कुछ दिन बाद तुम्हारा आदमी ले गया था । सबसे पूछा, पर थर्मस लानेवाला मेरा कोई आदमी मुझे न मिला । मुझे यह सब अच्छा न लगा, बुरा ही लगा; क्योंकि मैं इसे अब अपने साथ एक भद्दी मजाक समझ रहा था ।

मैं एक दिन स्वयं माँगने गया, तो उनका गम्भीर उत्तर मिला—
"[illegible] ।"

गई बात और गई चीज़ पर अफसोस करना मेरे स्वभावके विरुद्ध है, इसलिए मन ही मन उस धोखेबाज़ नौजवानको कुछ गालियाँ दे, थर्मस मैंने गया मान लिया और यह फाइल खत्म कर दी ! मुझे थर्मसकी बेहद ज़रूरत थी, बाज़ारमें नया थर्मस दूकानोंपर देखनेको भी न था—लड़ाईके दिनोंकी बात है—[illegible] क्या ?"

[illegible] दिन [illegible] कहा—
"तुम्हारा थर्मस मिल गया । वह [illegible] आया था; आपको लायेगा थर्मस !"

फिर धोखेसे "मेरा थर्मस वह शैतान ले ही क्यों गया था ?" आश्चर्यसे मैंने पूछा, तो करुणाके बोझसे दबी-सी वे बोलीं—"उसकी पत्नीको भी मेरी तरह भयंकर सैप्टिक हो गया था और उसे भी पेनिसिलीनके लिए ही थर्मसकी ज़रूरत थी। वह शहरके कई बड़े आदमियोंके पास गया, पर उस ग़रीबको किसीने भी दो दिनके लिए अपना थर्मस नहीं दिया। अन्तमें वह डाक्टरके पास जाकर रोया—उसकी पत्नीकी हालत पल-पल ख़राब हो रही थी। डाक्टरने उसे बताया कि तुम्हारा थर्मस हमारे घर आया था। वह दौड़ा-दौड़ा तुम्हारे पास गया, पर तुम घर पर न थे। अब उसके सामने भयंकर घड़ी थी। बस, उसने आख़िरी दाव लगाया कि वह हमारे घर आया और झूठ बोलकर थर्मस ले गया। उसकी पत्नी बच गई, पर तभी वह उसे लेकर बाहर चला गया। पत्नी अब बिल्कुल अच्छी है और वह उसे लेकर अपने घर लौट आया है।"

साथ ही यह भी—"वह झूठ बोलनेके लिए माफ़ी माँग रहा था और बहुत-बहुत हाथ जोड़ रहा था। कहता था—बीबीजी, आपके थर्मसने मेरा घर उजड़नेसे बचा लिया।"

शामको सचमुच वह मेरा थर्मस उन्हें दे गया !

अब मेरा थर्मस मेरे पास और मैं स्वयं दो प्रश्नोंके बीच। ये दोनों प्रश्न जानता हूँ मेरे हैं, पर लग रहा है कि मुझसे ये अपना समाधान भी माँग रहे हैं। पहला प्रश्न यह है—जिन मनुष्योंने संकटकी उन हृदयवेधक घड़ियोंमें भी, घरमें थर्मस रहते उसे मना कर दिया या टाल दिया, उनमें और भेड़ियोंमें क्या अन्तर है ? और जैसे मैं स्वयं अपनेसे आप ही कह रहा हूँ—यह हमारे सामाजिक विधान [illegible], धनके व्यक्तिगत प्रभुत्वका, अभिशाप है कि एकको अपने पास फालतू थर्मस रखनेका भी अधिकार है और एकको अपनी पत्नीकी मृत्युका भय सामने रहते भी [illegible] लिए पानेका अधिकार नहीं।

दूसरा प्रश्न यह—क्या उस तरुणने थर्मसके लिए झूठ बोलकर पाप

किया ? निश्चय ही उसने झूठ बोला और झूठ बोलना पाप है। मैं चाह रहा हूँ कि कहूँ—हाँ, उसने पाप किया है, पर साहस मेरा साथ नहीं दे रहा है कि मैं सुगमतासे हाँ कह दूँ ! यहीं तक नहीं; वह विद्रोही होकर कहना चाह रहा है कि कहूँ—यह पुण्य है।

बात यह है कि पण्डा-पुजारियोंके उस पाप-पुण्यमें मेरा विश्वास नहीं है, जो स्वर्गका बुकिंग-आफिस या नरकका पासपोर्ट है। हाँ, चरित्रके उत्थान-पतनमें मैं विश्वास करता हूँ और यही यह भी कि मैं उस नौजवानके इस कार्यको चरित्रकी ऊँचाई ही मानता हूँ, पतन नहीं। निराशा, घबराहट और अवसादकी उन घड़ियोंमें सूझकी स्फूर्तिको जागृत रखना, उस समय भी अदीन और अभय रहना, यदि चरित्र नहीं है, तो मेरी दृष्टिमें फिर चरित्र और कुछ नहीं है !

मेरे निकट इस घटनाका एक पहलू और भी महत्त्वपूर्ण है कि वह अशिक्षित और निर्धन युवक समाजके अनेक प्रतिष्ठित पुरुषोंके दुर्व्यवहारकी प्रतिक्रियासे बच पाया। इतने बड़े मायाचक्रसे वह कैसे बच पाया, यह स्वयं अपनेमें विस्मयका एक मायाचक्र ही है। उसे कई धर्मसपतियोंने धर्मस नहीं दिया; यह जानकर भी कि उसकी पत्नी पल-पल मृत्युकी ओर बढ़ रही है, इस घटनाकी यह प्रतिक्रिया क्या कुछ अस्वाभाविक होती कि अब वह स्वयं ही धर्मसपति बना रहता ?

[illegible] उसने सब [illegible] एक ही गजसे [illegible] से चाहे जितना [illegible] हो, पर [illegible] प्रति [illegible] अचीन रही।

[illegible] अन्तरमें अनजाने समाई भारतीय संस्कृतिका [illegible] था !

मेरा धर्मस अब मेरे पास था और मैं [illegible] रहा था। क्या मेरी प्रसन्नताका आधार यही था कि [illegible]

गया ? ना, मेरी प्रसन्नता इतनी दूकानदार कभी नहीं हुई। इस घटनामें मानवताका जो स्पर्श है, मुझे तो उसीने पुलकित कर दिया है। यह जीवनप्रद पुलक न जाने कब-कब तक एक मधुर स्मृतिके रूपमें मुझे सुख देगा।

इस पुण्य पुलकके स्रष्टा उस धोखेबाजको मेरा प्रणाम !

मैं और मेरा घर !

मैं जब लिखते-लिखते खिड़कीसे बाहर दाहिने हाथकी तरफ झाँकता हूँ, तो एक ऊँचा मकान दिखाई देता है। कई मंज़िले हैं, जिनमें छोटे-बड़े कमरे हैं, बरामदे हैं, स्नान-गृह हैं, शौचालय हैं। इन कमरोंमें पुरुष हैं, स्त्रियाँ हैं, बालक हैं, हमेशा यहाँ रौनक रहती है। यह एक होटल है।

मैं लिखते-लिखते जब अपनी खिड़कीसे बाँये हाथकी तरफ झाँकता हूँ, तो एक ऊँचा मकान दिखाई देता है। कई मंज़िले हैं, जिनमें छोटे-बड़े कमरे हैं, बरामदे हैं, स्नानगृह हैं, शौचालय हैं। इन कमरोंमें पुरुष हैं, स्त्रियाँ हैं, बालक हैं, हमेशा यहाँ चहल-पहल रहती है। यह एक धर्मशाला है।

मैं लिखते-लिखते अपनी खिड़कीके पास बैठा अपने ही चारों ओर जब देखने लगता हूँ, तो देखता हूँ, यह है एक ऊँचा मकान। कई मंज़िलें हैं, जिनमें कमरे हैं, बरामदे हैं, स्नानगृह हैं, शौचालय हैं। इन कमरोंमें पुरुष हैं, स्त्रियाँ हैं, बालक हैं। यह एक घर है।

जाने कितने दिनोंसे मैं इस खिड़कीके पास बैठकर लिखता हूँ और न जाने कितनी बार इन तीनों मकानोंपर मेरा ध्यान जा चुका है, पर उस दिन [illegible] आँगनमें एक सवाल उछलकर खड़ा हो गया। ये तीनों [illegible] मकान [illegible] दीवारोंसे बने, [illegible] हैं और इनमें वही स्त्री-पुरुष-बालक रहते हैं। फिर यह क्या बात है कि इनमें एक है होटल, एक है धर्मशाला, एक है घर? तीनोंमें लोग रहते हैं, खाते-पीते हैं, जीवन [illegible] हैं, फिर ये तीनों ही घर क्यों नहीं हैं?

आज सोचता हूँ, [illegible] और यह [illegible] नहीं; यह [illegible] ही मेरे जीवनकी [illegible] है।

"हूँ, सोचना ही जीवनकी चरितार्थता है। यार, तुम भी फुलझड़ियाँ खूब छोड़ते हो। दार्शनिकोंसे सुना था कि मुक्ति ही जीवनकी चरितार्थता है और कंजूसोंसे सुना था कि धन ही जीवनकी चरितार्थता है, पर आज आपसे नई बात मालूम हुई कि दार्शनिक और कंजूस दोनों ही जीवनके जंगलमें भटक रहे थे और उसे ठीक-ठीक अब आपने समझा है। मगर भाई, एक बात है कि इस समझको मजबूत चमड़ेके बटुएमें जरा बन्द रखा करो। बात यह है कि अगर यह यूं ही खुली रही और इसकी 'सर्चलाइट' बाहर जरा ज्यादा फैल गई, तो आज, कल, परसों, यानी एक न एक दिन, देर-सबेर आप हमारे देशके किसी पागलखानेको रौनक बख्शते नज़र आयेंगे !"

"जी, मैं किसी दिन क्या आज ही और इसी समय, जरा खुश हो जाइये, हाँ, हाँ देख क्या रहे हैं, मुस्कराइये साहब, मैं अपनेको पागल माने लेता हूँ।"

"वाक़ई तुम हो बड़े भले आदमी, बड़ी जल्दी मान गये हमारी बात !"

"जी, आपकी नहीं, संस्कृतके एक पुराने कविकी बात !"

"वाह-वाह, यह नई धुरपट जोरदार रही कि बात कही हमने और आप मान गये संस्कृतके एक पुराने कविकी, जो पता नहीं जीता है या मरकर एक नया जन्म भी ले चुका।"

"आप ठीक कहते हैं, जिस कविकी बात मैं अभी-अभी मान गया हूँ, वह उससे पहले ही मर गया था, जब आप इस धराधामपर उतरे।"

"अच्छा यह बात है, तो बताइये कि कौन-सी बात मान गये आप उस संस्कृत कविकी।"

"जी, उस संस्कृत कविने कहा है कि जो अरसिकके सामने रस बखेरे वह पागल, यानी लोकभाषामें, जो भैंसके आगे बीन बजाये वह बेवकूफ़।"

"ओहो, तो हम अरसिक हैं और आपने यह कोई [illegible] गाली [illegible] थी। खैर साहब, गाली भी आप दे चुके और हमने सुन भी ली, पर इस गालीकी व्याख्या तो आप कर ही दीजिये।"

"व्याख्याकी इसमें क्या बात है ? आप जानते हैं मैं एक पत्रकार हूँ और मेरा काम स्वयं सोचना और लोगोंको सोचनेमें मदद देना है। एक पत्र-कारके नाते मेरे जीवनकी यही चरितार्थता है। आप इस मामूली और सीधी-साफ़ बातको सुनकर दार्शनिक और कंजूसोंके छौंक लगाने लगे।"

"ख़ैर साहब, हमारी बात छौंक ही सही। आप यह बताइये कि अपनी खिड़कीसे उन ऊँचे मकानोंको देखकर आपने क्या सोचा; यानी फिरसे आप अपनी बात जारी कीजिये।"

"अब आप आये हैं रंगतपर, तो सुनिये। मैंने उन तीनों मकानोंको देखा और बार-बार सोचा कि ये तीनों घर क्यों नहीं हैं ? सोचते-सोचते मैं समझ पाया कि ईंटोंकी दीवारोंसे घिरे स्थानमें एक साथ बहुतसे स्त्री-पुरुषोंके रहने, खाने-पीने और बातचीत करनेसे ही घर नहीं बनता, क्योंकि इन रहनेवालोंके जीवनमें परस्पर कहीं कोई एकसूत्रता नहीं है और एक-सूत्रता ही घरकी कुंजी है।

इस कुंजीको मैंने जब अपने मनमें घुमाया-फिराया, तो मुझे लगा कि घरके दो भाग हैं—एक मैं और दूसरा मेरा घर। 'मैं' का अर्थ है घरका एक आदमी और 'मेरा घर' का अर्थ है बाकी सारा घर। जहाँ एकका अनेकसे आत्मीय संबंध है, जहाँ एक बाकी दूसरोंके लिए कुछ करता है और बदलेमें कुछ उनसे पाता है, जहाँ हर एकके कुछ अधिकार हैं और कुछ कर्तव्य हैं, वह घर है।

हम जिस समाज-व्यवस्थामें हजारों सालसे जी-पल रहे हैं, वहाँ घर हमारे विशाल जीवनका पहला घटक, पहली यूनिट है और हम उसे ठीक [illegible] लें, तो [illegible] सकते हैं। ठीक रखनेकी कुंजी है [illegible]।"

"हूँ, तो क्या हैं वे बारीकियाँ ?"

"आप [illegible]। अर्थ है कि आपने मेरी ही दिशामें [illegible] मैं भी यही बात है कि

वहाँ हर आदमी अपनी ही सोचे और अपनी ही कहे, तो प्यारका, एकसूत्रता-का, एकात्मताका, एकरसताका शीराजा बिखरने लगता है।

तो सुनिये फिर अब। एक महत्त्वाकांक्षी मनुष्यने कहा था कि मुझे दुनियासे बाहर एक पैर रखनेको कहीं जगह मिल जाए, तो मैं इस दुनियाको हिला सकता हूँ। उसकी यह चाह सैकड़ों साल काग़ज़ोंमें लिखी पड़ी रही और तब हमारे देशके महान् सन्त स्वामी रामतीर्थने इसका उत्तर दिया—"वह जगह तुम्हारे ही भीतर है—तुम्हारी आत्मा; जहाँ खड़े होकर तुम इस दुनियाको हिला सकते हो।"

यह तो हुई तत्त्वज्ञानकी बात, पर इसका एक सांसारिक रूप भी है कि हमारा जीवन एक युद्ध है, एक संघर्ष है। आजकी परिस्थितियोंने इस संघर्षको कहीं कड़वा कर दिया है और कहीं उदास, इसलिए आज हमारे लिए जीवनकी समता और सन्तुलनको बनाये रखना कठिन हो गया है, पर यह न हो, तब भी जीवन एक संघर्ष है और संघर्षसे बचना मनुष्यका स्वभाव है।

इस संघर्षमें फँसकर जो दो प्रश्न हमारे सामने आते हैं, उनमें पहला यह है कि किसके लिए जियें? और दूसरा प्रश्न यह है कि किसके दम जियें? पहलेका अर्थ यह है कि हम इस संघर्षमें किसके लिए पड़ें? क्यों पड़ें? यह जीवनकी दिलचस्पीका प्रश्न है। दूसरेका अर्थ है कि हम इस संघर्षमें पड़ें तो सही, पर जहाँ हम थोड़े घबरायें, वहाँ कुशल पूछनेवाला कौन है? यह जीवनकी शक्तिका प्रश्न है। दोनोंका उत्तर है—घर!

घरका कार्य है—जीवनमें अपने प्रत्येक सदस्यकी दिलचस्पी पैदा करना और उसे शक्ति देना। तो इसका अर्थ हुआ कि मेरा यह अधिकार है कि मैं घरसे जीवनकी दिलचस्पी और शक्ति लूँ और मेरा यह कर्तव्य है कि उसे ऐसा बनाये रखूँ कि वह जीवनकी दिलचस्पी और शक्ति दे सके! असलमें जीवनका सबसे बड़ा प्रश्न ही घर बनाने और [illegible] प्रश्न है और यही हमारी मनुष्यताकी कसौटी है।"

"यह कैसे ?"

"ओहो, तो जाग रहे हैं आप। मैंने तो समझा था कि बात करते-करते सो गये। आपका प्रश्न है कि कर्तव्य और अधिकारका प्रश्न हमारी मनुष्यता-की कसौटी कैसे है ?

"बात यह है कि हम राक्षसोंकी कहानियाँ सुनते हैं, पशुओंको देखते हैं और मनुष्य तो खुद हैं ही, पर एक सच्चाई यह भी है कि हम ही राक्षस हैं, हम ही पशु हैं, हम ही मनुष्य हैं।"

"यह किस तरह ?"

"यह इस तरह कि हम यह समझ लें कि ये तीनों ही भावनाएँ हैं ! उदाहरणके लिए, जो जीवनमें दूसरोंके प्रति अपने अधिकार तो मानता है, पर कर्तव्य नहीं, वह राक्षस है। इसका अर्थ हुआ कि राक्षस यह मानकर चलता है कि दूसरे मेरे लिए हैं, मैं दूसरोंके लिए नहीं। जो इस तरह जीता है, वह रावणका खानदानी हो या रामका, निश्चित रूपसे राक्षस है।

जो जीवनमें दूसरोंके प्रति न अपने अधिकार मानता है, न कर्तव्य, वह पशु है। पशु यह मानकर चलता है, जाने या अनजाने कि न कोई मेरे लिए है, न मैं किसीके लिए। घर ही वह निर्माणशाला है, जो हमें राक्षस और पशु होनेसे बचाती है और मनुष्य बनाती है, क्योंकि यहाँ हम दूसरोंके लिए जीते हैं और दूसरोंके बल जीते हैं। मैं क्या लूँ और क्या दूँ, इन दो प्रश्नोंका समन्वय ही घरकी सफलता है।

मैं प्रातःकाल घरसे निकला था। दिनभर संघर्षमें रहा, जो मिला उसीने कुछ माँगा, कुछ लिया। गलियोंमें देनेवाले कहाँ मिलते हैं ? वे तो माँगनेवालोंसे ही भरी हैं। इन माँगनेवालोंमें ऐसे भी हैं, जो चूँसते हैं, ऐसे भी हैं, जो मनोंते हैं और ऐसे भी हैं जो लूटते हैं। तो दिन भर माँग सुनता, पूरा करता और लुटता रहा और अब जो सूर्य ढलावपर है, तो मैं थकावपर हूँ। अब न माँग सुननेकी शक्ति है और न लूट सहनेकी। मेरे सारे मानसिक क्रियाकलाप बन्द हो गये हैं। फिर भी माँग नहीं सुन सकता,

उसे भिखारी, क्यों बुलाये ? जिसे चूँटा या खसोटा नहीं जा सकता, उससे उचक्कोंका क्या काम ? जिसे लूटना नहीं है, उसे पास बुलाकर लुटेरे क्या करेंगे ? तो अब बाहर गलियोंमें मेरी किसीको जरूरत नहीं। फिर मैं कहाँ जाऊँ ? यह मेरे रोम-रोमकी पुकार है और इस पुकारका उत्तर है—घर; मैं घर जा रहा हूँ। मेरा अधिकार है कि मैं जब इस हालतमें घर पहुँचूं, तो हँसते होठ और प्रतीक्षा करते नेत्र पाऊँ, क्योंकि इन दोनोंमें दिवालियेको फिरसे समृद्ध करनेकी शक्ति है।"

"हाँ, ठीक है, घर इस शक्तिका केन्द्र है। मैं इसे मानता हूँ, पर इस माननेके पास ही एक खतरा खड़ा है और वह खतरा यह कि मेरी माँग इस शक्तिको निस्सीम मानकर स्वयं भी निस्सीम न हो उठे। यह खतरा इसलिए है कि मेरा यह तर्क है कि आज इस समय घरकी जो शक्ति है, वह सबके लिए है और यह संभव है कि वह आज इतनी न हो कि सबको सब कुछ भरपूर मिल सके, और उसका भागके अनुसार बटवारा करना आवश्यक हो। इस दशामें मेरा अपने भागसे अधिक लेना, यह अर्थ रखता है कि कोई न कोई बिना लिये रह जाए और कौन जाने वह रह जानेवाला भी इसी दशामें हो, जो इस समय मेरी है।"

अबतक जो सोचा, जो कहा, जो कहना है, उसे मैं समेटूँ, तो यह हुआ कि मेरा—घरके प्रत्येक सदस्यका, यह अधिकार है कि वह घरको पूर्ण करनेमें अपनी शक्तिका अधिकसे अधिक भाग दे और यह कर्तव्य है कि वह शक्तिका उतना ही भाग ग्रहण करे, जो घरके दूसरे लोगोंको उनका भाग न्यायपूर्वक देनेके बाद अपने लिए बचे। मैं ऐसा करूँ, तो इसका अर्थ होगा कि मैं एक मनुष्य हूँ।

इसे और भी थोड़ेमें कहना चाहूँ, तो यों कहूँगा कि घरकी सफलताका सबसे बड़ा शत्रु है यह भाव कि मैं लेनेमें उदार और देनेमें कंजूस रहूँ।

हमारी बोलचालका एक शब्द है ग़लतफ़हमी। इसे ठीक समझनेके लिए हमारे दैनिक-जीवनकी एक कहानी सुनिये—

किसी शहरमें एक सेठजीने अपने रहनेके लिए एक शानदार भवन बनवाया। एक दिन सेठजी अपने छज्जेपर खड़े थे कि उधरसे दो किसान निकले। मकानको देखकर एकने कहा—यह मोर बहुत सुन्दर है। दूसरेने दो उंगलियाँ उठाकर कहा—मोर तो दोनों तरफके ही अच्छे हैं।

किसानकी दो उंगलियाँ देखकर सेठजीको ताव आ गया और वे झपटे-झपटे भीतर जाकर सेठानीको दो उंगलियाँ दिखाकर बोले—"मैंने तो दो मोर बनवाये हैं चार हज़ार रुपये खर्च करके, पर यह किसान दोनोंकी क़ीमत दो हज़ार ही बताता है।"

उसी दिन प्रातः सेठजीने सेठानीको चार चूड़ियाँ बनवा देनेको कहा था। वह सेठजीकी दो उंगलियाँ देखकर समझी कि अब वे दो चूड़ियोंके लिए ही तैयार हैं। वह गुस्सेमें भरी भीतरकी ओर भागी और बेसन पीसती नौकरानीको दो उंगलियाँ दिखाकर बोली—"अरी, देख तो अब तेरे सेठजी दो चूड़ियोंपर ही आ गये हैं।"

नौकरानीने चक्कीकी गूंजमें बात तो सुनी नहीं, पर उँगलियोंको देखकर समझा कि सेठानीजी कह रही हैं कि बारीक बेसन पीस, ये एक-एक चनेके दो-दो क्या कर रही है।

नौकरानी गुस्सेमें पैर पटकती हुई मुनीमजीके पास पहुँची और दो उंगलियाँ दिखाकर [illegible] बेसन भी दानेके दो टुकड़े ही दिखाई दे[illegible] मेरा हिसाब कर दो।"

मुनीमजीका हिसाब [illegible] नहीं मिल रहा था। वे समझे कि मुझसे मजाक कर रही है, तो झल्लाकर बोले—"मैं दो-दो रुपये गिनता हूँ, तो तू मुनीम [illegible] [illegible] नौकरी [illegible]।"

[illegible] किसानकी दो उँगलियोंने सारा घर [illegible] किया और सबके [illegible] [illegible] बना लिया। [illegible] और [illegible]! यह है ग़लतफ़हमी। मेरा अधिकार है [illegible] चाहूँ

कि मेरे बारेमें किसीको भी घरमें ग़लतफ़हमी न हो और मेरा कर्तव्य है कि यदि किसी तरह घरमें कहीं कोई ग़लतफ़हमी हो ही जाए, तो उसकी गाँठको सरलतासे सुलझा लिया जाए।

इस सुलझानेकी भी एक कला है और इस कलाका पहला और सर्वोत्तम पाठ है शांत रहना। इसे जरा समझ लीजिये कि शांत रहनेका क्या अर्थ है? जिसके बारेमें ग़लतफ़हमी है, वह जब इसे दूर करनेको उठे, तो यह निश्चय कर ले कि कोई कुछ कहे, वह शांत रहेगा। मैं इस बातपर इसलिए जोर दे रहा हूँ कि ग़लतफ़हमीकी सबसे मुख्य बात यह है कि जब किसीको एक बार यह हो जाती है, तो वह फिर उसे दूर नहीं करना चाहता और जब हम उसे दूर करनेकी कोशिश करते हैं, तो वह इसे हमारी एक नई धूरपट समझता है। हमारी कोशिश उसे गरम कर देती है, गरमी कड़वाहटकी माँ है और कड़वाहटका पुत्र है ताना। ताना सुनकर भड़क उठना मामूली बात है, पर हम भड़के कि ग़लतफ़हमी दुश्मनी हुई और बस चौपट। इसलिए ग़लत-फ़हमीको दूर करनेकी कलाका सर्वोत्तम पाठ है स्वयं शांत रहना।

"वाह भाई, यह तो आज तुमने बहुत गहरी बात बताई हमें!"

जी, गहरी नहीं, यह तो मामूली बात है। इसकी गहराई तो यह है कि कभी-कभी ग़लतफ़हमीका आधार इतना सूक्ष्म होता है कि हम ईमानदारीसे कोशिश करके भी यह नहीं जान पाते कि वह आरंभ कहाँसे हुई?

मैं जानता हूँ कि मेरी यह बात जल्दीसे आपकी समझमें नहीं आएगी, तो लीजिए एक उदाहरणकी रोशनी उसपर डालता हूँ—

मैं प्रातः नौ बजे घरसे भोजनकर, अपने कामपर गया था और अब साढ़े पाँच बजे घर लौटा हूँ। इन साढ़े आठ घंटोंमें एक मिनटको भी कुरसी कमरसे नहीं लगी। मेज पर इतनी फाइलें थीं कि कमर झुकाये उनपर झुका रहा। बीचमें कई बार अपने अफ़सरके पास जाना पड़ा। वे आज जाने क्यों सारे दिन गरम रहे। दो बार तो उनका रवैया ऐसा हो गया कि जी में आया, फाइलें पटककर घर चला जाऊँ, पर पन्द्रह सालकी सर्विस

और बालबच्चोंका साथ है। बिना पलक झपके कामपर लगा रहा और साहबके उठनेके बाद भी एक घंटा और काम करके अब घर आया हूँ, पर आकर अभी बूट खोलकर पलंगपर लेटा ही था कि श्रीमतीजी बोलीं—"लो चाय पीलो और चलो फिर जरा नुमायश घूम आयें।" मैंने अपनी असमर्थता बताई, तो वे पैर पटकती और बड़बड़ाती भीतर चली गईं। अब बताइये, इसमें मेरा क्या क़सूर है कि मैं यह सोच रहा हूँ कि घरमें सब मांस नोचनेवाले गीध हैं, कोई मेरा हमदर्द नहीं।

बात सुनकर सच मालूम होती है और मनमें आता है कि वाक़ई श्रीमतीजी एकदम हृदयहीन हैं, पर उनकी बात सुनना भी आवश्यक है। वे कहती हैं—"आज सुबह चार बजे उठी थीं। उठकर निमटी, गायको सानी की, कुट्टी काटी, दूध निकाला, सबको चाय पिलाई, खाना बनाया, खिलाया, बच्चोंको सवाँरकर स्कूल भेजा, बाबूजीको कपड़े बदलवाये, दफ़्तर भेजा। तब कहीं दो रोटियाँ पेट पड़ीं। इसके बाद गेहूँ चुगे, कपड़े समेटकर रखे, धोबी आगया तो उससे कपड़े लिये, सबके बटन देखे, मरम्मत की, घरका सामान मंगाया, बच्चे स्कूलसे आ गये, उन्हें खाना दिया, कमरे ठीक किये, तब बाबूजी आये, उन्हें कपड़े बदलवाये, चाय दी, शामका खाना चढ़ाया और सब्जियाँ बना दीं कि आकर परामठे बनाऊँगी, तब जरा नुमाइश चलनेको कहा, तो बाबूजी आपेसे बाहर हो गये। हम सारे दिन सबके लिए मरते हैं, फिर भी पाँच मिनटको हमारा कोई मन रखनेवाला नहीं। घर क्या है? जेल है, ऐसे घरसे तो कहीं जंगलमें जा पड़ें, यह अच्छा है।"

बात सुनकर सच मालूम पड़ती है और मन [illegible] तो समझमें आता [illegible] सचाई यहाँ इतनी सूक्ष्म है कि उसे दोनों ही [illegible] गया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि ग़लत-फ़हमीको दूर करनेके लिए [illegible] रहना ज़रूरी है और [illegible] यह [illegible] है कि हम घरमें जहाँ अपने अधिकार चाहते हैं, अपने कर्तव्य भी जानें और दोनोंको मिलाकर जीवनमें चलें।

घर जीवनके सुखका पावर-हाउस है और सुख है साधनाका फल। इस साधनामें दे भी है और ले भी। 'दे' देवत्व है, 'ले' राक्षसत्व और 'दे-ले' मनुष्यत्व। जहाँ बैठकर हम जीवनकी इस 'दे-ले'का समन्वय करना सीखते हैं, उसी प्रयोगशालाका नाम घर है, जो इस समन्वयके खराब होते ही नरककुण्ड बन जाता है।

मैं और मेरा पड़ौस

संस्कृति और सभ्यता हमारे निजी और सामाजिक जीवनके महत्त्व-पूर्ण अंग हैं। संस्कृति हमें राह बताती है, तो सभ्यता हमें उस राहपर चलाती है। संस्कृति न हो, तो मनुष्य और पशुके विचारोंमें कोई भेद न रहे और सभ्यता न हो, तो मनुष्य और पशुका रहन-सहन एक ही-सा हो जाए। यही कारण है कि समाजके कर्णधार हमेशा संस्कृति और सभ्यताकी रक्षाके लिए जोर देते रहे हैं।

संस्कृतिकी पाठशाला है घर, और सभ्यताकी पाठशाला है पड़ौस। यों कहकर हम सचाईके और साफ़ नजदीक आ जायेंगे कि सभ्यताकी पहली सीढ़ी है पड़ौस।

"आइये पास-पड़ौसपर ही बातचीत करें आज।"

"तो क्यों साहब, संस्कृतिके साथ पड़ौसका कोई संबंध नहीं है?"

"बहुत बढ़िया और मौकेका प्रश्न पूछा है आपने। सभ्यता संस्कृतिकी प्रयोगशाला है। हम अपने मनके भीतरी-भीतरवाली तहोंमें जो सोचते हैं, जिस तरह सोचते हैं, वह है संस्कृति और उसे जहाँ और जिस तरह अमलमें लाते हैं, वह है सभ्यता। सभ्यताका मोटा-मोटा अर्थ है सभ्य लोगोंके रहने-सहने, मिलने-जुलने, बात-व्यवहार करनेका ढंग। सभ्य एक संस्कृत शब्द है और वहाँ इसका अर्थ है—'सभायां साधुः सभ्यः।' जो चार आदमियोंमें, समाजमें, सभामें भव्य है, वह सभ्य है। संक्षेपमें व्यक्ति और समाजके दोनोंको जोड़नेकी पद्धति, कला और तरीकेका नाम सभ्यता है और क्योंकि मनुष्य पहले-पहल घरसे बाहर निकलकर अपने पास-पड़ौसमें ही मिलता-जुलता है, इसलिए मैं कह रहा हूँ कि सभ्यताकी पाठशाला है पड़ौस और सभ्यताकी पहली सीढ़ी है पड़ौस!

"क्यों जी, जो सभामें, समाजमें, चार जनोंमें भला है, वह है सभ्य, पर जो अपने घरमें भला है वह क्या है ?"

"आज तो आप पूरी गहराइयोंमें उतर रहे हैं और ऐसे प्रश्न पूछ रहे हैं कि बातचीत अपने आप खिलती चली जाए।"

"ठीक है, जो सभामें, समाजमें, चार जनोंमें भला है, वह सभ्य है, पर जो अपने घरमें सभ्य है, वह संस्कृत है—आजकी चलती भाषामें कल्चर्ड !"

"क्या यह संभव है कि कोई आदमी सभ्य तो हो, पर संस्कृत न हो ?"

"बहुत बढ़िया प्रश्न है आपका—वाह वाह; क्या यह संभव है कि कोई आदमी सभ्य तो हो, पर संस्कृत न हो ?"

हाँ, मैं कह रहा हूँ कि यह संभव है। सुननेमें अजीब-सा लगता है, पर यह संभव है। मेरे एक मित्र हैं, जहाँ बैठते हैं, स्त्री और पुरुषकी समानता-पर बहस करते हैं, जल्सोंमें इस विषयपर भाषण देते हैं, पत्रोंमें लेख लिखते हैं, पर अपनी स्त्रीके साथ ऐसा व्यवहार करते हैं कि रावण भी देखकर शरमा जाए! कई आदमियोंको मैं जानता हूँ, जो एक दूसरेके जानी दुश्मन हैं, पर मिलते हैं, तो मीठी-मीठी बातें करते हैं।

इसका साफ़ अर्थ है कि ये लोग असंस्कृत होकर भी सभ्यताका दामन थामे हुए हैं। आप यहाँ कोई नया प्रश्न न पूछ बैठें, इसलिए मैं अपनी ओरसे ही कहे देता हूँ कि संस्कृति-हीन सभ्यता, जीवनकी विडम्बना है—यह धूर्तता है और इस तरह अबतक हमने जो कुछ कहा है वह संक्षेपमें यह कि जो घरमें, घरके लिए, भला नहीं है, वह पड़ोसके लिए भी भला नहीं हो सकता!

बातचीतका मज़ा उसकी दिलचस्पीमें है, पर आज आपके प्रश्नोंने उसे गंभीर कर दिया है, तो यह उचित होगा कि उसे उभारनेसे पहले यहीं गहराईका एक गोता और ले लें।

मनुष्यकी सबसे बड़ी उन्नति है—ईश्वर हो जाना और सबसे गहरा पतन है—अपनेको पाँच हाथकी देहमें सीमित मान लेना। पहला परमार्थ

है, दूसरा स्वार्थ ! मनुष्यका कार्य है स्वार्थसे परमार्थकी ओर बढ़ना और इसका पहला पड़ाव है पड़ौस—जहाँ मनुष्य अपने शुभ-अशुभके साथ, अपने हानि-लाभके साथ, अपने सुख-दुखके साथ अपने पड़ौसियोंके शुभ-अशुभ और सुख-दुखकी चिन्ता करता है। पड़ौसमें आग लगती है, तो उसका छप्पर भी फूँकता है, पड़ौसमें यज्ञ होता है, तो उसके घर भी सुगन्ध फैलती है और यों वह सोचता है कि मैं इनके साथ ही बंधा हूँ—हम सब एक ही नावके यात्री हैं।

बस एक बात और कि इस दुनियामें हर आदमीका चेहरा अलग ढंगका है, आवाज़ अलग ढंगकी है और स्वभाव अलग ढंगका है, तो क्या दुनियाका हर आदमी एक अलग इकाई है और संसारकी एकता या मानव जातिकी एकताका कोई अर्थ नहीं है ? हम इस प्रश्नपर हाँ कह सकें, तो फिर हमारे जीवनकी सब उच्च भावनाएँ ही निरर्थक हो जायें । मानव-जीवनकी सबसे बड़ी विशेषता मानवमात्रकी एकता है और इसीलिए अनेकतामें एकताके दर्शनको हमारे जीवन-दर्शनमें जीवनकी महान् संपदा कहा गया है । मैं आपसे जो कुछ कह रहा हूँ, वह बस यही कि पड़ौस [illegible] दर्शनका पहला पड़ाव है; क्योंकि घरमें हम जिनके [illegible] साथ ऐसे संबंधोंमें बंधे हुए हैं कि हम चाहें न चाहें, हमें उनमें बंधकर ही रहना है, पर पड़ौसके संबंधोंमें ऐसा कोई बन्धन नहीं है, फिर भी हम उनसे बंधकर रहना चाहते हैं। इस स्वेच्छाकी भूमिमें वह बेल पनपती है, जिसमें अनेकतामें एकताके फूल खिलते हैं। इस यात्राका तीर्थ है—'वसुधैव कुटुम्बकम्'—यानी सारी दुनिया मेरा कुनबा !

"अभी आपने कहा है कि पड़ौसके संबंधोंमें कोई ऐसा बन्धन नहीं है कि हम उसे तोड़ न सकें, फिर भी हम उनसे बंधकर रहना चाहते हैं, तो इसका कारण क्या है ? दूसरे शब्दोंमें प्रश्न यह है कि मनुष्यकी पड़ौस-वृत्तिका आधार क्या है ?"

सच यह है कि बातचीतका आनन्द आप ही जैसे आदमीके साथ है। आपके प्रश्नोंके प्रकाशमें बातचीत खिलती चली जाती है। आजकी बातचीत गहराईमें उतरी जा रही थी कि आपने उसे यह एक नया उभार दे दिया।

हाँ, तो आप पूछ रहे हैं कि मनुष्यकी पड़ौस-वृत्तिका आधार क्या है? बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक जीव है, वह इकला नहीं, बहुतोंमें मिलकर रहना चाहता है। उसके घरके बाद उसके सबसे पास है उसका पड़ौस और यह पास होना ही पड़ौस-वृत्तिका आधार है। लोक-जीवनमें कहा जाता है कि—'सगा दूर, पड़ौसी नेड़े!' मतलब यह कि सगे—रिश्तेदार—तो दूर रहते हैं, पर पड़ौसी-नेड़े हैं, पास ही हैं। वे हर समय हमारे सुख-दुखमें भागीदार हो सकते हैं और हर समयकी यह सुलभता ही पड़ौस-वृत्तिका प्राण है। एक नागरिकके रूपमें हमारा अधिकार है कि हम पड़ौसकी समीपताका लाभ लें और हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी समीपताका उसे लाभ दें।

समीपता एक दुधारी तलवार है। समीप रहनेवाला हमें लाभ पहुँचाता है, तो नुक़सान भी पहुँचा सकता है। लोक-जीवनमें एक पड़ौसनकी गाथा इस प्रकार घर-घर कही जाती है—

"आ, पड़ौसन, लड़ें!"

"लड़ै मेरी जूती!"

"जूती मार खसमकै!"

इसे जरा समझ लीजिये। एक पड़ौसन लड़ाका है। बात-बेबात उसे लड़ाई चाहिए। लड़ाईके बिना उसको खाना ही हज़म नहीं होता। कई दिनसे बेचारी परेशान है कि कोई लड़नेवाला ही नहीं मिला। अचानक किसी पड़ौसनको उधरसे जाती देख उसने कहा—आ पड़ौसन लड़ें!

वह भली पड़ौसन अपने काम जा रही थी। बिना बातकी लड़ाई मोल लेनेसे इन्कार करते हुए उसने कहा—लड़ै मेरी जूती, पर लड़ाका

पड़ौसन इतनी जल्दी यह 'चांस' खोनेवाली नहीं थी। तुरन्त पलटा देकर बोली—जूती मार अपने खसमके!

यह वार ऐसा नहीं कि इसे भली पड़ौसन यों ही अनजाना कर दे और इसका मतलब हुआ कि लड़ाई बज गई और जमकर बज गई। इसीलिए तो लोक-जीवनमें कहा जाता है कि—"बालका और मट्ठेका बढ़ाना भी कोई काम है?" एक तानेसे बात बढ़कर तकरार हो जाती है और लोटा-भर पानी डालनेसे मट्ठा मन-चाहा हो जाता है—गरज यह कि इन दोनोंमें विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं होती। "जूती मार अपने खसमके!" किसका दम है, जो इस चैलेंजको नामंजूर कर सके?

लोक-जीवनके कोषमें लड़ाका पड़ौसनकी ही बात सुरक्षित हो, सो बात नहीं। वहाँ एक चतुर पड़ौसनका जीवन-चरित्र भी सुरक्षित है। लीजिये, उसे भी पढ़ लीजिये—

"आ पड़ौसन, पूड़े पो लें,
क्या लग जागा तेरा?
आग, फूंस, कड़ौती, मेरी
गुड़, घी, मैदा, तेरा!"

इसे भी जरा समझ लीजिए। बरसातका गदराया मौसम, तीसरे पहरका समय। खानेको मीठे पूड़े मिलें, तो मजा आ जाए, पर आ कैसे जाए—घरमें सामान तो है ही नहीं। ठीक है, पर सामानको देखकर लपलपाए, तो जीभ ही क्या? और घरका सामान लगाकर पूड़े खाए, तो इसमें चतुरता क्या हुई?

श्रीमतीजी अब अपनी छतपर हैं और दूसरी पड़ौसनसे कह रही हैं—'आ पड़ौसन, पूड़े पो लें!'

'पो लें' में साधारण सहज निमन्त्रण है, पर उसे सुन-समझकर भी पड़ौसनमें अगर उत्सुकता दिखाई नहीं देती, तो चतुर पड़ौसन तुरन्त अगला

करके अपने निमन्त्रणको आकर्षक बनाती है—'क्या लग जाएगा तेरा'—अरी बावली, पूड़ोंमें तेरा खर्च ही क्या है?

पूड़ोंमें अपने हिस्सेकी घोषणा करते हुए वह पूरे ज़ोर और उत्साहमें कहती है—'आग, फूँस, कड़ौती (काष्ठोत्तरी-छपटी) मेरी और तब स्वरको एकदम धीमा करके उसका हिस्सा बताती है—''गुड़, घी, मैदा, तेरा!' बात साफ़ है—तीन चीजें तेरी, तीन चीजें मेरी, मेहनत दोनोंकी और पूड़े आधोंऊध। कहीं घाटा नहीं है, खतरा नहीं है। आ, पूड़ोंकी दावत उड़ाकर इस मौसमका मज़ा लूटें!

प्रस्ताव दिलचस्प है, समयके अनुकूल है, उसका विवेचन युक्तियुक्त है, सारगर्भित है, लाभदायक है; फिर भी पड़ौसन पूड़ोंकी दावतके लिए तैयार न हो, तो चतुर पड़ौसन क्या करे?

''इस तरहकी तेज़ और चतुर पड़ौसनें और पड़ोसी सब जगह सुलभ हैं। प्रश्न यह है कि इनका उपाय क्या हो?—इनके साथ कैसे बरता जाए?''

प्रश्न उपयोगी है और लोक-जीवनमें ही इसका उत्तर भी दिया हुआ है—''ऐन न माने, तो सैन चलाइये! सैन न माने, तो बैन हिलाइये! बैन न माने, तो दूर भगाइये!'

''वाह, यह तो आपने कविता ही पढ़ दी, पर इसका मतलब क्या है?''

इसका मतलब बहुत साफ़ है कि कोई मित्र, पड़ौसी या बन्धु यदि ऐनको—अवसरको—स्वयं न समझे, तो उसे सैनसे—इशारेसे—समझा दीजिए; इशारेको भी वह न समझे, तो बैनसे—वाणीसे—कहकर बता दीजिए और तब भी न माने, तो दूर भगाइए—उससे किनारा-कशी कीजिए, उसे मुँह न लगाइए। कुछ सफ़ाईकी अभी और ज़रूरत हो तो यूँ कहूँगा कि आप इस तरह रहिए कि पड़ौसमें आपका व्यवहार सबके साथ सरलताका रहे और कोई दूसरा भी आपको अपनी धूर्तता या मूर्खताका शिकार न बना सके!

''आप कितना ही बचाएँ, सावधान रहें, पर भाई जहाँ दो बरतन

हैं, वे तो खटकेंगे ही !" यह ठीक कहते हैं आप और मैं माने लेता हूँ कि पास-पड़ोसमें आज नहीं तो कल लड़ाई हो जाना संभव है—संभव क्या स्वाभाविक है।

"फिर ?" फिर क्या, जरूरत इस बातकी है कि हम आपसी लड़ाईका व्याकरण समझ लें; क्योंकि व्याकरणके साथ लड़ी गई लड़ाईमें दोनों पक्ष खतरेसे बचे रहते हैं।

"तो आपकी रायमें लड़ाईका भी कोई व्याकरण होता है—वाह साहब, आप भी खूब छौंक लगाते हैं ?"

जी, यह छौंक है, न मसाला। लड़ाईका व्याकरण जीवनका गंभीर मसला है और जो लड़ाईका व्याकरण जाने बिना लड़ाई आरंभ करते हैं, वे उन अधकचरे वैद्योंकी तरह हैं, जो चीर-फाड़ जाने बिना आपरेशन शुरू कर देते हैं।

"तो भाई, हमें भी बताओ यह व्याकरण ?"

वही तो बता रहा हूँ आपको। इस व्याकरणका पहला सूत्र है—"तीन कोनोंमें लड़ो, चौथा खाली रखो !"

"क्या मतलब इसका ?"

मतलब यह कि लड़ाई स्थायी नहीं जीवनका अस्थायी तत्त्व है—कल, परसों, परले दिन, लड़ाई खत्म जरूर होगी, इसलिए चाहे जितने जोरसे लड़ो, पर फैसलेकी गुंजाइश हमेशा रक्खो। क्या याद करेंगे आप भी कि कोई बतानेवाला मिला था—लो, तुम्हें यह चौथा कोना दिखाये देता हूँ। यह कोना है कड़वे बोलका ! लड़ाईमें पहले या उसके बीचमें कभी कोई ऐसा बोल न बोलिये, जो फैसलेके समय सामने आकर बीचमें खड़ा हो। इस सूत्रका ज्ञान सबसे पहले एक ब्राह्मणीको हुआ था, जिसकी साक्षी आज भी लोक-जीवनमें सुरक्षित है।

एक कसाइन और एक ब्राह्मणी पास-पास रहती थीं। एक दिन कसा-

यनने कहा—"आ ब्राह्मणी, लड़ें !" ब्राह्मणीने कहा—"आ, तेरा जी उमड़ रहा है, तो लड़ लें, पर एक शर्त है कि कहनी कहेंगे, अनकहनी नहीं !"

बस गाँठ बाँध लीजिये कि लड़ाई चाहे जितनी हो, अनकहनी कभी न कहेंगे और फिर आप देखेंगे कि हर लड़ाईके अन्तमें आप जीते रहेंगे।

पड़ौसकी लड़ाईका दूसरा सूत्र है यह कि लड़ाईके बीचमें आपका विरोधी किसी दूसरे संकटमें फँस जाए, तो लड़ाई रोकनेमें पहल आप करें और उस संकटसे बचनेमें मदद करनेके लिए बिना बुलाए उसके पास चले जाएँ। यह सुननेमें शायद आपको ठीक न लगे और आप सोचें कि वाह, असली चोट करनेका समय तो यही है, पर ना, यह अनुभूत मन्त्र है। आप इसे एक बार करके देखें कि स्वर्गके फूल आपके चारों ओर बरसते हैं या नहीं।

तीसरा सूत्र यह है कि तीसरेसे कोई मतलब नहीं। जिससे लड़ाई है, उससे लड़िये, पर उसके घरके दूसरे आदमियोंसे शत्रुता न बाँधिए। रामसिंहसे लड़ाई जारी है, रहने दीजिये, पर उसकी पत्नीको मोटर-बस खराब हो जानेसे रास्तेमें परेशान खड़ी देखकर अपनी मोटर रोक लीजिये और उसे पूरे सम्मानके साथ उसके घर पहुँचानेमें ज़रा भी कोताही न कीजिये। रामसिंहकी गाय यदि भूलसे खुल गई है, तो उसे भगाइये मत, बल्कि पकड़कर घरके भीतर पहुँचा दीजिये और आवाज देकर कह दीजिये कि कोई गाय बाँध दे। रातमें यदि आप देखें कि एक चोर रामसिंहके मकानमें घुस रहा है, तो पल भर भी खराब किये बिना चिल्ला पड़िये और यदि आप चाह रहे हों कि लड़ाई खत्म हो जाय, तो किसी बिचौलियेको बीचमें न डालिये और सीधे उसके पास चले जाइये।

लड़ाईका व्याकरण बहुत विस्तृत है, पर आप ये तीन सूत्र ही याद रख लें, तो पड़ौसमें कभी लज्जित होनेका अवसर न आवे। यों मानिये कि आपका अधिकार है कि लड़ाई सिर आ पड़े, कोई लड़ाईकी [illegible], तो लड़ें, पर आपका कर्तव्य है कि ऐसे काम न करें, जिनसे खत्म होनेके बदले लड़ाई बढ़ती ही जाये और सर्वनाशका रूप ले ले।

"ऐसे उपाय क्या हैं कि पास-पड़ौसमें हमेशा मिठास बनी रहे और लड़ाईकी गांठ ही पैदा न हो?"

बड़े कामका प्रश्न पूछा है। ऐसे उपाय तो बहुत हैं, पर उनमें दो आपको आज बता रहा हूँ। पहला उपाय यह है कि बोझ न बनिये। पड़ौसियोंसे मिलिये-जुलिये, पर उनकी परिस्थितियों और रुचियोंका हमेशा ध्यान रखिये। हर आदमी अपने ढंगपर जीना चाहता है। आप उस ढंगमें गड़बड़ करेंगे, तो लड़ाईकी भूमिका तैयार होगी। डॉ० सीताराम नहीं चाहते कि उनकी लड़कियाँ किसीके साथ सिनेमा जाएँ। बलदेवसिंहकी पुस्तक कोई लेता है, तो उन्हें बुरा लगता है। मि० गालिब रसूल रातमें ८॥ बजे सोनेके लिए चले जाना पसन्द करते हैं। बेंसन साहबके कमरेकी चीजोंको कोई इधर-उधर करता है, तो बुरा मानते हैं। भण्डारीजी कांग्रेसके खिलाफ़ एक भी शब्द सुनते ही भड़क उठते हैं और हिम्मतसिंहजी कांग्रेसकी तारीफमें एक भी शब्द सुनते ही गुर्रा पड़ते हैं।

अब अगर आप सीतारामजीकी लड़कियोंको सिनेमा ले जायेंगे, बलदेवसिंहसे पुस्तक मांगेंगे, रसूल साहबके पास ९ बजेतक जमे रहेंगे, बेंसन साहबके कमरेकी चीजें छुएंगे, भण्डारीजीसे कांग्रेसकी निंदा करेंगे और हिम्मतसिंहसे कांग्रेसकी तारीफ करेंगे, तो उनपर बोझ हो जायेंगे और याद रखिये कि बोझको कोई गले नहीं डालना चाहता; उसे उतार फेंकनेकी बेचैनी हरेकको होती है।

दूसरा उपाय है— पड़ौसियोंकी रुचियोंके साथ 'कम्प्रोमाइज' कीजिए। हर आदमीकी एक रुचि है, वह जितनी अच्छी [illegible] ठीक है। हमारे कानोंको [illegible] दूसरोंकी [illegible] है। मान लीजिए कि आपके मित्र [illegible] मान लीजिए कि [illegible] आपको [illegible] है। अब फिर देखिये कि इनके यहाँ भी आपकी पूछ है और उनके यहाँ भी। समझ लीजिए कि

आपको यह अधिकार है कि आप अपने दरवाजे खुले रक्खें, पर आपका कर्तव्य है कि आप दूसरोंके दरवाजोंमें न झाँकें।

गाँधीजीसे किसीने पूछा—"हमारी स्वतन्त्रताकी सीमा कहाँपर है बापू?"

उत्तर मिला—"जहाँसे तुम्हारे पड़ौसकी स्वतन्त्रता आरंभ होती है।"

गाँधीजीने पड़ौस-शास्त्रका सार इस एक ही उत्तरमें भर दिया है।

"अच्छा, यह बताइये कि अच्छे पड़ौसकी कसौटी क्या है?"

लीजिए, आप यह कसौटी भी लीजिए। यह कसौटी है—अपनी जिम्मेदारी। आपकी गलीमें एक बल्ब लगा है, जो सबको रोशनी देता है। रात वह फ्यूज हो गया, तो सबने ठोकरें खाईं। दूसरे दिन शामको बाबू अमीरसिंह दफ्तरसे लौटे, तो बाजारसे बल्ब लेकर, पर गलीमें पहुँचे, तो देखते हैं सीढ़ीपर चढ़े लाला चन्द्रभान पहले ही नया बल्ब फिट कर रहे हैं। यह एक अच्छा पड़ौस है, क्योंकि यहाँ हरेक अपनी जिम्मेदारी महसूस करता है, पर बा० अमीरसिंह सोचते कि ला० चन्द्रभान लायेंगे और ला० चन्द्रभान सोचते कि मैं ही क्या इकला रोशनी लेता हूँ, तो पड़ौस बुरा हो जाता। पड़ौसियोंकी राह न देखिये और अपनी जिम्मेदारी पूरी कीजिए।

"अच्छा, बस एक प्रश्न और कि पड़ौसकी आत्मा क्या है?"

ठीक है, यह प्रश्न इस बातचीतको पूर्ण कर देगा। पड़ौसकी आत्मा है—भरोसा! क्या आपको भरोसा है कि कहीं कैसा भी संकट हो, आपके पड़ौसी आपका साथ देंगे और क्या आपके पड़ौसियोंको यह भरोसा है कि कुछ भी हो, उनके पुकारते ही आप उनके पास जा कूदेंगे? हाँ, तो बस ठीक है। दोनों तरफका यह भरोसा ही पड़ौसकी आत्मा है। यह नहीं है, तो वह पड़ौस नहीं, चमगीदड़ोंका जमघट है।

और लो, चलते-चलते बिना पूछे ही आपको एक बात और बताता हूँ—आपमें लाख बुराइयाँ हों, उनकी छाया कभी अपने पड़ौसपर न पड़ने दीजिये। याद रखिये, चोर और डाकू भी कभी अपने पड़ौसमें हाथ नहीं डालते!

मैं और मेरा नगर

मैं जहाँ जन्मा, वह मेरा घर था और जहाँ मैं पलकर बड़ा हुआ, वह मेरा पड़ौस था। अपने घरको मैंने अपनी किलकारियोंके आनन्दसे भरा और उसने मुझे अपने पैरों खड़े होनेकी शक्ति दी। अपने पड़ौसको मैंने अपनी खेल-खिलंदरियोंके रससे सींचा और उसने मुझे खुली दुनियामें अपने भरोसे आप आगे बढ़नेका बल दिया।

और अब जो अपने घर और पड़ौससे पाई शक्तिके सहारे मैं विशाल संसारकी यात्राके लिए निकला हूँ, तो मैं अपनेको अपने नगरमें पाता हूँ।

यह मेरा नगर है, जब मैं यह कहता हूँ, तो सोचता हूँ कि क्या मेरे हृदयमें यह कहते समय वैसी ही आत्मीयता—अपनापन—और आनन्द उमड़ते हैं, जैसा यह कहते समय उमड़ा करते हैं कि यह मेरा घर है। मेरे घरमें जो दूसरे लोग रहते हैं, वे मुझे लगता है कि मेरे ही अंग हैं। मेरे इस प्रश्नका यही तो भाव है कि क्या इस घरकी तरह, मैं इस नगरके निवासियोंको भी अपने ही जीवनका अंग मानता हूँ ?

मेरे मनमें यह प्रश्न तब भी उठा था, जब मैं अपने घरका द्वार लांघ कर, अपने पड़ौसमें आया था, पर मैं सोच रहा हूँ कि प्रश्नकी भाषाके दोनों बार एक रहते हुए भी दोनोंके वजनमें बहुत बड़ा अंतर है और अन्तर यह है कि पड़ौसमें जो लोग रहते हैं, मैं उन्हें देखते-देखते ही बड़ा हुआ हूँ और वे सब मेरे लिए अपने घरके लोगोंकी तरह ही निकट रहे हैं, इसलिए उनके संबंधमें मेरे मनकी दशा यह है कि न तो मुझे वे अपने लिए नया मानते हैं और न वे ही मेरे लिए नये हैं।

इसके विरुद्ध पड़ौसका क्षेत्र छोटा-सा है और नगरका बड़ा, तो मैं जब अपनेसे पूछ रहा हूँ कि क्या मेरे हृदयमें यह कहते समय भी

कि यह नगर मेरा है, वैसी ही आत्मीयता---अपनापन---और आनन्द उमड़ते हैं, जैसा यह कहते समय उमड़ा करते हैं कि यह मेरा घर है, तो यह अनेक प्रकारके, दूर-दूर बसे, जाने और अनजाने उन लोगोंके साथ मेरी आत्मीयता, आत्म-लीनता, मानसिक-एकता और सुख-दुखकी साझेदारीका प्रश्न होता है।

संभव है मेरा नगर कई सौ आदमियोंका एक गाँव ही हो या कई लाखका विशाल नगर, पर वह मेरे देशकी हर हालतमें एक इकाई है और विशाल विश्वकी यात्राके लिए, मैं जो निकला हूँ, तो यह यात्रा सफल होगी या असफल, आनन्ददायक होगी या नीरस; यह सब इस बातपर निर्भर है कि अपने नगरके साथ रहना मैंने ठीक-ठीक जान लिया है या नहीं!

"तो यह कैसे मालूम हो कि अमुक आदमीने अपने नगरके साथ ठीक-ठीक रहना जान लिया है या नहीं?"

"बड़े मौकेका और सूझ-बूझका प्रश्न पूछा है यह आपने और मैं आपको एक बात बता दूँ कि इतनी देरसे जो प्रश्न मुझे अपनेमें उलझाये लिये चल रहा है, उसीमें आपके प्रश्नका उत्तर है। वह यह कि यदि अपने नगरके मनुष्योंके साथ, मेरा वैसा ही प्रेम है, वैसी ही आत्मीयता है, जैसी कि अपने घरवालोंके साथ, तो बस मैं अपने नगरके साथ ठीक-ठीक रहना जान गया हूँ।

आदमी अपने घरके सम्मानको अपना ही सम्मान मानता है। आप यदि किसी आदमीसे कहें कि मैं कल तुम्हारे घर आऊँगा और तुम्हारे सब घरवालोंको गालियाँ दूँगा, पर तुम निश्चित रहो, मैं तुम्हारे लिए फूलोंके सुन्दर हार लाऊँगा, तो क्या वह इस सम्मानको अपना सम्मान मानकर इसे स्वीकार कर सकता है? हरगिज नहीं, पर क्यों? क्योंकि उसका और उसके घरका सम्मान एक ही है।

हमारे देशका एक परिवार जापान गया। वहाँ एक दिन रातमें वह सिनेमा देखकर अपने स्थानपर लौट रहा था कि राह भूलकर जंगलकी तरफ़

चला गया। उधरसे एक युवक साइकिलपर आ रहा था। वह इन लोगोंको खड़े देखकर रुक गया और उसने इन लोगोंसे पूछा कि क्या मैं आपकी कोई सेवा कर सकता हूँ?

जब इन लोगोंने अपने स्थानतक पहुँचनेकी बात कही, तो उसने कहा—मोटरका अड्डा यहाँसे एक मील है। मैं अभी आपके लिए टैक्सी ला रहा हूँ और वह चला गया, पर थोड़ी देर बाद ही उधरसे एक खाली टैक्सी गुजरी, तो इन लोगोंने उसे रोक लिया, और ये लोग उसमें बैठ ही रहे थे कि इतनेमें वह युवक एक दूसरी टैक्सी लेकर आ गया। अब एक झमेला खड़ा हो गया कि ये लोग किस टैक्सीमें जायें?

पहली टैक्सीवालेने इन लोगोंसे प्रार्थना की कि "आपलोग उस दूसरी टैक्सीमें बैठें, क्योंकि वह आपके लिए ही अपना नम्बर छोड़कर आया है।"

दूसरी टैक्सीवालेने इन लोगोंसे प्रार्थना की—"वे उस पहली टैक्सीमें ही जायें, क्योंकि उसमें परिवारके कुछ आदमी बैठ गये हैं और उन्हें उतारना अभद्रता है।"

वे लोग इस बातपर तैयार हो गये कि दोनोंको किराया दे देंगे, पर बिना काम किये किराया लेनेको कोई भी तैयार न हुआ और अन्तमें उस दूसरी टैक्सीमें ही इन्हें जाना पड़ा। इन्होंने उन सब लोगोंको धन्यवाद दिया और उनका आभार माना, तो उन्होंने कहा—"जी नहीं, हमारा तो यह कर्तव्य ही है कि आपकी सेवा करें, क्योंकि आप आज हमारे नगरके अतिथि हैं, मेहमान हैं।"

तो क्या बात हुई यह? यही बात हुई कि इन सब लोगोंने अपने नगरके साथ वही भाव अनुभव किया, जो हम अपने घरके साथ करते हैं—यानी उन्होंने अपने नगरके मेहमानोंको अपना ही मेहमान अनुभव किया। मतलब यह कि मेरा अधिकार है कि मैं जिस किसी नगरमें भी जाऊं, सब तरहके संकटोंमें सहायता ले सकूं और मेरा कर्तव्य है कि मेरे नगरमें रह-

रहा या बाहरसे आया हुआ जो भी कोई हो, वह अपने किसी भी संकटमें निःसंकोच भावसे मेरी सहायता और सहयोग ले सके।

नगर विशाल है और मैं उसका एक छोटा-सा अंग हूँ, पर मेरी छोटी-सी भूल इस विशाल नगरको संकटमें डाल सकती है और संकट भी ऐसा कि हज़ारों प्राण संकटमें पड़कर त्राहि-त्राहि पुकार उठें।

"यह कैसे ?"

अजी, इसमें कैसे क्या थी, यह तो साफ़ बात है, पर लीजिये मैं साफ बातको और भी साफ़ करके आपसे कह रहा हूँ। रमजानी जो उस दिन सुबह सोकर उठा, तो देखा कि उसकी आलमारीके पास एक चूहा पड़ा है। चूहेकी देहसे तेज़ बदबू आ रही थी और उसकी देह इस तरह फूली हुई थी, जैसे वह २-३ दिनतक पानीमें डूबा रहा हो।

रमजानीने चिमटेसे उसकी पूँछ पकड़ी और अपनी छतपरसे गलीमें झाँका। जब देखा कि कोई नहीं देख रहा है, तो झटकेके साथ उसे गलीमें फेंक दिया। यह चूहा प्लेगका चूहा था और अब आते-जातोंके हाथों प्लेग-के कीड़ोंके पार्सल नगर भरको भेज रहा था। नगरमें वो प्लेग फैली, वो प्लेग फैली कि बेटा मरा तो बाप पानी देने नहीं आया। अब कहिए, एक भूलने सारे नगरके प्राण संकटमें डाल दिये या नहीं ?

१६ वीं सदीके एक अंतिम सालमें जापानके एक नगरमें प्लेग फैली। विशेषज्ञोंने कहा कि चूहोंसे यह रोग फैलता है। बस फिर क्या था, एक तारीख तै हो गई और सबने अपने-अपने घरके चूहे मार डाले। इन चूहोंसे हज़ारों मन खाद खेतोंको मिली और उनकी खालसे बनाये गये कन्टोप तो रूस-जापान-युद्धमें बहुत ही गरम साबित हुए।

तो नागरिकका कर्तव्य है कि वह कोई ऐसा काम न करे, जिससे दूसरे नागरिकोंको कष्ट हो और उसका यह अधिकार है कि वह दूसरे नागरिकोंसे ऐसे कामोंकी आशा न करे, जिनसे उसे कष्ट होता हो।

"पर यदि किसीकी भूलसे संकट आ ही जाए, तो क्या किया जाए ?"

बहुत सुन्दर प्रश्न है आपका। जी हाँ, आदमीसे भूल हो सकती है। उसके सुधारका वही तरीका है, जो उस नगरके निवासियोंने किया कि वे इस बेकारकी जाँच-पड़तालमें नहीं पड़े कि यह किसकी भूलसे संकट आया, बल्कि वे सब उस संकटके निवारणमें जुट पड़े।

अच्छा, मैं भी आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ कि हममेंसे हरेक बड़ा आदमी बनना चाहता है, पर यह तो बताइए कि बड़ा आदमी कहते किसे हैं?

मैं आपके चेहरेका भाव देखकर बिना आपके कहे ही समझ रहा हूँ कि आप यह सोच रहे हैं कि बातचीत चल रही थी नगरकी और सवाल पूछ लिया बड़े आदमीके लक्षणका? कहिये, है न यही बात? खैर, यही बात सही, पर यह बात भी सही है कि आप इस प्रश्नका जबाब दीजिये और फिर देखिये कि यह उस बातचीतमें फिट हो जाता है या नहीं, जो हमारे आपके बीच चल रही है।

"बड़ा आदमी वह है, जो समाजके और आदमियोंसे ऊँचा हो!"

यह आपका उत्तर है, पर मैं पूछता हूँ कि ऊँचा क्या? यानी लंबा ७ फ़ीटका आदमी ही बड़ा आदमी है?

"ना, जिसका समाजमें प्रभाव हो, वही बड़ा आदमी!"

यह आपका दूसरा उत्तर भी मुझे नहीं जँचा। बात यह है कि प्रभाव तो कई बार बुरे आदमी भी जमा लेते हैं समाजमें, तो क्या इसीलिए हम उन्हें बड़ा आदमी मान लें? अच्छा लीजिए, मैं ही अपने प्रश्नका उत्तर आपको दिये दे रहा हूँ—"बड़ा आदमी वह है जिसका हृदय बड़ा हो।"

मेरे उत्तरको जरा आप समझ लें, तो नये-नये प्रश्नोंकी झड़ी लगाने से बच जायेंगे। सबसे छोटा आदमी वह, जो अपने ५ फ़ीट शरीरको ही अपना समझे। उससे बड़ा वह, जो अपने परिवारको अपना समझे। उससे बड़ा वह, जो अपने नगरको अपने देशको ही अपना समझे। पर तो यह बहुत ऊँचा है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' नाम पहनता है, पर मैं यहीं रुक जाऊँगा, क्योंकि आदमीमें अपनापन अक्सर परिवारतक ही रुक जाता है और भाव-

से वह नगरतक बढ़ जाए, तो फिर आगेकी क्लास पढ़ता-बढ़ता जा सकता है। नहीं तो उसका बड़ापन यानी मनुष्यताकी फाइल, यहीं ख़त्म हो जाती है।

"क्यों हो जायगी मनुष्यताकी फाइल यहीं ख़त्म?"

यह नया प्रश्न है आपका। सच यह है कि आप सूत्रमें नहीं, व्याख्यामें बातचीत करना चाहते हैं। यही सही, सुन लीजिये।

हमारे नगरके एक सज्जन हैं। नाम उनका कुछ भी हो, आप उन्हें पुकारियें बसन्त माधव। बसन्त माधव अपना घर बुहारकर कूड़ा-कर्कट गलीमें फेंक देते हैं, अपने घरके चूहे पकड़कर पड़ौसियोंकी दहलीजमें छोड़ आते हैं, कोई उन्हें भोजन या पार्टीमें बुलाता है, तो अपने सुभीतेसे जाते हैं, भले ही प्रतीक्षा करते-करते और लोग परेशान हो जायें, अपने घरपर किसीसे मिलनेका वचन देते हैं, तो आनेवालोंको आप वहाँ नहीं मिलते और वे बैठे झख मारा करते हैं; मतलब यह कि उन्हें अपने आराम-सुभीतेसे मतलब, कोई मरे या जिये।

मैं पूछता हूँ आपसे कि क्या आप इन श्रीमान् बसन्त माधवजीसे यह आशा कर सकते हैं कि वे सारे देशकी चिंता करें और संसारके कल्याणकी बात सोचें? यों नागरिक भावनाको आप संक्षेपमें इंट्रेंसकी वह परीक्षा समझें कि जिसे पास किये बिना, कोई भी विश्वविद्यालयमें प्रवेश नहीं कर सकता।

अब आई आपकी समझमें मेरी बात?

न आई हो तो लो फिर एक नये ढंगसे अपनी बात कहता हूँ। आप अपना घर साफ़-सुथरा रखते हैं—एकदम शीशे-सा चमचमाता, पर क्या मुसाफ़िरख़ाने, होटल, धर्मशाला और मित्रोंके जीनेमें पानकी पीक थूक देते हैं? यदि हाँ, तो आपकी मनुष्यता अस्वस्थ है।

आप अपनी आमदनीकी एक-एक पाई बचाते हैं और फ़िज़ूलख़र्ची नहीं करते। आप अच्छे आदमी हैं और मैं आपकी प्रशंसा करूँगा, पर ज़रा यह बताइये कि आपके घरके बाहर जो सरकारी नल लगा है, उसकी टूँटी

काम करनेके बाद बन्द कर देने और इस तरह पानी ख़राब न होनेके बारेमें आप कितने सावधान रहते हैं? साफ़ है कि आप अक्सर उसे खुला छोड़ आते हैं और खानेके बाद, दूरसे अपने कमरेसे उसकी आवाज सुनकर कभी भी आपको वैसा पछतावा नहीं हुआ, जैसा पान खानेके बाद इकन्नी पनवाड़ीको देकर अपनी अधन्नी बिना लिये लौट आनेपर आपको एक बार हुआ था! तो क्या यह मनुष्यताकी अस्वस्थता नहीं कि अपनी अधन्नीका नुक़सान तो काँटा-सा चुभे; पर अपने नगरके मन भर पानीका खिण्ड जाना, आपके लिए कोई अर्थ ही न रखता हो?

मैं एक दिन अपने मित्रसे मिलने गया। वे एक मिलके मालिक हैं और बड़ा शानदार दफ़्तर है उनका। मैंने देखा कि उनकी मेज़पर एक बन्द लिफ़ाफ़ा डाकमें आया पड़ा है। मुझे ख़याल हुआ कि वे इसे खोलना भूल गये हैं और व्यापारकी जाने क्या बात हो इसमें? मैंने कहा—"यह देखिये, आपका एक पत्र भूलसे पड़ा रह गया है, इसे पहले पढ़ लीजिये।"

बोले—"मेरा नहीं है। जाने किसका डाकमें आ गया है, कई दिनसे पड़ा है यों ही मेज़पर।"

मैंने उठाकर देखा, वह मेरे पड़ौसीका था और उसपर ५ दिन पुरानी मोहर थी।

मुझे दुःख हुआ कि इन्होंने एक बार भी यह नहीं सोचा कि इसमें जाने क्या होगा? मनुष्यताकी बात तो यह होती कि ये उसे अपने आदमीके हाथों उनके पास भेजते और इतना नहीं, तो उसी दिन ये इसे अपनी डाकमें डाकघर तो भेज ही सकते थे। तब भी यह दूसरे दिन उन्हें मिल जाता। मैं उस पत्रको ले आया और उन्हें जाकर दिया, जिनका वह था।

मुझे यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि उनके दूरके एक संबंधी कहीं परदेशमें बीमार थे और उन्होंने रुपया मंगाया था।

अब बताइये कि वे बेचारे अपने इन संबंधी महाशयको कितना नाला-

यक समझ रहे होंगे, पर वास्तवमें यह एक शिक्षित और साधन-संपन्न मनुष्यकी मानसिक-हीनताका फल था !

मेरा यह अधिकार है कि मैं अपने नगरके हरेक निवासीसे यह आशा करूँ कि वह मेरा यानी सारे नगरके सुख-दुखका, दिक्क़त-आरामका अपने ही जैसा ध्यान रक्खे और मेरा यह कर्तव्य भी है कि मैं भी ऐसा ही करूँ। मुझे अपनी चिन्ता हो यह ठीक है, पर मुझे अपने नगरनिवासियोंके सामूहिक और व्यक्तिगत सुख-दुखकी भी चिन्ता हो, यह आवश्यक है।

इस लंबी बातचीतमें जो कुछ अभीतक कहा गया है, उसे मैं एक प्रश्नमें समेटकर रख रहा हूं।

वह प्रश्न यह है कि सबसे अच्छा नागरिक कौन है ? और इसका उत्तर मैं यह दे रहा हूँ कि जो अपनी एकान्तकी घड़ियोंमें अपने नगरकी बात सोचे और अच्छी बातोंसे प्रसन्नता और बुरी बातोंसे दुखका अनुभव करे।

हम जलसोंमें ऐसा व्यवहार भी कर सकते हैं, ऐसी बातें भी कह सकते हैं, जो हमारे जीवनमें न हों, पर एकान्त तो हमारा अपना ही है, वहां हम वही होते हैं, जो असलमें होते हैं।

तो नगरके प्रश्नोंपर एक भाषण दे देना और उसमें उन प्रश्नोंके प्रति सबसे ज्यादा चिन्ता प्रकट कर देना आसान है, पर एकान्तमें उनकी याद आना कठिन है।

यह इसलिए कि एकान्तकी यह चिन्ता हमारे आचरणपर निर्भर है और जो मनुष्य एकान्तमें अपने नगरकी चिन्ता करता है, दूसरे शब्दोंमें जिसके जीवनमें नागरिक भावनाका आचरण है, जो अपनेमें नगरको और नगरमें अपनेको अनुभव करता है, उससे श्रेष्ठ नागरिक नगरमें और कौन होगा ?

मैं और मेरा देश

मैं अपने घरमें जन्मा था, पला था।

अपने पड़ौसमें खेलकर, पड़ौसियोंकी ममता-दुलार पा, बड़ा हुआ था।

अपने नगरमें घूम-फिरकर, वहाँके विशाल समाजका संपर्क पा, वहाँके संचित ज्ञान-भण्डारका उपयोगकर, उसे अपनी सेवाओंका दान दे, उसकी सेवाओंका सहारा पा और इस तरह एक मनुष्यसे एक भरा-पूरा नगर बनकर मैं खड़ा हुआ था।

मैं अपने नगरके लोगोंका सम्मान करता था, वे भी मेरा सम्मान करते थे।

मुझे बहुतोंकी अपने लिए ज़रूरत पड़ती थी। मैं भी बहुतोंकी ज़रूरत-का उनके लिए जवाब था।

इस तरह मैं समझ रहा था कि मैं अपनेमें अब पूरा हो गया हूँ, पूरा फैल गया हूँ, पूरा मनुष्य हो गया हूँ।

मैं सोचा करता कि मेरी मनुष्यतामें अब कोई अपूर्णता नहीं रही, मुझे अब कुछ न चाहिए, जो चाहिये, वह सब मेरे पास है——मेरा घर, मेरा पड़ौस, मेरा नगर और मैं। वाह, कैसी सुन्दर, कैसी संगठित और कैसी पूर्ण है मेरी स्थिति !

एक दिन आनन्दकी इस दीवारमें एक दरार पड़ गई और तब मुझे सोचना पड़ा कि अपने घर, अपने पड़ौस, अपने नगरकी सीमाओंमें ममता, सहारा, ज्ञान और आनन्दके उपहार पाकर भी मेरी स्थिति एकदम हीन है और हीन भी इतनी कि मेरा कहीं भी कोई अपमान कर सकता है——एक मामूली अजनबीकी तरह और मुझे यह भी अधिकार नहीं कि मैं उस

अपमानका बदला लेना तो दूर रहा, उसके लिए कहीं अपील या दया-प्रार्थना ही कर सकूँ।

"क्या कोई भूकम्प आया था, जिससे दीवारमें यह दरार पड़ गई?"

बड़े महत्त्वका प्रश्न है। इस अर्थमें भी कि यह बातको खिलनेका, आगे बढ़नेका, अवसर देता है और इस अर्थमें भी कि ठीक समयपर पूछा गया है। ऐसे प्रश्नोंका उत्तर देनेमें एक अपूर्व आनन्द आता है, तो उत्तर यह है आपके प्रश्नका—

जी हाँ, एक भूकम्प आया था, जिससे दीवारमें यह दरार पड़ गई और लीजिये आपको कोई नया प्रश्न न पूछना पड़े, इसलिए मैं अपनी ओरसे ही कहे दे रहा हूँ कि यह दीवार थी मानसिक विचारोंकी, मानसिक विश्वासों-की, इसलिए यह भूकम्प भी किसी प्रान्त या प्रदेशमें नहीं उठा, मेरे मानसमें ही उठा था।

"मानसमें भूकम्प उठा था?"

हाँ जी, मानसमें भूकम्प उठा था और भूकम्प क्या कोई धरती थोड़े ही हिली थी, आकाश थोड़े ही काँपा था, एक तेजस्वी पुरुषका अनुभव ही वह भूकम्प था, जिसने मुझे हिला दिया।

वे तेजस्वी पुरुष थे स्वर्गीय पंजाब-केशरी लाला लाजपतराय। अपने महान् राष्ट्रकी पराधीनताके दीन दिनोंमें जिन लोगोंने अपने रक्तसे गौरवके दीपक जलाये और जो घोर अन्धकार और भयंकर बवंडरोंके झकझोरोंमें जीवन भर खेल, उन दीपकोंको बुझनेसे बचाते रहे, उन्हींमें एक थे वे लालाजी। उनकी कलम और वाणी दोनोंमें तेजस्विताकी ऐसी किरणें थीं कि वे फूटतीं, तो अपने मुग्ध हो जाते और पराये भौंचक!

वे उन्हीं दिनों सारे संसारमें घूमे थे। उनके व्यक्तित्वके गठनमें उनके परिवार, उनके पास-पड़ौस और उनके नगरने अपने [illegible] उन्हें भेंट दी थी। अजी, क्या बात थी उनके व्यक्तित्वकी! क्या देखनेमें, क्या सुननेमें, वे एक अपूर्व मनुष्य थे। कौन था दुनियामें, जिसपर वे मिलते

ही छा न जाते, पर संसारके देशोंमें घूमकर वे अपने देशमें लौटे, तो उन्होंने अपना सारा अनुभव एक ही वाक्यमें भरकर बखेर दिया। वह अनुभव ही तो वह भूकम्प था, जिसने मेरी पूर्णताको एक ही ठसकमें अपूर्णताकी कसकसे भर दिया।

उनका वह अनुभव यह था—"मैं अमेरिका गया, इंगलैण्ड गया, फ्रांस गया और संसारके दूसरे देशोंमें भी घूमा, पर जहाँ भी मैं गया, भारतवर्षकी गुलामीकी लज्जाका कलंक मेरे माथेपर लगा रहा।"

क्या सचमुच यह अनुभव एक मानसिक भूकम्प नहीं है, जो मनुष्यको झकझोरकर कहे कि किसी मनुष्यके पास संसारके ही नहीं, यदि स्वर्गके भी सब उपहार और साधन हों, पर उसका देश गुलाम हो या किसी भी दूसरे रूपमें हीन हो, तो वे सारे उपहार और साधन उसे गौरव नहीं दे सकते ?

इस अनुभवकी छायामें मैं सोचता हूँ कि मेरा यह कर्तव्य है कि मुझे निजी रूपमें सारे संसारका राज्य भी क्यों न मिलता हो, मैं कोई ऐसा काम न करूँ, जिससे मेरे देशकी स्वतन्त्रताको, दूसरे शब्दोंमें उसके सम्मानको धक्का पहुँचे, उसकी किसी भी प्रकारकी शक्तिमें कमी आये। साथ ही उसके एक नागरिकके रूपमें मेरा यह अधिकार भी है कि अपने देशके सम्मान-का पूरा-पूरा भाग मुझे मिले और उसकी शक्तियोंसे अपने सम्मानकी रक्षा-का मुझे, जहाँ भी मैं हूँ भरोसा रहे !

"अजी भला, एक आदमी अपने इतने बड़े देशके लिए कर ही क्या सकता है? फिर कोई बड़ा वैज्ञानिक हो, तो वह अपने आविष्कारोंसे ही देशको कुछ बल दे दे या फिर कोई बहुत बड़ा धनपति हो, तो वह अपने धनका भामाशाहकी तरह समयपर त्याग करके ही कुछ काम आ सकता है, पर हरेक आदमी न तो ऐसा वैज्ञानिक ही हो सकता है, न धनिक ही। फिर जो बेचारा अपनी ही दाल-रोटीकी फ़िक्रमें लगा हुआ हो, वह अपने देशके लिए चाहते हुए भी क्या कर सकता है?"

आपका प्रश्न विचारोंको उत्तेजना देता है, इसमें कोई संदेह नहीं,

पर इसमें भी सन्देह नहीं कि इसमें जीवन-शास्त्रका घोर अज्ञान भी भरा हुआ है। अरे भाई, जीवन कोई आपके मुन्नेकी गुड़िया थोड़े ही है कि आप कह सकें कि बस यह है, इतना ही है। वह तो एक विशाल समुद्रका तट है, जिसपर हरेक अपने लिए स्थान पा सकता है।

लो, एक और बात बताता हूँ आपको। जीवनको दर्शन-शास्त्रियोंने बहुमुखी बताया है, उसकी अनेक धारायें हैं। सुना नहीं आपने कि जीवन एक युद्ध है और युद्धमें कोई एक लड़ना ही तो काम नहीं होता। लड़ने वालोंको रसद न पहुँचे, तो वे कैसे लड़ें? किसान ठीक खेती न उपजायें, तो रसद पहुँचानेवाले क्या करें और लो, जाने दो बड़ी-बड़ी बातें, युद्धमें जय बोलनेवालोंका भी महत्त्व है।

"जय बोलनेवालोंका?"

हाँ जी, युद्धमें जय बोलनेवालोंका भी बहुत महत्त्व है। कभी मैच देखने-का तो अवसर मिला ही होगा आपको? देखा नहीं आपने कि दर्शकोंकी तालियोंसे खिलाड़ियोंके पैरोंमें बिजली लग जाती है और छिपे [illegible] उभर जाते हैं। कवि-सम्मेलनों और मुशायरोंकी सारी सफलता दाद देनेवालोंपर ही निर्भर करती है। इसलिए मैं अपने देशका कितना भी साधारण नागरिक क्यों न हूँ, अपने देशके सम्मानकी रक्षाके लिए बहुत कुछ कर सकता हूँ। 'इकला चना क्या भाड़ फोड़े!' यह कहावत मैं अपने अनुभवके आधारपर ही आपसे कह रहा हूँ कि सौ फ़ीसदी झूठ है। इतिहास साक्षी है, बहुत बार इकले चनेने ही भाड़ फोड़ा है और ऐसा फोड़ा है कि भाड़ खील-खील ही नहीं हो गया, उसका निशान तक ऐसा छूमन्तर हुआ कि कोई यह भी न जान पाये कि वह बेचारा आखिर था कहाँ?

मैं जानता हूँ इतिहासकी गहराइयोंमें उतरनेका यह समय नहीं है, पर दो छोटी कहानियाँ तो सुन ही सकते हैं आप? और कहानियाँ भी न प्रेमचन्दकी, न एन्तन चेखवकी, दो युवकोंके जीवनकी दो घटनाएँ हैं, पर उन दो घटनाओंमें वह शक्ति इतनी साफ़ है, जो नागरिक और देशको एक साथ

बाँधती है कि आप दो बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़कर भी उसे इतनी साफ़ नहीं देख सकते।

हमारे देशके महान् सन्त स्वामी रामतीर्थ एक बार जापान गये। वे रेलमें यात्रा कर रहे थे कि एक दिन ऐसा हुआ कि उन्हें खानेको फल न मिले और उन दिनों फल ही उनका भोजन था। गाड़ी एक स्टेशन पर ठहरी, तो वहाँ भी उन्होंने फलोंकी खोज की, पर वे पा न सके। उनके मुँहसे निकला—"जापानमें शायद अच्छे फल नहीं मिलते!"

एक जापानी युवक प्लेटफार्मपर खड़ा था। वह अपनी पत्नीको रेलमें बिठाने आया था, उसने ये शब्द सुन लिये। सुनते ही वह अपनी बात बीचमें ही छोड़कर भागा और कहीं दूरसे एक टोकरी ताजे फल लाया। वे फल उसने स्वामी रामतीर्थको भेंट करते हुए कहा—"लीजिये, आपको ताजे फलोंकी जरूरत थी।"

स्वामीजीने समझा यह कोई फल बेचनेवाला है और उनके दाम पूछे, पर उसने दाम लेनेसे इन्कार कर दिया। बहुत आग्रह करनेपर उसने कहा—"आप इनका मूल्य देना ही चाहते हैं, तो वह यह है कि आप अपने देशमें जाकर किसीसे यह न कहियेगा कि जापानमें अच्छे फल नहीं मिलते।"

स्वामीजी युवकका यह उत्तर सुन मुग्ध हो गये और वे क्या मुग्ध हो गये, उस युवकने अपने इस कार्यसे अपने देशका गौरव जाने कितना बढ़ा दिया।

इस गौरवकी ऊँचाईका अनुमान आप दूसरी घटना सुनकर ही पूरी तरह लगा सकेंगे। एक दूसरे देशका निवासी एक युवक जापानमें शिक्षा लेने आया। एक दिन वह सरकारी पुस्तकालयसे कोई पुस्तक पढ़नेको लाया। उस पुस्तकमें कुछ दुर्लभ चित्र थे। ये चित्र इस युवकने पुस्तकमेंसे निकाल लिये और पुस्तक वापस कर आया। किसी जापानी विद्यार्थीने यह देख लिया और पुस्तकालयको उसकी सूचना दे दी। पुलिसने तलाशी

लेकर वे चित्र उस विद्यार्थीके कमरेसे बरामद किये और उस विद्यार्थीको जापानसे निकाल दिया गया।

मामला यहींतक रहता, तो कोई बात न थी। अपराधीको दण्ड मिलना ही चाहिए, पर मामला यहीं तक नहीं रुका और उस पुस्तकालयके बाहर बोर्डपर लिख दिया गया कि उस देशका (जिसका वह विद्यार्थी था) कोई निवासी इस पुस्तकालयमें प्रवेश नहीं कर सकता !

मतलब साफ़ है, एकदम साफ़ कि जहाँ एक युवकने अपने कामसे अपने देशका सिर ऊँचा किया था, वहीं एक युवकने अपने कामसे अपने देशके मस्तकपर कलंकका ऐसा टीका लगाया, जो जाने कितने वर्षोंतक संसारकी आँखोंमें उसे लांछित करता रहा।

इन घटनाओंसे क्या यह स्पष्ट नहीं है कि हरेक नागरिक अपने देशके साथ बंधा हुआ है और देशकी हीनता और गौरवका ही फल उसे नहीं मिलता, उसकी हीनता और गौरवका फल भी उसके देशको मिलता है।

मैं अपने देशका एक नागरिक हूँ और मानता हूँ कि मैं ही अपना देश हूँ। जैसे मैं अपने लाभ और सम्मानके लिए हरेक छोटी-छोटी बातपर ध्यान देता हूँ, वैसे ही मैं अपने देशके लाभ और सम्मानके लिए भी छोटी-छोटी बातोंतक पर ध्यान दूँ, यह मेरा कर्तव्य है और जैसे मैं अपने सम्मान और साधनोंसे अपने जीवनमें सहारा पाता हूँ, वैसे ही देशके सम्मान और साधनोंसे भी सहारा पाऊं, यह मेरा अधिकार है। बात यह है कि मैं और मेरा देश दो अलग चीज तो हैं ही नहीं !

मैंने जो कुछ जीवनमें अध्ययन और अनुभवसे सीखा है, वह यही है कि महत्त्व किसी कार्यकी विशालतामें नहीं है, उस कार्यके करनेकी भावनामें है। बड़ेसे बड़ा कार्य हीन है, यदि उसके पीछे अच्छी भावना नहीं है और छोटेसे छोटा कार्य भी महान् है, यदि उसके पीछे अच्छी भावना है।

महान् कमालपाशा उन दिनों अपने देश तुर्कीके राष्ट्रपति थे। राजधानीमें उनकी वर्षगाँठ बहुत धूमधामसे मनाई गई। देशके लोगोंने उस दिन

लाखों रुपयोंके उपहार उन्हें भेंट किये। वर्षगाँठका उत्सव समाप्तकर जब वे अपने भवनमें ऊपर चले गये, तो एक देहाती बूढ़ा उन्हें वर्षगाँठका उपहार भेंट करने आया। सेक्रेटरीने कहा—"अब तो समय बीत गया है।" बूढ़ेने कहा—"मैं तीस मीलसे पैदल चलकर आ रहा हूँ, इसीलिए मुझे देर हो गई।"

राष्ट्रपतितक उसकी सूचना भेजी गई। कमालपाशा विश्रामके वस्त्र बदल चुके थे। वे उन्हीं कपड़ोंमें नीचे चले आये और उन्होंने आदरके साथ बूढ़े किसानका उपहार स्वीकार किया। यह उपहार मिट्टीकी छोटी हँडियामें पावभर शहद था, जिसे बूढ़ा स्वयं तोड़कर लाया था। कमाल-पाशाने हँडियाको स्वयं खोला और उसमेंसे दो उंगलियाँ भरकर चाटनेके बाद तीसरी उंगली शहदमें भरकर बूढ़ेके मुंहमें दे दी। बूढ़ा निहाल हो गया।

राष्ट्रपतिने कहा—"दादा, आज सर्वोत्तम उपहार तुमने ही मुझे भेंट किया, क्योंकि इसमें तुम्हारे हृदयका शुद्ध प्यार है।" उन्होंने आदेश दिया कि राष्ट्रपतिकी शाही कारमें शाही सम्मानके साथ उनके दादाको गाँवतक पहुँचाया जाय।

क्या वह शहद बहुत क़ीमती था? क्या उसमें मोती-हीरे मिले हुए थे? ना, उस शहदके पीछे उसके लानेवालेकी भावना थी, जिसने उसे सौ लालोंका एक लाल बना दिया!

हमारे देशमें भी एक ऐसी ही घटना घटी थी। एक किसानने रंगीन सुतलियोंसे एक खाट बुनी और उसे रेलमें रखकर वह दिल्ली लाया। दिल्ली स्टेशनसे उस खाटको अपने कन्धेपर रखे, वह भारतके प्रधान मन्त्री पंडित नेहरूकी कोठीपर पहुँचा। पण्डितजी कोठीसे बाहर आये, तो वह खाट उसने उन्हें दी। पण्डितजीको देखकर, वह इतना भाव-मुग्ध हो गया कि कुछ कह ही न सका! पण्डितजीने पूछा—"क्या चाहते हो तुम?"

उसने कहा—"यही कि आप इसे स्वीकार करें।" प्रधान मन्त्रीने उसका यह उपहार स्वीकार ही नहीं किया अपना एक फोटो दस्तखत करके उसे स्वयं भी उपहारमें दिया। जिस दस्तखती फोटोके लिए देशके बड़े-

बड़े लोग, विद्वान् और धनी तरसते हैं, वह क्या उस मामूली खाटके बदलेमें दिया गया था? ना, वह तो उस खाटवालेकी भावनाका ही सम्मान था!

"क्यों जी, हम यह कैसे जान सकते हैं कि हमारा काम देशके अनुकूल है या नहीं?"

वाह, क्या सवाल पूछा है, आपने! सवाल क्या, बातचीतमें आपने तो एक क़ीमती मोती ही जड़ दिया यह, पर इसके उत्तरमें सिर्फ़ 'हाँ' या 'ना' से काम न चलेगा। मुझे थोड़ा विवरण देना पड़ेगा।

हम अपने कार्योंको देशके अनुकूल होनेकी कसौटीपर कसकर चलनेकी आदत डालें, यह बहुत उचित है, बहुत सुन्दर है, पर हम इसमें तब तक सफल नहीं हो सकते, जबतक कि हम अपने देशकी भीतरी दशाको ठीक न समझ लें और उसे हमेशा अपने सामने न रक्खें।

हमारे देशको दो बातोंकी सबसे पहले और सबसे ज्यादा ज़रूरत है। एक शक्ति-बोध और दूसरा सौंदर्य-बोध! बस हम यह समझ लें कि हमारा कोई भी काम ऐसा न हो, जो देशमें कमज़ोरीकी भावनाको बल दे, या कुरुचिकी भावनाको ही।

"ज़रा अपनी बातको और स्पष्ट कर दीजिये!" यह आपकी राय है और मैं इससे बहुत ही खुश हूँ कि आप मुझसे यह स्पष्टता माँग रहे हैं।

क्या आप चलती रेलोंमें, मुसाफ़िरखानोंमें, क्लबोंमें, चौपालोंपर और मोटर बसोंमें कभी ऐसी चर्चा करते हैं कि हमारे देशमें यह नहीं हो रहा है, वह नहीं हो रहा है और गड़बड़ है, वह परेशानी है। साथ ही क्या इन स्थानोंमें या इसी तरहके दूसरे स्थानोंमें आप कभी अपने देशके साथ दूसरे देशोंकी तुलना करते हैं और इस तुलनामें अपने देशको हीन और दूसरे देशोंको श्रेष्ठ सिद्ध किया जाता है?

यदि इन प्रश्नोंका उत्तर हाँ है, तो आप देशके शक्ति-बोधको भयंकर चोट पहुँचा रहे हैं और आपके द्वारा देशके सामूहिक मानसिक बलका ह्रास हो रहा है। सुनी है आपने शल्यकी बात? वह महारथी कर्णका सारथी था।

जब भी कर्ण अपने पक्षके विजयकी घोषणा करता, हुंकार भरता, वह अर्जुनकी अजेयताका एक हल्कासा उल्लेख कर देता। बार-बारके इस उल्लेखने कर्णके सघन आत्मविश्वासमें सन्देहकी तरेड़ डाल दी, जो उसके भावी पराजयकी नींव रखनेमें सफल हो गई।

अच्छा, आप इस तरहकी चर्चा कभी नहीं करते, तो मैं आपसे दूसरा प्रश्न पूछता हूँ। क्या आप कभी केला खाकर छिलका रास्तेमें फेंकते हैं? अपने घरका कूड़ा बाहर फेंकते हैं? मुँहसे गन्दे शब्दोंमें गन्दे भाव प्रकट करते हैं? इधरकी उधर, उधरकी इधर लगाते हैं? अपना घर, दफ्तर, गली, गन्दा रखते हैं? होटलों-धर्मशालाओंमें या दूसरे ऐसे ही स्थानोंमें, जीनोंमें, कोनोंमें पीक थूकते हैं? उत्सवों, मेलों, रेलों और खेलोंमें ठेलमठेल करते हैं और इसी तरह किसी भी रूपमें क्या सुरुचि और सौंदर्यको आपके किसी कामसे ठेस लगती है?

यदि आपका उत्तर हाँ है, तो आपके द्वारा देशके सौंदर्यबोधको भयंकर आघात पहुँच रहा है और आपके द्वारा देशकी संस्कृतिको गहरी चोट पहुँच रही है।

"क्या कोई ऐसी कसौटी भी बनाई जा सकती है, जिससे देशके नागरिकोंको आधार बनाकर देशकी उच्चता और हीनताको हम तोल सकें?"

लीजिये, चलते-चलते आपके इस प्रश्नका भी उत्तर दे ही दूँ। इस उच्चता और हीनताकी कसौटी है चुनाव!

जिस देशके नागरिक यह समझते हैं कि चुनावमें किसे अपना मत देना चाहिए और किसे नहीं, वह देश उच्च है और जहाँके नागरिक गलत लोगोंके उत्तेजक नारों या व्यक्तियोंके गलत प्रभावमें आकर मत देते हैं, वह हीन है।

इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि मेरा और हरेक नागरिकका यह कर्तव्य है कि वह जब भी कोई चुनाव हो ठीक मनुष्यको अपना मत दे और मेरा अधिकार है कि मेरा मत लिये बिना कोई भी आदमी, वह संसारका सर्वश्रेष्ठ महापुरुष ही क्यों न हो, किसी अधिकारकी कुर्सीपर न बैठ सके।

मैं और मैं

"जब देखो गुमसुम, जब देखो गुमसुम ! अरे भाई, तुम्हें क्या साँप सूंघ गया है कि सुबहके सुहावने समयमें यों चुपचाप बैठे हो। तुमसे अच्छे तो देवीकुण्डके कछवे ही हैं कि तैरते नजर तो आ रहे हैं। उठो, दो-चार किलकारियाँ भरो और अंगीठीके पेटमें गोला डालो, जिससे अपना भी पेट गरमाये !"

ओहो, तुम कहाँसे आ टपके इस समय ? कोई कितनी ही गंभीर मूडमें हो, विचारोंकी कितनी ही गहराइयोंमें उतर रहा हो, तुम्हारी आदत है बीचमें आ कूदना और फैलाने लगना लन्तरानियोंके लच्छे—एकके बाद एक ? सच यह है कि यह बहुत बुरी आदत है।

"तो हम लन्तरानियोंके लच्छे फैलाते हैं और तुम गंभीर मूडमें रहते हो। सचाई यह है भाई जान, कि जमाना बहुत खराब है। जिस गधेको नमक दो, वही कहता है कि मेरी आँख फोड़ दी। हम जा रहे थे अपने काम, तुम्हें दूरसे देखा सुस्त, रास्ता काटकर इधर आये कि देखें माजरा क्या है और मामला कुछ गड़बड़ हो, तो कुछ मदद करें, पर तुम्हारे तेवर कुछ ऐसे बदले हुए हैं कि जैसे हम सुबह-सुबह चार आने उधार माँगने आ गये हों और इससे पहले इसी तरह हाथ उधार उठाये रुपये तुमने अभी तक वापस न किये हों। बहुत अच्छे रहे !"

ना, ना, यह बात नहीं है। तुम्हारा आना सर आँखोंपर, तुम भी यह क्या बात कह रहे हो, पर बात यह है कि मैं इस समय बहुत गहरे चिंतनमें था और लो बताऊँ तुम्हें, गहरे चिंतनमें क्या था, मैं अपने आपमें खोया हुआ हूँ आज !

"वाह भाई वाह; क्या कहने ! लो, फिर बताऊँ तुम्हें मैं भी एक बात कि

आज तुमने ऐसी टूनकी हाँकी कि अबतकके सब छौंक मात हो गये। हाँ जी, तो आज तुम अपने आपमें खोये हुए हो। मियाँ, खोये हुए हो, तो डौण्डी पिटवाओ या पुलिसमें रिपोर्ट लिखाओ, खड़े-खड़े क्या देख रहे हो भोंगे बम्बूल-से!"

तुम भी अजब आदमी हो कि मैं कह रहा हूँ सत-सुभाव एक गहरी बात और तुम उड़ा रहे हो गुलटप्पे; पर बात यह है कि पढ़ाईके लिए एक पैसा कभी किसी मास्टरको तुमने दिया नहीं, अक्ल आये भी तो कहाँसे? लो, फिर मैं भी आज तुम्हें तुम्हारे ही जैसोंकी एक कहानी सुनाता हूँ। उसे सुनकर तुम समझोगे कि कैसे आदमी अपने आपमें खोया जाता है।

पाँच आदमी आपसमें गहरे दोस्त थे। करने-धरनेको कुछ नहीं, खानेको दोनों समय रोटी और पीनेको भंग चाहिए—पाँचों पक्के भंगड़ी—पियें और धुत्त पड़े रहें। एक दिन कहीं मन्दिरमें बैठे घोंट रहे थे कि उन पाँचोंकी स्त्रियाँ इकट्ठी होकर जा पहुँचीं और लगीं दिलके गुब्बार निकालने, जो दस-पाँच आदमी वहाँ और थे, उन्होंने भी इन स्त्रियोंकी बातका समर्थन किया। वहीं [illegible] हुई और पाँचोंने कहीं परदेशमें जाकर रोज़गार कमानेका [illegible] किया।

पाँचों चल पड़े। चलते-चलते आपसमें सलाह की कि भाई, होशियारीसे चलियो, कहीं रास्तेमें ऐसा न हो कि झाँझ हो जाए ज़रा गहरी और कोई खोया जाए—लौटकर उसकी घरवालीको क्या जवाब देंगे फिर! कुछ दूर गये, रात हुई, एक मन्दिरमें पड़कर सो गये। सुबह उठते ही तय पाया कि भाई, पहले गिन लो, सब चौकस भी हैं!

उनमेंसे एकने सबको गिना—एक, दो, तीन, चार। फिर गिना—एक, दो, तीन, चार! ज़ोरसे चिल्लाकर कहा—अरे, हम तो पाँच घरसे चले थे, ये तो रात भरमें ही चार रह गये! दूसरेने दुबारा सबको गिना, पर वही चारके चार। तीसरेने गिना, तब भी चार ही रहे। मामला संगीन

हो गया और तै पाया कि लौटकर घर चलें---शायद पाँचवाँ आदमी रातमें घर लौट गया हो ।

रास्तेमें सबके सब रोते-पीटते लौट रहे थे कि एक समझदार आदमी मिला। उसने इन्हें रोककर पूछा कि वे किस मुसीबतमें हैं। इन्होंने बताया कि हम घरसे पाँच चले थे, पर रात भरमें चार ही रह गये। उस आदमीने इन्हें गिना, तो ये पाँच थे! उसने कहा---भले आदमियो, तुम घरसे पाँच चले थे और पाँच ही अब हो, तो रो क्यों रहे हो?

अब इन भंगड़ियोंमेंसे एकने फिर सबको गिना---एक, दो, तीन, चार!

समझदारने कहा---"अरे भोंदू, अपनेको तो गिन।" अब इन लोगोंकी समझमें आया कि मामला यह है कि जो गिनता है, अपनेको भूल जाता है। वही हाल मेरा हो रहा है कि मैंने घरकी सोची, पड़ौसकी सोची, नगरकी सोची, देशकी सोची और यों समझो कि दुनियाकी बातें सोच मारीं, पर अपनी बात भूल गया और कभी यह न सोचा कि आखिर मेरा मेरे प्रति क्या कर्तव्य है और क्या अधिकार है। आज मैं यही सोच रहा था कि तुम आ गये। कहो फिर मैं गहरे चिंतनमें था या नहीं?

"भाई, बात तो तुम्हारी कुछ पतेकी-सी लगती है कि हम दुनियाकी बात सोचते हैं, पर अपनी नहीं और सच बात बड़े कह गये हैं कि 'आप मरे जग परलो'---यानी हम मर गये, तो दुनिया मर गई। हम नहीं तो जहान नहीं, बात मनको लगती है, पर अपने बारेमें सोचें ही क्या?"

नहीं सोचते, तो लिखाओ पशुओंमें नाम; क्योंकि जो सोचता नहीं, वह पशु है---जानवर है।

"तो हम पशु हैं आपकी रायमें? वाह साहब, आप हमें पशु बता रहे हैं, पर भाई, यह तो बताओ कि तुम्हें हमारी पूँछ और सींग किधर दिखाई दिये हैं?"

पूँछ और सींग? पशु बननेके लिए पूंछ और सींगकी जरूरत नहीं पड़ती। बात यह है कि पशुता और मनुष्यता दो भाव हैं। जो पहले सोचे

और फिर चले, वह मनुष्य और जो सोचे कुछ नहीं, बस जिधर हवा ले जाये, चला चले वह पशु—अब आई तुम्हारी समझमें मेरी बात ?

"तो सोचना जरूरी है !"

जी हाँ, सोचना जरूरी है और अपने बारेमें सोचना जरूरी है। मैं यही जरूरी काम कर रहा था, जब तुम आये !

महाकवि शेखसादी एक दिन अपने बेटेके साथ सुबहकी नमाज़ पढ़कर लौट रहे थे। उनके बेटेने देखा कि रास्तेके दोनों तरफ़वाले घरोंमें अभीतक बहुतसे आदमी सोये पड़े हैं। उसने अपने पितासे कहा—"अब्बा, ये लोग कितने पापी हैं कि अभीतक पड़े सो रहे हैं और नमाज पढ़ने नहीं गये !"

विचारक शेखसादीने दुखभरे स्वरमें कहा—"बेटा, बहुत अच्छा होता कि तू भी सोता रहता और नमाज़ पढ़ने न आता !"

बेटेने आश्चर्यसे पूछा—"यह आप क्या कह रहे हैं मेरे अब्बा !"

शेखसादीने और भी गहरेमें डूबकर कहा—"तब तू दूसरोंकी बुराई खोजनेके इस भयंकर पापसे तो बचा रहता मेरे बेटे !"

मतलब यह कि अपने बारेमें सबसे पहले जो बात सोचनेकी है, वह यह कि मेरा यह अधिकार है कि मैं अच्छे काम करूँ, अपने जीवनको ऊँचा उठाऊँ, पर मेरा यह कर्तव्य भी है कि जो किसी कारणसे अच्छे काम नहीं कर रहे हैं, या साफ़ शब्दोंमें गिरे हुए हैं, उन्हें अपने कामोंसे ऊँचे उठनेकी प्रेरणा देते हुए भी, उनपर अपने अहंकारका बोझ न लादूँ, क्योंकि अहंकार घृणाका पिता है और घृणा जीवनकी संपूर्ण ऊँचाइयोंकी दुश्मन है !

खास बात यह है कि घृणा उसका घात करती है, जो घृणा करता है और इस तरह मैं दूसरोंसे घृणा करके अपना ही घात करता हूँ।

"तो घृणाका रोकना जरूरी है ?"

हाँ जी, घृणाको रोकना—उसे उत्पन्न ही न होने देना, बहुत जरूरी है, पर रोकनेकी बात कहकर तुमने मुझे एक पुरानी बात याद दिला दी।

मेरे एक मित्र हैं श्री [illegible]जी ! उन्हें अपने जीवनमें पहली असफलता

यह मिली कि वे इंट्रेंस पास न कर सके और नाइन्थमें ही उन्हें स्कूलको नमस्कार करना पड़ा।

इसके कुछ दिन बाद ही इन्होंने एक छोटा-सा प्रेस खोल लिया। साझी समझदार था, क़र्ज़ा प्रेसके नाम लिखता रहा, आमदनी अपने। प्रेस फ़ेल हो गया और मेरे मित्र चौराहेपर खड़े दिखाई दिये।

अपने पिताकी पूरी पूँजी लगाकर उन्होंने बरतनोंका एक कारख़ाना खोल लिया। बर्तन बनते, क़लई होती, रुपये छनका करते। सेठोंमें गिनती होने लगी, पर तभी उनकी पत्नी बीमार हो गई। उसे लिये इरविन अस्पताल पड़े रहे। कारख़ाना मज़दूर खा गये। पाँच महीने बाद लौटकर आये, तो लेना कम था, देना बहुत। यहाँ भी ताला बन्द किया। पंसारीकी थोक दूकान की। मेवाके ढेर लग गये—ढेरों आतीं, बोरियों जातीं। फिर रुपया बरसने लगा, पर जाने कैसे ये घटाएं भी छितरा गईं और पत्नीका सारा ज़ेवर बेचकर जान छूटी।

ख़ाली तो रह ही न सकते थे। घरसे दूर जाकर होटल खोल लिया। चला, चमका और ठप हो गया। वहाँसे भी हटे और अपने संबंधीकी सोडा-वाटर फ़ैक्टरीमें बैठने लगे। वहाँसे एक बीमा कंपनीमें गये, ख़ूब चमके। बीमा कंपनीमें डाइरेक्टरोंका कुछ झमेला मचा, तो इन्होंने शर्बतकी दूकान खोल ली और एक अख़बार निकाल दिया। दोनों ख़ूब चले, पर चलकर टिके नहीं, चले ही गये।

अब ये एक बहुत बड़ी कंपनीके मैनेजिंग-डाइरेक्टर थे। यहाँ ये ऐसे चमके कि पिछली सब चमकें धीमी पड़ गईं। एक बार तो ऐसी हवा बन्धी कि गाँठ बन्ध गई, पर फिर वे ही बहुत-सी बातें इकट्ठी हुईं और कंपनीमें ताला पड़ा।

मेरे मित्र अब पुस्तक-प्रकाशक थे। बाज़ार उनकी पुस्तकोंसे छाया हुआ था, धूम थी। ख़ूब ज़ोर रहे। देश स्वतन्त्र हुआ, उन्हें एक यात्राके बीचमें एक जातिके लोगोंने उतार लिया और जाने कितने दिन बन्दी रहे।

जाने कैसे बचे और कहाँ-कहाँ भटकते रहे। बहुत दिन बाद एक पत्रकारके रूपमें प्रकट हुए और अब शान्तिके साथ सम्मानकी और व्यवस्थाकी जिन्दगी बिता रहे हैं।

उन्हें देखकर बराबर मेरा दिमाग़ चक्करमें रहता कि ये सज्जन कितने अद्‌भुत हैं कि इतनी असफलताओंके थपेड़े खाकर भी निराश नहीं हुए। मैं उनके बारेमें बहुत सोचता, पर उनके व्यक्तित्वका रहस्य न समझ पाता!

एक दिन एक दूसरे मित्र आये श्री सिंहल! उनका कारखाना भी फ़ेल हो गया था और वे उसका मामला निमटानेमें मेरा सहयोग चाहते थे। उनकी दो मोटरें बिकनी थीं, पर पूरे दाम देनेवाला कोई गाहक बाज़ारमें न था। एक दिन बहुत ऊबे हुए मेरे पास आकर बोले—"लो भाई साहब, जितनेमें बिकती हैं, उतनेहीमें बेच दें, पर यह मामला निमटा दें।"

मैंने कहा—"मामला तो निमटाना ही है, पर १० हज़ारकी गाड़ियाँ ६ हज़ारमें कैसे बेच दूं?"

बोले—"छः हज़ारमें ही बेच दीजिए। बात यह है कि यह मामला निमट जाए, तो मैं 'फ्रैश स्टार्ट' ले सकता हूँ!"

मेरे कानोंमें पड़ा 'फ्रैश स्टार्ट'—इसका अर्थ होता है—'नया-ताजा आरंभ!' सुनते ही मुझे एक नई ताजगी अनुभव हुई और मैंने सोचा—हर नया आरंभ अपने साथ एक ताज़गी, एक तेज़ी, एक स्फुरणा, लिये आता है।

तभी याद आ गये मुझे फिर कौशल जी, जो जीवनमें बार-बार असफल होकर भी थके नहीं, ऊबे नहीं और बराबर आगे बढ़ते रहे और आज ही पहली बार मेरी समझमें आया, उनकी उस आशान्वित वृत्तिका रहस्य। यह रहस्य है—नया-ताज़ा आरंभ! वे हारे, पर हारकर रुके नहीं और इस न रुकनेमें ही उनकी सफलताका रहस्य छिपा हुआ है।

मैंने सोचा—मेरा अपने प्रति यह अधिकार है कि मैं हार जाऊँ, थक जाऊँ, गिर भी पड़ूँ और भूलूँ-भटकूँ भी, क्योंकि यह सब एक मनुष्यके

नाते मेरे लिए स्वाभाविक है—संभव है, पर मेरा यह कर्तव्य है कि मैं हारकर भागूँ नहीं, थककर बैठूँ नहीं, गिरकर गिरा ही न रहूँ और भूल-भटककर भरमता ही न फिरूँ! जल्दीसे जल्दी अपनी राहपर आ जाऊँ, अपने काममें लग जाऊँ और एक नया आरंभ करूँ, क्योंकि रुक जाना ही मेरी मृत्यु है और मरनेसे पहले मरना, न मेरा अधिकार है न कर्तव्य!

अभी मैंने कहा कि रुक जाना ही मेरी मृत्यु है और यह बिलकुल ठीक कहा है मैंने, पर एक बात बताऊँ तुम्हें कि रुक जाना ही जीवनकी सबसे बड़ी कला है—बुद्धिकी सबसे बड़ी कसौटी है यह प्रश्न कि कहाँ रुकूँ?

"वाह भाई वाह, अभी कह रहे थे कि रुक जाना मृत्यु है, अभी कह रहे हो, यह जीवनकी सबसे बड़ी कला है और साथ ही यह भी कि दोनों बातें सोलह आने सच हैं। आखिर, बात करते हो या मज़ाक़ छौंकते हो?"

जी, मज़ाक़ नहीं छौंकता, बात करता हूँ और बड़े पतेकी बात करता हूँ, जैसी हरेक कर नहीं सकता। इन बातोंके पीछे मेरा पच्चीस वर्ष, यानी पूरी चौथाई शताब्दीका अध्ययन ही नहीं, अनुभव भी है। रुक जाना ही मृत्यु है, यह तो तुम भी मानते हो, पर बुद्धिकी सबसे बड़ी कसौटी है यह प्रश्न कि कहाँ रुकूँ! और यह अनुभव इंगलैण्डके भूतपूर्व विदेश-मन्त्री एन्थोनी ईडनका है, कुछ मेरा नहीं!

"ऐन्थोनी ईडनका यह अनुभव है कि मैं कहाँ रुकूँ, यह प्रश्न बुद्धिकी सबसे बड़ी कसौटी है?"

जी हाँ, लो पूरी बात ही जो सुन लो। इंगलैण्डकी पार्लमेन्टमें बोलते हुए एक बार उन्होंने युद्धके दिनोंका अपना एक संस्मरण सुनाया था।

हिटलर तूफ़ानकी तरह बढ़ा चला आ रहा था, पर तब उसकी दोस्ती रूससे टूट चुकी थी और अंग्रेज़ रूसको अपने साथ मिलानेकी कोशिशें कर रहे थे। अफ़वाहें उड़ रही थीं कि हिटलर इंगलैण्डपर चढ़ाई करेगा या रूसपर और तभी एक दिन अचानक हिटलरकी फ़ौजें रूसपर चढ़ गई थीं। तभीकी यह बात है। इंगलैण्डके विदेश-मन्त्रीकी हैसियतमें श्री ऐन्थोनी

ईडन रूसके सर्वेसर्वा श्री स्तालिनसे मिल रहे थे। हिटलरकी विजयोंसे इंगलैण्डमें भयानक तूफ़ान उठा हुआ था। महाशय स्तालिनने ईडनको विश्वास दिलाया कि वे यह विश्वास करें कि हिटलर ज़रूर पराजित हो जायगा और वह इंगलैण्डकी ओर देखनेका अवसर न पा सकेगा।

यह सुनकर ईडनको शान्ति मिली, पर वे मुसकराये। दुनियाका बड़ेसे बड़ा बुद्धिमान इस मुसकराहटका अर्थ यही लगाता कि ईडनको विश्वास नहीं हुआ है, पर [illegible] अर्थ भाँप गये और ईडनसे बोले—मैं तुम्हारी [illegible] हूँ। तुम सोच रहे हो कि हिटलर तो हार जायेगा, पर उसके बाद क्या होगा? सुनो, हिटलर बहुत बहादुर है, पर वह बढ़ना जानता है, रुकना नहीं और मैं रुकना भी जानता हूँ। महाशय स्तालिनका आशय यह था कि हिटलरको जीतनेके बाद मैं और नहीं बढ़ूँगा और बस वहीं रुक जाऊँगा, इंगलैंडको कोई ख़तरा नहीं!

है न रुकना बड़ी बात और इस बड़ी बातको अपनेमें पीकर मैं सोच रहा हूँ कि मेरा यह अधिकार है कि जीवनकी चारों ओर फैली हुई गलियोंमें मैं जिधर चाहूँ बढ़ूँ, पर [illegible] मेरा यह कर्तव्य है कि जहाँ रुकनेकी जगह है, वहाँ रुकनेमें पलभर भी न झिझकूँ, रुक जाऊँ और बस एकदम वहीं रुक जाऊँ, क्योंकि रुकनेकी जगहसे एक क़दम आगे बढ़ना भी भयंकर है!

देखा तुमने? सचाई यह है कि हरेक बातके दो पहलू हैं। जो दोनोंको साधकर चलता है, वही चतुर है। तुम मेरे पास किसी कामसे आते हो, मैं उसपर हाँ कहता हूँ। तुम मुझे कोई सेवा सौंपते हो, मैं हाँ कहता हूँ। तुम मुझसे कुछ माँगते हो, मैं हाँ कहता हूँ। तुम सब मेरी तारीफ़ करते हो, क्योंकि हाँ कहना आसान है, पर मनुष्यका चरित्र हाँमें नहीं, नामें है। हाँ, कहना आसान है, पर मनुष्य वह है कि जो ना कह सके और उस नापर टिका रह सके।

"मनुष्य वह है जो ना कह सके?"

हाँ, मनुष्य वह है जो ना कह सके ! बात यह है कि हमपर जो माँगें होती हैं, वे सब उचित ही तो नहीं होतीं ! मैं यदि अनुचित माँगपर भी हाँ कहता हूँ, तो यह मेरी चरित्र-हीनता है—भले ही यह हाँ, मैं लिहाजमें आकर कहूँ, या दबावमें आकर, या दयाके वशीभूत होकर। जहाँ मैं जाना नहीं चाहता, जब वहाँ जाता हूँ, जो करना नहीं चाहता, वह करता हूँ, चाहे उसका कारण कुछ भी हो, मैं अपने व्यक्तित्वको हीन करता हूँ। यहीं मैं कहना चाहता हूँ कि मेरा कर्तव्य है कि मैं दूसरोंके लिए जो कर सकता हूँ करूँ, जरूर करूँ, पर जो नहीं कर सकता, नहीं करना चाहता, करना उचित नहीं समझता, उसके लिए ना कहूँ, और चाहे जो हो इस नाको हाँमें न बदलने दूँ।

मैं एक हूँ और मुझसे अलग जो दूसरे हैं, वे अनेक हैं। यही व्यष्टि और समष्टि है। हमारे राष्ट्रके जीवन-शास्त्रने जो महान् खोज की है, वह है व्यष्टि और समष्टिकी एकता—'यद् व्यष्टौ, तत्समष्टौ'—जो व्यष्टिमें है, वही समष्टिमें है। मतलब यह है कि मैं अपनेमें पूर्ण होकर भी, इकला होकर भी, समष्टिका, सारे संसारका प्रतिनिधि हूँ और इस सुखकी अनुभूतिसे जो मस्ती मनमें आती है, उसमें झूमकर कहना चाहूँ, तो कह सकता हूँ कि मैं ही संसार हूँ।

यह क्या कोई साधारण बात है ? ना, मैं इसे अनुभव करता हूँ, इसलिए इसका गौरव भी ग्रहण करता हूँ; क्योंकि बाहरी दृष्टिसे तो मैं इस विशाल संसारका एक अणु हूँ, एक जर्रा हूँ, जिसका कुछ भी महत्त्व नहीं, जिसको कोई भी ठुकरा सकता है, पर यह नया दृष्टिकोण तो मुझे अणुकी जगह विराट्, लहरकी जगह समुद्र और हीनकी जगह महान् घोषित करता है। ओह, कितना सुख है इस नये दृष्टिकोणके अनुभवमें !

हाँ, इसमें बहुत गौरव है, बहुत सुख है, पर क्या मैं इस गौरव और सुख-का आनन्द लेकर ही रह जाऊँ ? ना, हर गौरव अपने साथ, कुछ उत्तर-दायित्व, कुछ जिम्मेदारियाँ लेकर आता है। यदि हम इस उत्तरदायित्वको,

इस जिम्मेदारीको अनुभव न करें, न निबाहें, तो वह गौरव कुछ ही समयमें क्षीण होने लगता है और फिर नष्ट हो जाता है।

इस विचारकी छायामें मैं सोचता हूँ कि मेरा यह अधिकार है कि मैं अपनेमें समष्टिके, समाजके प्रतिनिधि होनेका गौरव अनुभव करूँ और मेरा कर्तव्य है कि मैं इस गौरवके अनुरूप अपनी जिम्मेदारियाँ भी समझूँ और उन्हें निबाहूँ।

मेरे अधिकार और मेरे कर्तव्य मुझे सब तरहकी हीनताओंसे, दूषणोंसे, कमियोंसे, त्रुटियोंसे, बुराइयोंसे बचने और जीवनकी हर उच्चताकी ओर बढ़नेकी प्रेरणा देते रहें!

पेड़, पशु, मनुष्य !

मेरी खिड़कीके सामने एक पेड़ खड़ा है। मेरी ही तरह साधारण देह है उसकी; पर, जब उसपर फूल आते हैं, तो मुझे ऐसा लगता है जैसे आकाशसे बरसी देवताओंकी हँसीका अंबार हो ! चारों ओर हल्के लाल रंगके फूल; यहाँतक कि पत्ते भी ढकसे जाते हैं।

मैं अपने पलंगपर बैठा उसे घंटों देखता रहा हूँ, पर मन नहीं भरता। मैं अक्सर सोचा करता हूँ कि काली मिट्टीमें जन्मे कुरूप तने पर आश्रित इस पेड़में ऐसे कोमल पत्ते और इतने सुन्दर फूलोंकी सृष्टि विश्वका कितना बड़ा चमत्कार है। सोचते-सोचते ही मैं कई बार उठकर अपनी भावुकताके आवेशमें उस पेड़से जा लिपटा हूँ और मुझे ऐसा आनन्द आया है मानो मैं अपने किसी मित्रसे मिल रहा हूँ !

शास्त्र और विज्ञान दोनों वृक्षोंको 'सजीव' मानते हैं। मेरा भी इसमें यों ही विश्वास-सा था, पर १९४२ की जेल-यात्रामें अपने साथियोंके साथ जब मैं डाकू-वार्डमें बन्द किया गया, तो कुछ ही दिन पहले अपनी पत्नीकी मृत्युके कारण मेरे मनपर छाई शून्यता और भी घनी हो गई। शून्यताके इसी वातावरणमें एक दिन चाँदनी रातमें अचानक चौकमें खड़े पेड़की जीवन-शक्तिका मुझे साक्षात् अनुभव हुआ और मुझपरसे शून्यताका वातावरण कुछ हट-सा गया। तबसे वृक्षोंके साथ मेरी आत्मीयता और भी गहरी हो गई।

× × ×

उस दिन भी मैं कुछ ऐसे ही 'मूड' में था कि उस पेड़के पास पहुँच गया। सन्ध्याका समय था और सूर्यकी हल्की किरणोंसे वह और भी भव्य हो रहा था।

मैंने कहा—'आज तो मित्र, तुम अपनी हँसीमें आप ही लिपटे जा रहे हो; क्या बात है ?' पेड़ बेचारा क्या बोलता; पर तभी कुछ फूल नीचे चू आये। अपनी भावुकतामें मुझे ऐसा लगा कि ये फूल मेरे प्रश्नका उत्तर हैं और तभी आत्मीयताके प्रवाहमें मैं ऐसा डूब गया कि पेड़के तनेपर प्यारसे थपथपाकर मैंने कहा—'अच्छा चलो, कुछ दूर घूम आयें।'

तभी हो गया मेरा खुमार कम और मैं आ गया भावुकताके आकाशसे यथार्थकी पृथ्वीपर, जिसमें पेड़ पेड़ है और मनुष्य मनुष्य ! तब मैंने अपने आप से कहा—'पागल, पेड़ है यह तो; यह कहाँ जायगा !' मनमें अफ़सोस-सा हुआ—'काश, पेड़ भी चला करते !'

× × × ×

मैं फिर विचारोंमें डूब गया। इस पेड़में जीवन है, सौंदर्य है और बहुत-सी बातोंमें यह आजके मानवसे तो श्रेष्ठ ही है; पर इसमें गति नहीं है, इसलिए यह स्थावर है।

इसी शृंखलामें सोचता हुआ मैं घूमने चला गया और खेतोंपर पहुँचते-पहुँचते एक सूत्र मेरे हाथ लगा, जिसकी तीन धारायें हैं—

—जिसमें जीवन है, पर गति नहीं है, वह पेड़ है,

—जिसमें जीवन है और गति है, वह पशु है, और

—जिसमें जीवन है, गति है और गतिकी सही दिशा-प्रगति भी है, वह मनुष्य है।

इन तीनों धाराओंका समन्वित भाष्य हुआ कि प्रगतिशीलता ही मानवकी कसौटी है और यही उसे वृक्ष और पशुसे पृथक् करती है।

धीरे-धीरे जियो !

हमेशा जिस बर्तनमें मेरे स्नानके लिए पानी रक्खा जाता है, वह एक क़लईकी कूण्ड है और उसमें कोई तीन बाल्टी पानी आता है। उस दिन समयके-समय एक अतिथि आगये, तो गरम पानीका बटवारा हो गया। अब कूण्ड मिली उन्हें और अलमूनियमका बड़ा भिगौना मुझे—यह अपनेमें बड़ा होकर भी इतना छोटा कि एक बाल्टीमें भरपूर !

भिगौना देखकर मुझे लगा कि आज पानी कम है और बिना सोचे भी इसका अर्थ हुआ—आज स्नानमें वैसा आनन्द न आयेगा। फिर भी स्नान तो करना ही था, करने लगा, पर स्नान आज कुछ और तरहका लग रहा है। कैसा लग रहा है, सो कुछ स्पष्ट नहीं, पर लग रहा है कुछ और तरहका ही। ज़रा सचेष्ट होकर सोचता हूँ, तो यह लगना अच्छा है, कुछ बुरा नहीं।

यहाँ मेरा मन जाग-सा गया है। यह जाग एक प्रश्न बन रही है—जब पानी आज और दिनसे कम है, तो स्नान अधूरा है। अधूरा होनेका अर्थ है कि उसमें आनन्दकी कमी है, पर यहाँ उल्टी बात है कि आनन्द अधिक है, तो यह क्यों ?

प्रश्न उत्तर चाहता है, पर उत्तर तैयार तो है नहीं, उसे तैयार होना है। तैयारी प्रयोग चाहती है, काम माँगती है। इधर-उधर ध्यान गया, तो देखा कि रोज़ बड़ी कूण्डके साथ स्नान करनेको एक लोटा रहता था—संयोगवश आज गिलास ही है। लोटा शायद कूण्डके साथ ही चला गया है। लोटा एक बारमें सेर भरसे ज्यादा पानी लेता है, तो यह गिलास पाव भर ही और यों लोटेसे नहानेमें तीन बाल्टियोंका पानी जितना समय लेता है, आज एक बाल्टी पानी उससे ज्यादा समय ले रहा है।

मैं सोच रहा हूँ, यह देरतक नहाना ही आजका आनन्द है।

प्रश्नका उत्तर तो पूरा हो गया, पर प्रश्न भी तो एक पुरुष है, जो अक्सर अपने साथ अपना कुटुम्ब रखता है। मुझे लग रहा है कि मनके भीतर एक नया प्रश्न उभरता आ रहा है। यह लो, वह आ गया ऊपरकी सतहपर—स्नानकी तरह जीवनकी भी स्थिति नहीं है क्या, जो जल्दी-जल्दी जीनेकी अपेक्षा धीरे-धीरे जीनेमें अधिक आनन्द देता है ?

स्नानकी बात जीवनमें उतरी, तो गहरी हो गई और मैं जाने विचारोंके पातालमें कहाँ-कहाँ घूम आया। इस घूम-घाममें ज्ञानका यह सूत्र हाथ लगा—'सदा अंजलिको छोटी रक्खो; भले ही प्रश्न जीवनका हो या जीवनके किसी अंगका हो !', सवासेर लोटेसे स्नान करने और गिलाससे स्नान करनेमें यही तो अन्तर है कि पहलेमें अंजलि बड़ी है, दूसरेमें छोटी !

तभी मुझे याद आ गये गौन साहब। वे मेरी ही जन्मभूमिके एक युवक थे। प्लेगमें पिताकी मृत्यु हो गई, तो संपदा हाथ आई। आँखें कमजोर थीं, सो चौंधिया गईं और खुल-खेले। अब वे पूरे जोरोंमें थे। इठलाकर चलते, इतराकर बोलते। हरेक बातके अन्तमें कहते—गो-ऑन। बस नाम ही पड़ गया गौन साहब !

गौन साहबकी चारों तरफ़ चर्चा थी। होलीमें साँग निकाला, तो समा बँध गया। हजारों रुपये साँग-मंडली, शराब और साथियोंमें उड़ गये : "वाह साहब, आदमी तो गौन साहब हैं कि रुपयेको कुछ समझते ही नहीं !" जो जितना गौन साहबको जमा जाता और जो जम जाता, कुछ पाता। [illegible] कहाँ [illegible] नहीं ! गौन साहब हमेशा १०-२० में घिरे रहते !

चैतके मेलेमें गौन साहबका डेरा सबको मात कर गया। फुलवाड़ी भी रही, आतशबाजी भी और नाच-मुजरा भी। जो आया, खाकर गया, जो बैठा, पीकर ही उठा और देखनेवालोंके तो ठट्ठ लग गये। अब गौन साहबकी चर्चा गली-गलीमें घर-घर पहुँच गई !

[illegible] यहीं तक रहा कि होली आई, तो गौन साहबकी और दीवाली

आई तो गौन साहब की। शहरके सब चमकते सितारे फीके पड़ गये, कुछ ऐसे चमके गौन साहब !!

बिना कमाये, तो क़ारूँका खजाना भी खाली हो जाता है। गौन साहबकी तिजोरी भी अब आज्ञा-पालनमें हिचर-मिचर करने लगी, पर गौन साहबके तो हाथ और दिमाग़ दोनों ही खुले हुए थे। रुपयेकी कमी आई, तो धीरे-धीरे जमीन साफ़ हुई, बाग़ गया और हवेली भी गिरवी होकर, अन्तमें कुटुम्बियोंके हाथ बिक गई। इन्हीं आँखों, उन्हें तीसरे वर्ष मैंने फटे हालों भटकते देखा और तब उनका कोई दोस्त न था!!!

इस सबका सार संक्षेपमें यही तो है कि गौन साहब जल्दी-जल्दी जिए?

ध्यान भी कहाँसे कहाँ चला जाता है। कहाँ गौन साहब और कहाँ उस तीर्थके भिखारी! उस दिन वर्षगाँठ थी मेरी। पत्नीने कुछ परांवठे बना दिये कि मैं भूखोंको खिला आऊँ। छोटी-सी छबियामें लेकर गया, तो वहाँ उस समय ३-४ भिखारी थे। उन्हें मैंने कई-कई परांवठे दिये कि इतनेमें ५-७ भिखारी और आ गये। हाथ सकोड़ा और उन्हें १-१ परांवठा दिया, पर तबतक और ८-१० आ गये। उन्हें आधा-आधा दिया कि परांवठे समाप्त, पर कई भिखारी अब भी मेरे सामने, जो भूखी आँतों और प्यासी आँखों मुझे देख रहे थे!

बातका रूप कुछ हो, पर है वही बात कि अंजलि बड़ी थी। जो शक्ति थी, जो जीवन था, वह जल्दी समाप्त हो गया और जिन्हें मैं कुछ-न-कुछ दे सकता था, जो सुख भोग सकता था, उन्हें न दे पाया, वह सुख न भोग सका!

महात्मा टालस्टायकी एक कहानी है कि राजाको कहींसे एक अनाजका दाना मिला। यह होगा कोई पावभरका, पर आकृति और बनावट उसकी गेहूँ जैसी! आखिर यह क्या है?

राजाने आदेश दिया कि राज्यमें जो सबसे बूढ़ा हो, उसे बुलाया जाये, वह शायद इस बारेमें कुछ बता सकेगा कि यह क्या है? राजाके प्यादे चारों

ओर दौड़ गये और एक दिन वे एक आदमीको लिये आये। आँखें उसकी लगभग ज्योतिहीन और पैरोंमें खड़े रहनेकी शक्ति नहीं, इसलिए राजाके प्यादे उसे कन्धोंपर उठाये हुए।

अनाजके दानेको देखकर बूढ़ेने कहा—"यह गेहूँ है, पर इसके बारेमें मैं अधिक नहीं जानता। हाँ, मेरे पिता इस बारेमें आपको बता सकते हैं, वे अभी जीवित हैं।"

प्यादे फिर दौड़ गये और इस बार वे जिसे लाये, उसकी आँखोंमें रोशनी थी, पैरोंमें ताक़त; प्यादे सिर्फ़ उसे सहारा दिये, लिये आ रहे थे !

अनाजके उस दानेको देखकर तुरन्त बूढ़ेने कहा—"हाँ, हाँ, यह गेहूँ है। अपने बचपनमें हमने इसे खूब खाया है, पर मैं इस बारेमें और कुछ नहीं जानता। हाँ, मेरे पिता बहुत कुछ बता सकते हैं। सौभाग्यसे वे अभी जीवित हैं।"

प्यादे फिर दौड़ गये और इस बार वे जिसे लाये, उसकी आँखोंमें रोशनी थी, कन्धोंमें उभार था, पैरोंमें ठुकाव था और वह बिना किसीका सहारा लिये धीरे-धीरे चला आ रहा था।

उसने राजासे कहा—"हाँ, जी, यह तो गेहूँ है, हमने बोया है, काटा है, गाहा है, खाया है।"

राजाने पूछा—"तब यह क्या भाव बिकता था महाशय ?"

हँसकर बूढ़ेने कहा—"बिकना-बिकाना हम नहीं जानते, पर जितना चाहें, मिल जाता था। जिसके पास [illegible] और मिठाई या कपास, जो उसके पास न होती, ले आता।"

कहानी तो समाप्त हो गई और कहानी तो फिर कहानी ही है, पर मैं अब भी उसी दरबारमें बैठा उन तीनों बूढ़ोंको देख रहा हूँ—बेटेसे बाप और बापसे बाबा अधिक स्वस्थ है, यानी बेटेके पास ७५ वर्षकी आयुमें जितना जीवन-धन शेष है, बाप के पास १०० वर्षकी आयुमें उससे अधिक और बाबाके पास १२५ वर्षकी आयुमें उससे भी अधिक शेष है।

क्या अर्थ हुआ इसका ? अर्थ क्या और फलितार्थ क्या; वही एक बात—देखभालकर खर्च करनेकी, अंजलि छोटी रखनेकी और धीरे-धीरे जीनेकी बात !

कागज़ दियासलाईके छूते ही जल उठता है और भभककर बुझ जाता है, पर कोयला धीरे-धीरे आग पकड़ता है और धीरे-धीरे ही जलता है। जलना ही उसका जीवन है।

मनोवैज्ञानिक मानते हैं और अनुभव उसका समर्थन करता है कि किसी बालकका अपनी छोटी आयुमें अधिक बुद्धिमान होना भयावह है। ऐसे बालक आगे चलकर डल हो जाते हैं या पागल ! इसके विपरीत संसारके अनेक महापुरुष अपने बालकपनमें बहुत ही धीमे थे !

अपनी स्मृतियोंके मंडपमें आ बिराजे अपने पिताजीके मैं दर्शन कर रहा हूँ इस समय। वे ७० वर्षकी आयुमें भी पूर्ण स्वस्थ थे। उनमें इतना जीवन था कि देखकर ही जीवन मिलता था।

पिताजी, आप बुढ़ापेमें भी इतने स्वस्थ हैं, इसका रहस्य क्या है ? एक दिन यह मैंने उनसे पूछा, तो बोले—तीन मुख्य कारण हैं इसके—

१—मैं सदा ब्रह्मवेलामें नियमित रूपसे जागता हूँ और स्नान, भोजन, विश्राम और भ्रमण आदिमें नियमित रहता हूँ।

२—मैं सदा आदमी रहता हूँ, भगवान् कभी नहीं बनता। तुम्हें १००) मिल गये, तो खुश और खो गये तो गुम ! मैं मानता हूँ सब काम ठाकुरजीकी इच्छासे हो रहा है। आया भी उनका, गया भी उनका, सुख भी उनका, दुख भी उनका।

३—मैं हमेशा बच्चोंमें खेलता हूँ। ये मुझे नया जीवन और फुर्ती देते हैं। हँसकर बोले—मेरे बालमित्रोंमें और बुढ़ापेमें युद्ध हो रहा है। वह मुझे निगलना चाहता है, ये मुझे जवानी की शक्ति दे देते हैं। किसी दिन तो बुढ़ापा जीतेगा ही, पर खैर अभी तो संग्राम छिड़ रहा है !

लोटे और गिलासके ऊहापोहमें पड़ा, आज मैं सोच रहा हूँ कि मेरे

पिताजीने उस दिन धीरे-धीरे जीनेका व्याकरण ही तो मुझे पढ़ाया था !

मेरा जीवन ही उनका जीवन है—यानी व्यक्तिका जीवन ही राष्ट्रके जीवनका आधार है। यों व्यक्तिकी तरह राष्ट्र भी धीरे-धीरे ही जिये, तो श्रेयस्कर है, पर सभ्यता और विज्ञान दोनों ही उसे आज तेजी दे रहे हैं, जो सुविधा हमें भले ही दें, सुख कहाँ दे पाते हैं !

भारतीय जीवन धीरे-धीरे जीनेका ही जीवन है। उसमें उद्वेग और आवेग नहीं है, संतोष और शान्ति ही उसके मूल आधार हैं।

सन्तोष और निराशा एक नहीं है। जो हमें मिला है, धैर्यके साथ हम उसका उपभोग करें और जो हमें मिलना है उसके लिए धैर्यके साथ उद्योग भी, पर इस उपभोग और उद्योगमें हाय-हाय न हो, अशान्ति न हो, क्योंकि 'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्'—जो हमारा है, हमें मिलना है, वह किसी औरका नहीं हो सकता !

क्या हमें मिलना है और क्या पानेका हम उद्योग करें, इसकी भी एक मर्यादा है। यह मर्यादा ही भारतीय जीवन-दर्शन है। गाँधीजीने इस जीवन-दर्शनको पूरी तरह समझा था और उनका चर्खा उनकी दृष्टिमें इसके पुनरुज्जीवनका ही प्रतीक था !

संक्षेपमें जीवनका आदर्श साँचेमें ढला पुर्जा नहीं, वृक्षपर खिला पुष्प है। वह बटन दबाते ही [illegible] नहीं, कलम और उंगलियोंकी कारीगरीसे धीरे-धीरे [illegible] है।

आज हम जीवनमें दौड़ रहे हैं। दौड़ना बुरा नहीं है। दौड़नेकी शक्ति हममें हो, समयपर हम दौड़ सकें, यह आवश्यक है, पर दौड़ना जीवनका कोई साधारण नियम नहीं है—शयनकक्षसे दौड़कर रसोईघरमें घुसना, तो एक पागलपन ही है !

धीरे-धीरे जीनेका अर्थ रुकना नहीं है। रुकना मृत्यु है। यह जीवनमें पाप है; क्योंकि यह जीवन नहीं, जड़ता है। 'धीरे-धीरे जियो'का अर्थ इतना ही तो है कि जीवनकी शक्तिको संभालकर खर्च करो।

जीवनके इस सत्यको एक बार पहले भी मैंने अनुभव किया था। उस दिन मैं शौचालयमें गया, तो विचारोंमें डूबा हुआ था। जब तामलोटके बहुतसे पानीका उपयोग कर चुका, तो मुझे अनुभव हुआ कि अभी मैं पूरी तरह नहीं निपट पाया। अब मेरे सामने प्रश्न था कि यह पानी तो कम है, क्या करूँ? सोचकर मैंने निश्चय किया कि जितना पानी शेष है, उसे ही हाथ थामकर बरतूँगा।

अन्तमें मैंने यही किया और मुझे आश्चर्य हुआ कि जिस स्वच्छताके लिए पूरा बर्तन-भरा पानी अभीष्ट था, वह थोड़े पानीमें भी हो गई। तभी मैंने सोचा था—जीवनका भी बहुत अंश योंही फल-फल बह जाता है। हम उसके बहुत थोड़े अंशका ही उपयोग कर पाते हैं, पर मानते रहते हैं कि इतने कामके लिए इतनी शक्ति, इतने साधन चाहियें, जबकि सत्य होता है यह कि हम उससे बहुत कम शक्ति और साधनोंसे ही वह काम कर सकते हैं।
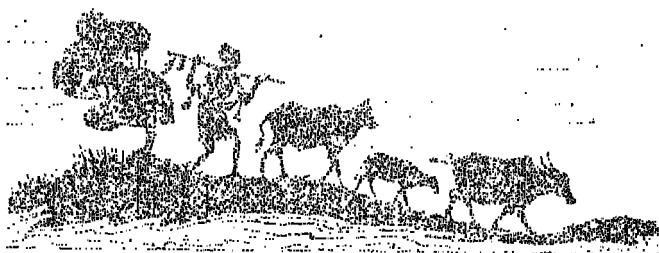
मरना : एक कला; एक चांस !

हरेक मित्र अपने मित्रोंसे बहुतसे प्रश्न पूछता है, जिनसे उनके जीवनका सम्बन्ध होता है। प्रश्न पूछनेका अर्थ है—जीवनकी समस्याओंमें साझीदार होना ! मैं भी आपका मित्र हूँ और इसीलिए आपसे एक प्रश्न पूछ रहा हूँ।

प्रश्न बिना किसी भूमिकाके यह है—आप अपने लिए कैसी मृत्यु चाहते हैं ?

अरे; आप प्रश्न सुनकर चौंक रहे हैं ! क्यों ? इसलिए कि यह अशुभ बात, बेतुकी बात आपसे पूछकर मैं अशिष्टता कर रहा हूँ ?

आश्चर्य है कि आप इस आवश्यक, शुभ और महत्त्वपूर्ण प्रश्नको अशुभ और बेतुका बता रहे हैं। बात यह है कि जीवनकी व्यर्थतामें आपने इस प्रश्नपर कभी विचार ही नहीं किया।

आपने सोचा है—आपका पुत्र जो अभी पाँचवी क्लासमें पढ़ता है, एम० ए० पास करके कलक्टर हो जायगा !

आपने सोचा है—अभी आप जो मरियल-सी दूकान कर रहे हैं, बीस वर्ष बाद वह एक बड़ी फर्मके रूपमें बदल जायेगी।

आपने सोचा है—अगले चुनावमें तो शायद, पर हाँ, उससे अगले चुनावमें आप अवश्य प्रान्तकी विधान-सभाके सदस्य चुन लिये जायेंगे।

आपने सोचा है—यह, वह, वोह ! पर जो कुछ आपने सोचा है, वह सब तो जीवनमें क़तई अनिश्चित है। जीवनमें निश्चित है मृत्यु और उसीके बारेमें आपने कुछ सोचा नहीं ! इस पर आश्चर्य यह कि आप अनिश्चित बातोंपर निरन्तर विचारको अपनी बुद्धिमत्ता और निश्चित बातके सम्बन्धमें विचार करनेके मेरे निमन्त्रणको बेतुका बता रहे हैं !!!

कृपाकर अपनी भूलको समझिये और तुरन्त सोचिए कि आप अपने लिए कैसी मृत्यु पसन्द करते हैं !

मनचाही मृत्युका मिलना निश्चित नहीं; ठीक है, फिर भी उसके सम्बन्धमें सोचना आवश्यक और उचित है। क्या आप नहीं मानते कि आसमानके तारे तोड़नेका प्रोग्राम बनाने वालेकी अपेक्षा, वह आदमी अधिक बुद्धिमान है, जो पेड़से आम तोड़नेका प्रोग्राम बनाये ?

फिर विश्वके अनुभवकी साक्षी है कि मृत्यु मनुष्यकी एक विवशता ही नहीं, एक कला और एक चांस भी है !

[२]

दारा एक सुकुमार साहित्यिक और औरंगजेब एक क्रूर शासक। दोनों सगे भाई, पर दारा जेलमें बन्दी और औरंगजेब दिल्लीके तख्त पर। फिर भी दारा एक खतरा, एक काँटा और औरंगजेब काँटोंको कुचल डालनेका आदी—एक दिन दाराका वध करने कुछ जल्लाद दाराकी कोठरीमें पहुँचे।

एक महान् पुरुषके सामने कुत्तेकी मौत और उससे बचनेका कोई चारा नहीं। कहाँ दारा और कहाँ एक मामूली बकरे-सी यह मौत !

उसने हर्बे-हथियारोंसे लैस क्रूर जल्लादोंकी जलती आँखोंमें झाँका और फिर अपनी तरफ़। उसके हाथमें एक मामूली चाक़ू था, जिससे वह इस समय सेब छीलकर खा रहा था।

दारा कूदकर खड़ा हो गया। उसने ललकारा—"कम्बख्तो, तैमूरका वंशज दारा कुत्तेकी तरह घुटकर नहीं, एक बहादुरकी तरह लड़ते-लड़ते मरेगा !" और उसने उछलकर अपना चाक़ू अपने हत्यारों पर चलाया।

क्रूर हत्यारोंके तेज हथियार चले और पलक मारते दाराकी लाश जमीन पर आ गिरी, पर तभी स्वर्गके शहीदोंने पुकारा—"दारा, तू आज हमारा अतिथि होगा !"

एक चाकूके वारने वधको बलिदानमें बदल दिया और दाराकी मृत्यु इतिहासकी शानदार शहादतोंमें शुमार हो गई !

[३]

और मौतने ही महान् राष्ट्र-निर्माता स्वामी श्रद्धानन्दको जनताके स्मृति-संस्कारोंमें एक साम्प्रदायिक नेता-सा बना दिया !

स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे, जिन्होंने उस अन्धेरे निशीथमें शिक्षाके राष्ट्रीयकरणका स्वप्न देखा और अपने हाथों गुरुकुलके रूपमें उसे साकार किया !

वे स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे, जिन्होंने हिन्दुओंमें एक मात्र यह सौभाग्य प्राप्त किया कि वे दिल्लीकी जुमा मस्जिदमें हजरत इमामकी जगह खड़े होकर प्रवचन दें !

और स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे वे, जिन्होंने मार्शललाके दिनोंमें अपनी खुली छाती अंग्रेज़ी तोपके सामने अड़ा दी !

पर हाय, स्वामी श्रद्धानन्द ही तो थे वे, जो एक साम्प्रदायिक दीवानेके हाथों गोली खा, मर गये। मौत जीवनसे ताक़तवर निकली। मनुष्य मनुष्यकी तरह जीता है अपने पुरुषार्थसे, अपनी प्रतिभासे, पर मनुष्यकी तरह ही उसे मौत भी मिले, यह उसके भाग्यके आधीन है या उसकी कला-के इसे मैं नहीं जानता—शायद यह दोनोंके ही आधीन है !

[४]

स्वामी श्रद्धानन्दके विरुद्ध मौलाना मुहम्मद अलीका जीवन है। वे जीवन भर खादिम-ए-काबा रहे, कभी खादिम-ए-वतन न हुए; निश्चय ही अंगरेजके कभी दोस्त नहीं ! मुल्कके मैदानमें उतरे भी, तो खिलाफ़तकी डोर पकड़े और जिये भी, तो तबलीग़के नक्शेमें साँस लेकर। हद हो गई उस दिन, जब वे कांग्रेसके प्रेसीडेन्ट चुने गये और उन्होंने अपने खुतबए

सदारत---सभापति-अभिभाषणमें अछूतोंको आधा-आधा बाँटकर हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करनेकी बात कही !

इसके बाद तो वे बेनाम हो गये और एक दिन अचानक उनका नाम देशके पत्रोंपर तब छा गया, जब गोलमेज कानफ्रेंसमें भाषण देते हुए उनकी भावुकता एक वाक्यमें बोल उठी---"मैं भाषणके लच्छे उड़ाने इंगलैंड नहीं आया। मैं अपने देशके लिए स्वतन्त्रता लेने आया हूँ। आपको मुझे वह स्वतन्त्रता देनी पड़ेगी या फिर मेरी क़ब्रके लिए जगह !" और सचमुच दूसरे दिन उनका हार्टफेल हो गया !

एक; और बस एक वाक्यने मृत्युकी मनहूसियत पर उमंगोंकी रंगीनियाँ छिड़क दीं और मुहम्मद अलीका भूला नाम लोगोंके दिलोंमें ताज़ा कर दिया ! लोगोंने सोचा और कहा---"भटक गया तो क्या, आखिर खानदानी देशभक्त था !"

[५]

मृत्युकी मसखरियाँ अजीब हैं। किसीको वह अपनी गोदमें सुलाकर महानता देती है, तो किसीको अपने आँचलकी छायासे दूर रखकर !

महात्मा सुकरातके विचारोंकी आग उस युगके पोपले धर्म-नेता न सह सके, तो उन्होंने राज-सत्ताका सहारा ले, एक मुकदमेका स्वाँग रचा और उनके लिए मृत्यु-दण्डकी घोषणा की।

मृत्यु-दण्डसे पहली रातमें सुकरातके भक्तोंने तिकड़म लड़ा, यह प्रबन्ध कर लिया कि वे सुकरातको जेलसे ले उड़ें, पर जब वे रातमें अपना प्रस्ताव लिए सुकरातके पास आये, तो उत्तर मिला---"क्या तुम चाहते हो कि जिन सिद्धान्तोंका प्रचार मैंने जीवन भर किया, उन्हें मृत्युसे डरकर मैं स्वयं ही झूठा सिद्ध कर दूँ ? जाओ, मैं यहीं मरूँगा और भागूँगा नहीं।"

और यों मृत्युकी गोदमें सो, सुकरात एक साधारण प्रचारकसे बहुत बहुत ऊपर, एक अमर विचारक हो गया।

नैपोलियन महान् था, अपने जीवनसे, अपने कर्मसे, अपनी विजयोंसे । यूरोपको उसने कई बार अपने पैरों रौन्दा और जिधर बढ़ा, बढ़ता ही चला गया, पर उसकी महानताके महलका कलश क्या यह बढ़ना है ?

ना; एक बार नहीं और सौ बार नहीं ! उसकी अमरताका रहस्य उन विजयोंमें नहीं, उस पराजयमें है, जिसने उसे सम्राट्से एक बन्दी बना दिया । नैपोलियनने पराजित हो, हिटलरकी तरह आत्म-हत्या नहीं की—वह १५ साल एक कैदीकी सूरतमें जिया; और यहीं—एक क़ैदी बनकर ही, वह महान् है !

[६]

मनुष्य अपनी कला और अपने भाग्यसे ही अच्छी मृत्यु नहीं पाता; कभी-कभी मनुष्यके शत्रु ही उसकी मृत्युको सौन्दर्य देनेका काम किया करते हैं ।

१९२४ में लाला लाजपतरायने कांग्रेससे क्या बग़ावत की, अपने भाग्य-से ही बग़ावत की । वे पंजाब-केशरी होकर जिये थे और इस तरह कि जिधर वे जायें, वातावरणमें एक गरमी बरस पड़े, पर जी अब इस तरह रहे थे कि जीवनके चारों ओर उदासीका घना कोहरा था !

और यों १९२८ का साल, साइमन कमीशनके बायकाटकी गरमी लिये देशमें आया । साइमन कमीशन लाहौरमें और लाला जी बायकाटके नेता । एक दिन उन्होंने भीम-गर्जना की—'साइमन, गो बैक !' तो पुलिस प्रबन्धक सौण्डर्सके कानों पर उनकी ललकार हथौड़े-सी पड़ी । उसका दिल-दिमाग़ ही नहीं, हाथ भी बेक़ाबू हो गये और उसके डण्डेकी लाला जी पर वह मार पड़ी कि उन्हें मारकर ही रही !

सौण्डर्सने उन्हें [illegible] मरनेको मजबूर कर दिया, पर मरकर ही वे जीवनके चारों ओर छा गये, उस कोहरेको भेद सके ! उनकी अर्थीके साथ सारा लाहौर था और आज भी उनकी याद आती है, तो अर्थीके

उस जलूसकी गौरव-गर्वित गरमी लिये आती है, १९२४ से १९२८ तक उनके जीवन पर छाई उदासी लिये नहीं !

[७]

ये हुई नेताओंकी कथाएँ, बड़े आदमियोंकी कहानियाँ, पर मृत्युका चमत्कार बड़े और छोटेको नहीं देखता । १९५१ में ज़रा-सी बातने आसाम-के एक डाकियेकी दयनीय मृत्युको एक महान् मृत्युका रूप दे दिया ।

दो डाकिये, जिनसे अपना आवश्यक कार्य लेनेमें उदार होकर भी समाज जिन्हें मान देनेमें कृपण रहा है, देहाती डाकके थैले लिये एक जंगलसे गुजर रहे थे । अचानक कहींसे शेर आ कूदा और उनमेंसे एकको थाम ले चला । मौतके भयंकर जबड़ेमें फँसे उस डाकियेने अपना थैला दूसरे डाकियेकी तरफ़ जोरसे फेंक कर कहा—"ले, यह थैला अच्छी तरह डाकघर पहुँचा देना, भूलना मत । नहीं तो मेरी आत्मा वहाँ तड़पेगी !"

कर्तव्यकी यह निष्ठा उसके सारे विभागमें प्रशंसित हो, सदा-सदैव-को प्रेरणाका एक स्रोत बन गई !

मृत्युसे मोर्चा लेना तो बड़ी बात है ही, कभी-कभी मृत्युको एक मीठा निमन्त्रण दे देना ही जीवनको एक नई रौनक दे देता है ।

'हरिजन-सेवक' में प्रकाशित यह घटना कितनी मर्मस्पर्शी है । एक शिकारी किसी गाँवमें गया और एक मोर पर निशाना साधने लगा । एक देहातीने उसे मना किया, पर वह न माना, तो देहाती मोर और शिकारी-के बीच आकर खड़ा हो गया । शिकारी जोशमें था, उसने गोली दाग दी । देहाती घायल हो, गिर पड़ा । अब नजदीक था कि देहातके लोग शिकारीका कचूमर निकाल दें, पर वह देहाती, तेजीसे सरककर भीड़ और शिकारीके बीच आ गया । उसने जो कुछ [illegible]

है—"मैंने अब मोरको ही नहीं मारने [illegible]

और जब अपने इस उदाहरणसे [illegible]

रमें दया-करुणा और अहिंसाके शाश्वत संस्कारोंका सजीव प्रतिनिधि हो गया !

[८]

मृत्यु इस जीवनका अन्त है !

मृत्यु दूसरे नये जीवनका आरम्भ है ।

मृत्युसे जबतक बच सकें, बचे रहना ही जीवनका पुरुषार्थ है ।

मृत्युका यथार्थ वरण ही जीवनका चरम विकास है ।

मृत्युके सम्बन्धमें ये भिन्न-भिन्न मत हुए, पर मृत्युके सम्बन्धमें हमारे ज्ञानकोषका सर्वोत्तम रत्न क्या है ?

हमारे राष्ट्रिय इतिहासका सबसे सनसनीखेज मुक़दमा भगतसिंह-बम-केसके नामसे अंग्रेजी अदालतके सामने आया, तो राष्ट्रके सोये-से वातावरणमें एक बिजली-सी कौंद गई ।

मुकदमा उभरा ही था कि क्रान्तिकारी पार्टीका एक सदस्य फणीन्द्र मुकर्जी पुलिसका भेदिया बन बैठा । पार्टीके रहस्य अब खतरेमें थे । निश्चय हुआ कि उसे गोली मार दी जाय, पर गोली कौन मारे ? बिहारमें कहीं पार्टीकी मीटिंग हुई । मीटिंगमें पार्टीके नेता श्री किशोरीप्रसन्न सिंह भी थे और उनकी पत्नी सुनीति देवी भी !

सुनीति देवीने प्रार्थना की—यह काम मुझे सौंपा जाए, पर किशोरी बाबूने आदेशके इशारेसे उन्हें बैठा दिया ! सलाह मशविरेके बाद यह काम एक दूसरे सदस्यको सौंप दिया गया, जिन्होंने उसे पूरी सफलताके साथ किया भी !

इस घटनाके कुछ वर्ष बाद सुनीति देवीको तपेदिक हो गया । लाख प्रयत्न हुए, पर मृत्युका पंजा ढीला न पड़ा । मृत्युसे कुछ घड़ियाँ पहले सुनीति देवीने अपने पति श्री किशोरी बाबूसे कहा—"मेरी विदाईका समय अब दूर नहीं, इसलिए मुझे आपसे एक बात कहनी है ।"

"हाँ, हाँ, कहो भी !" फूल और फौलादसे निर्मित किशोरी बाबूने कहा ।

"जब किसी आदमीको आदमीकी तरह मरनेका मौका मिल रहा हो, तो उसे कभी रोकना मत !" सुनीति देवीने कहा ।

यह संस्मरण उस बार मसूरीमें गद्‌गद् कण्ठ किशोरी बाबूसे सुना, तो सोचा—मृत्युके सम्बन्धमें मनुष्यके ज्ञान-कोषका सर्वोत्तम रत्न यही है कि मनुष्य अधिकसे अधिक जीनेका पुरुषार्थ करे, पर उसे मनुष्यकी तरह मरनेका जब भी अवसर मिले, तो वह चूके नहीं ।
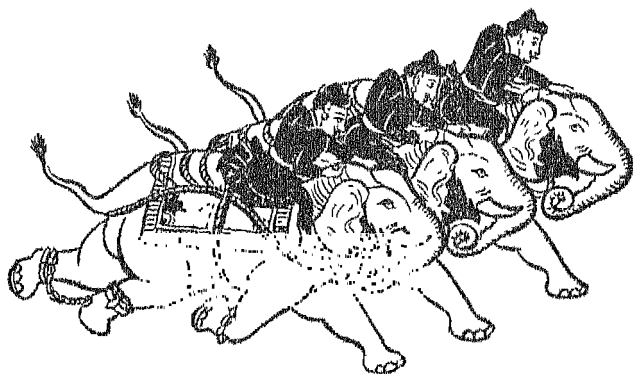
शुभकामना; एक जीवन-तत्त्व !

दीपमालिकाके उपलक्ष्यमें मित्रकी शुभकामनाका पत्र मिला—मित्रके स्वभावका ही प्रतीक-सा निर्मल और सरल, पर यह है क्या ? एक छपा हुआ पत्र, सुन्दर कवर और एक शिष्टाचार ! बस इतना ही; तो यह सब कुछ नहीं। मित्रने व्यर्थ ही मेरे मूक प्राणोंमें यह खलबली की और अपने श्रमकी कमाईके कई पैसे डुबाये।

"यह शुभकामना है जी !" तब यह ठीक है और इसके लिए जरूरी हो तो धन्यवाद, पर यह धन्यवाद जरूरी है नहीं; अरे व्यर्थ है बाबू, और नाराज न हो तो मुझे कहना है कि बेहूदा है। यह पश्चिमकी गंगामें बहकर आया हुआ कूड़ा-कचरा है ! थैंक्स और धन्यवादका भी जीवनमें स्थान है, यह माने लेता हूँ, पर कहाँ और कितना, यह तो विचारणीय हुआ ही !

हाँ, तो यह शुभकामना है। अंग्रेज़ीमें एक चीज है 'गुडविश'; यह इसीका अनुवाद है शुभकामना। वहाँ थैंक्सकी तरह यह भी एक शिष्टाचार है, पर हमारे भारतीय जीवनके अन्तस्थलमें जो सुदृढ़ स्तम्भ हमारी संस्कृति-को थामे हुए हैं, उसे प्रलयकारी तूफ़ानों, दिगन्तव्यापी बवण्डरों और शैता-नियतके मनोरम, पर सर्वनाशकारी प्रवाहोंसे बचाये हुए हैं, उनमें ही एक है—शुभकामना। यह हमारे ऋषियोंकी स्वयं-उपार्जित संपदा है और हमारे राष्ट्रकी मौलिक विभूति, जो शायद दुनियामें और कहीं प्राप्य नहीं।

इतनी बड़ी बात है यह हमारी शुभकामना ! और जानते हैं इस शुभकामनाका आधार, है [illegible]—अपने प्रति हाय मैं, हाय मेराकी प्यासको जीतकर आगे जगत्‌के साथ 'विराग'की भावनाका उद्रेक करनेवाला [illegible] ।

यह शुभकामना क्या है ? सारे जगसे पृथक्, पर सारे जगके विपुल प्राणोंमें प्राण डाले, कहीं सुदूर वनमें, पर्वतकी कंदरामें, मानसरोवरके बर्फीले तटपर बैठा योगी भगवान्‌से माँग रहा है। क्या माँग रहा है, यह तो जानना ही है, पर प्रश्न तो यह उठ खड़ा हुआ कि यह कम्बख्त अपनी सम्पदा, नारी, शिशु और मान सब कुछ छोड़कर तो यहाँ आया था, पर यहाँ भी इसमें इच्छाएँ शेष हैं, यहाँ बैठा भी यह कुछ चाहता है ! हाय री चाह ! कहाँ तक तू इसे लिपटी रही ? यहाँ भी यह कुछ माँग ही रहा है ! !

पर यह जाननेमें ही कि वह क्या माँग रहा है, इस प्रश्नकी समाप्ति होगी। वह माँग रहा है—**तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु** ! मेरा मन शिव-संकल्पसे भर उठे—इसमें शुभकामनाका आलोक प्रदीप्त हो उठे—मेरे प्रभु !

फिर प्रश्न उमड़ा। योजनाकी शक्ति है उसके पीछे कार्य करनेवाला व्यवहार; कर्म न हो तो योजना क्या करे ? पर यह योगी, कर्मका संन्यास लेकर तो यहाँ आ बैठा, लंगोटीतक तो इसके पास नहीं, फिर इसके शिव-संकल्प क्या करेंगे ? है न प्रश्न गहरा और भेदभरा ? पर इस संसारमें योगीकी यही तो क़ीमत है कि वह संसारके लिए, हमारी जीवन-लताके लिए—शिवसंकल्प करता है। यही उसकी सेवा है, यही उसकी देन है, और यही तो वह दूर बैठकर भी हमारे जीवनका पूर्णतया भागीदार है। तभी तो वह हमारा है, हम उसपर गर्व करते हैं, उसे पूजते हैं। यदि वह एकान्तमें बैठा अपने निर्वाणके लिए तप कर रहा है, तो हमसे उसे मतलब, उससे हमें काम ! वह करे तप, मरे-जिये, मुक्त हो या योगभ्रष्ट होकर योनियोंके मायाजालमें भ्रमता फिरे या स्वर्गकी अप्सराओंके इन्द्रजालमें पड़कर भ्रष्ट हो, नष्ट बने। हम उसमें दिलचस्पी क्यों लें ?

पर ऐसा तो नहीं है न। वह हमारा है, हमारा अपना है, हमारे जीवनमें उसका स्थान है, जैसे घड़ीमें फनर ! हमारे लिए वह काम करता है,

हम अपने लिए दिनके प्रकाशमें काम करते हैं, वह रातकी अंधेरी और उजारी घड़ियोंमें भी हमारे लिए काम करता है। हम काम भी करते हैं, आनन्द भी लूटते हैं, विश्राम भी लेते हैं, पर उसका काम, आनन्द और विश्राम यही है कि वह हमारे लिए शुभ कामना करे—अपना मन सदा शिवसंकल्पसे भरा रक्खे!

बस यही एक प्रश्न और; और बहुत जरूरी प्रश्न, जो इस समस्याको भीतरतक उधेड़कर रख दे। योगी बड़ा अच्छा है, हमारे लिए रात-दिन शुभ कामना करता है, हम उसके कृतज्ञ, पर जीवनमें सबसे बड़ा प्रश्न तो उपयोगिताका है? हमारे लिए वह शुभकामना करता है ठीक, पर हमें इन शुभकामनाओंसे मतलब? हमारा उनसे लाभ? पागलके प्रलाप-सी खूब हैं ये शुभकामनाएँ। अरे भाई, उन योगीजीका भी अजीब दिमाग़ है कि हमें छोड़कर वहाँ जंगलमें जा बैठे और अब हमारे लिए शुभ कामना कर रहे हैं! क्या खूब? यह अद्भुत इश्क़ है? तिलिस्मी मुहब्बत है! शुभकामनाओंकी हमारे लिए उपयोगिता क्या है?

उपयोगिताका प्रश्न व्यावहारिक है, इसका समाधान भी भावुकताके रूपमें न हो, यह ठीक होगा।

अच्छा, यह जो अन्तरिक्ष है विराट्, व्यापक, जाने कहाँ कहाँ-तक फैला, यही विचारोंका केन्द्र है, इसमें अनन्त विचार भरे हैं। कवि अपने शान्त, एकान्तमें बैठा कविता लिख रहा है और चोर अपने शान्त एकान्तमें स्थिर, राजाके महलमें पाड़ लगानेकी विधि सोच रहा है। कविको भाव मिले, चोरको विधि, तो क्या यह भाव और विधि, कवि और चोरकी सृष्टि है? ऊपरसे देखकर हम कहते हैं हाँ-हाँ, पर सत्य अभी और नीचे है।

भाव और विधि चिरसे अन्तरिक्षमें थे, चोर और कविने उन्हें पकड़ लिया। रेडियोका यन्त्र हमारे घरमें लगा है, गाने गाता है, भाषण देता है, नाटक करता है, पर यह सब उसकी सृष्टि तो नहीं, वह अन्तरिक्षसे इन्हें पकड़ता है, यही उसकी चरितार्थता है। यों ही चोरको चोरीकी विधि

मिली और कवि पा गया कोमल भावना। वहाँ सब कुछ है, जैसा जिसका यन्त्र है, वह वैसा ही ग्रहण करेगा।

हाँ, वाल्मीकि था डाकू, पर एक पक्षीका वध देखकर बन गया आदि-कवि! अरे, एक डाकूकी यह क्षमता? यह भाग्य है। अन्तरिक्षमें बहती एक दिव्य भावना उसके मानस-यन्त्रमें उतर आई, पर एक डाकूके मानस-यन्त्रमें ऐसी दिव्य ध्वनि क्यों और कैसे? यह पूछना चाहते हैं न आप?

जब पक्षी मरा और पक्षिणी विरह-वेदनामें तड़पी, तो एक तरफ़ पक्षीकी प्यास भरी आँखें, दूसरी ओर पक्षिणी की प्यार भरी आँखें, यही था न, चारों ओर पारिवारिक जीवनका कोमल, करुण प्रवाह! इस प्रवाहमें डाकू बह गया और निकला एक भावुक मानव। बस बदल गया रेडियो और जहाँ ध्वनित था वध, लूट, डाका; वहाँ प्रतिध्वनित हुई कविता, आदिकवि वाल्मीकिकी रसवाणी! दिखता है ऊपरसे कि डाकूको यह कविता मिली, पर डाकूको नहीं, एक भावुकको ही तो कविता मिली!

अच्छा, हमारे रेडियोमें तो वह बजता है, जो दिल्ली, लन्दन या मास्को बोलते हैं, पर इस मानस-यंत्रमें अन्तरिक्षसे जो उतरा, वह कहाँसे आया? उस धरातलका 'ब्राडकास्टिंग स्टेशन" कहाँ है?

बस आगये तुम सही जगह; वह स्टेशन है योगी, तापस, विचारक और प्रत्येक शुभकामना करनेवाला मानव और आँखों ही आखोंमें शिव संकल्प करनेवाले पशु-पक्षी। इनका क्षेत्र है भावनाओंकी अन्तरिक्षमें सृष्टि और परिष्कार। वायुको विशुद्ध करनेवाली औषधियोंकी तरह, ये हमारे मौन संरक्षक हैं और यहीं इनका सम्मान है। प्राचीन समाज-व्यवस्थाका महान् ब्राह्मणत्व यही है और यही है शुभकामना!

राष्ट्रके लिए सिपाही युद्ध करता है, पर कवि? वह केवल कविता लिखता है। और एक बूढ़ा, युद्धसे दूर पड़ा अपाहिज? वह केवल शुभकामना

करता है। राष्ट्रके जीवन-यन्त्रके ये सब पुर्जे समान महत्त्वके हैं। पिछली लड़ाईके दिनों आधे संसारमें जो 'वी'का आंदोलन चला था, वह क्या है? कोई अपने कोटपर 'वी' लगाये या 'सतिया', रणभूमिमें लड़ते सिपाहियोंको उससे मतलब? हाँ, मतलब है और बड़ा भारी मतलब है और इस मतलबमें ही तो छिपा है—शुभकामनाका महत्त्व!

गाँधीजी जब नया आन्दोलन आरंभ करते, तो धन भी माँगते, जान भी माँगते और शुभकामना भी माँगते थे। जो न खद्दर पहने, जो न जेल जाये, जो न चन्दा दे, उसकी शुभकामनामें आग लगे, यह हमारी भाषा है, पर उस महापुरुषके लिए तो उसका बहुत महत्त्व था। वह जिससे लड़ते, उससे ही लड़ाईके साधनोंपर, रूपपर भी विचार करते। वायसराय उनका शत्रु था या सलाहकार? केवल एक क्षेत्रमें 'शत्रु' था—इंगलैण्डके प्रतिनिधिके रूपमें, जहाँ वह हमारी गुलामीका बाडीगार्ड था, बस केवल वहीं और बाक़ी जो विशाल क्षेत्र पड़ा है, वहाँ वह मित्र ही क्यों न रहे? जीवनगृहके एक ही कोनेमें तो युद्ध है। बाक़ी तीनमें शुभकामनाका राज्य क्यों उजड़े? समझनेकी बात है, पर अमल करनेकी भी तो बात है? है न!

हमारे देशमें 'दाना दुश्मन' को 'नादान दोस्त' से श्रेष्ठ माना जाता है। दोस्त आख़िर दोस्त है, वह दुश्मनसे भी गया-बीता क्यों? बड़ा चुभता प्रश्न है। हमारे अपढ़ देहातोंमें ऐसे उदाहरण हैं सैकड़ों-हज़ारों कि बापके साथ जन्म भर दुश्मनी रही, उसे मिटानेका यत्न कभी शिथिल न हुआ, पर वह मरा और आप स्वयं उसके अबोध बच्चोंके संरक्षक हैं। क्यों, उन्हें मिटा क्यों न दिया कि जन्मभरकी दुश्मनी सफल हो? "ना, दुश्मन तो मर गया, अब दुश्मनीका क्या मज़ा? बच्चे! अरे वे जैसे उसके, वैसे अपने। कोई उन्हें तिरछी आँखसे देखे, तो आँख न निकाल लें। ये यतीम तो नहीं, वही मर गया, हम तो हैं!" वाह री, शुभकामना! भारतीय जीवनके रोम-रोममें व्याप्त जीवनका अमरतत्त्व!!

मुसलमान नवाबकी युवती बेगम शिवाजीके हाथ लगी, पर क्या किया

उन्होंने ? उन्हें लूट लिया ? उनके रूप-रसका पान किया ? उन्हें क़त्ल कर दिया ? ना, तो उन्हें दरबारमें नंगी नचा, अपनी दुश्मनीका बदला लिया ? यह भी नहीं ! उन्हें सम्मानके साथ उनके घर भेज दिया। क्यों ? यह शुभकामनाका अस्त्र है।

तो इतनी बड़ी है शुभकामना ! मैं अब और क्या कहूं कि हममें सच्ची शुभकामना जागे, उसकी शक्ति हम जानें और उसका प्रयोग भी।

जब कुत्ता भौंक रहा था !

अपने एक मित्रकी बैठकमें बैठा, मैं उनसे बातें कर रहा था । बैठकमें खिड़कियाँ इस तरह कि सड़क दूर तक दिखाई दे । मेरे मित्र मेरे लिए शिकंजवी लेने गये, तो मेरा दिमाग जरा खाली हुआ और स्वभावके अनुसार उसे सोचनेकी फ़ुरसत मिली, पर वह सोचे क्या ?

भौं:, भौं: ! शब्दने मस्तिष्कको राह दी, देखा---सामने गलीके मोड़पर एक मकानकी दहलीज़में कुत्ता बैठा है और जो सड़क पर आता जाता है, उसे भौंकता है । भौंकना उसकी आदत है ।

अब सोचना कुत्तेसे जा मिला है । यह क्यों भौंकता है ? इसकी यह आदत क्यों है ? आखिर यह क्या कहता है ? प्रश्न तो बहुतसे हैं, पर उत्तर तो किसीका भी नहीं । कुत्ता मेरी भाषा नहीं जानता कि मुझे बताये और मैं उसकी भाषा नहीं जानता कि उसे समझूँ । दोनों तरफ़की इस नासमझीमें अन्दाज़को खुल-खेलनेका अवसर है, पर अन्दाज़ भी कुछ नये सवाल पैदा करके ही रह गया ।

क्या यह कुत्ता इसलिए भौंकता है कि वह शान्तिके साथ बैठना चाहता है और लोग इधरसे गुज़र कर उसके असनमें खलल डालते हैं ? या आने वालोंसे यह खतरा खाता है कि उसके मालिकके घरको लूट लेंगे और इसी लिए वह उन्हें भगानेको भौंकता है ? क्या उसकी निगाहमें हर आदमी चोर है ? कुत्ता बराबर भौंके जा रहा है---भौं:, भौं:, भौं: ! और मैं बराबर सोचे जा रहा हूँ क्यों, क्यों, क्यों ?

मित्र शिकंजवी ले आये, तो मैं पीने लगा । वे अपनी कहे जा रहे हैं, इसलिए न दिमाग खाली है, न मुँह । सोचना बन्द हो गया है, पर आँखें कुत्तेको देखे जा रही हैं । सोचनेकी शक्ति भी उन्हें ही मिल गई, तो वे और पैनी हो गई हैं ।

एक आदमी तभी उधरसे आया और कुत्ता भौंका—यों ही हल्की-सी गुर्राहट। आदमी तेज़-तर्रार है। उसने कुत्तेको जोरसे घूरा और कहा भी कुछ! कुत्ता अब तेज हो गया और पूरे जोरसे भौंका। आदमी भी गरमा गया और उसने गालियोंकी एक तकड़ी बौछार फेंकी। कुत्तेकी आवाज़ अब आसमान तक पहुँच गई और वह कूद कर दहलीज़से बाहर आ गया। यह आक्रमणकी प्रस्तावना थी।

आदमीने अब पास ही पड़ा, एक बड़ा-सा ढेला हाथमें उठा लिया। यह मोर्चे पर जमनेकी स्वीकृति थी। इससे कुत्ता एक दम बौखला गया। अब कुत्तेका रूप देखने लायक़। ढलेसे बचनेको पटेके दावसे चौकन्ना, पर वार करनेको बराबर तिरछी कन्नी काटे-काटे बढ़ता। गर्दन फूली हुई, जीभ दांतोंके बाहर लपलपाती, भौंकमें पूरी ताक़तका भभकारा, पंजोंसे पृथ्वीको उधेड़ता-सा और दोनों तिरछी आँखोंमें अपने शत्रुका रोम-रोम साधे—यों कि उसका बस चले तो दुश्मनका कलेजा ही उधेड़ दे!

आदमी भी, पर खिलाड़ी है। बराबर अपनी राह बढ़ रहा है और कुत्तेकी ओरसे भी सावधान है, पर जितना वह बढ़ता है, उतना ही कुत्ता आगे आ जाता है। कुत्तेके पैरोंमें उचक मचमचा रही है, पर आदमीके सतर्क हाथका ढेला उसे पनपने नहीं देता। आदमी ज्यों ही गालियोंकी बौछार छोड़ता है, कुत्तेकी भौंकमें भभक आ जाती है और आँखोंमें खून उतर आता है। पिछली लड़ाईमें गोयरिंग, जुकोव, रोमेल और मैकार्थरने भी इतनी तल्लीनतासे अपने किसी शत्रुका पीछा न किया होगा! मैं देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ—यह पालतू और डरपोक कुत्ता अपने घर पर कैसा शेर हुआ जा रहा है?

"मियाँ, अपना रास्ता लो। खामखा कुत्तेके मुँह क्यों लगते हो?"

ऊपर छतसे यह किसीने पुकारा। ये महाशय शायद कुत्तापति थे। मोड़ आ गया था और यह मोड़ ही शायद श्वानदेवके साम्राज्यकी सीमा थी, इसलिए एक तकड़ी-सी भौंक देकर वे अपनी [illegible] जा बिराजे

और आदमी भी ढेला फेंक कर अपनी राह लगा, पर मैं तो वहीं था ।

मैंने अपनेमें ही कहा—क्यों जी, भला खामखा क्यों ? भलामानस कहता है—कुत्तेके खामखा मुँह क्यों लगते हो ? अरे भाई, जब वह बिना कारण भौंकता है, तो राहगीर उसका प्रतिवाद भी न करे ? मालूम होता है यह कुत्ता इन्हें नहीं भौंकता !

अब मैं मित्रके साथ बातोंमें उलझ गया, पर भीतर मेरे जो विचार-धारा बहती रही, वह थी उस कुत्तेके ही इर्द-गिर्द । संक्षेपमें शायद उसकी सूरत-मूरत यह थी कि कोई आदमी अपनी राह जाए, तो यह क्यों भौंके ? और क्यों उसे परेशान करे ? और करे ही, तो वह क्या उपाय है कि तुरन्त इसका मुँह बन्द कर दिया जाए ?

कुछ देर बाद उसी राह एक और सज्जन आये । घुटने तो इनके जवानोंसे भी बढ़कर थे, पर ये थे वृद्ध ही ! आहट सुननेमें कुत्ता कभी चूकता नहीं और मालूम होता है थोड़ी देर पहले लड़ी कुश्तीका जोश भी अभी भूभलमें दबा अंगारा था—वह पूरी तरह ठंडा न हुआ था, इसलिए इस बार कुत्तेने भीतरसे ही चैलेंज नहीं किया, पहले ही वारमें वह मोर्चे पर आ गया—दहलीजके दरवाजे पर; और गुर्राया । गुर्राहट बहुत हल्की, जैसे सिपाहीने तलवारके क़ब्ज़ेकी ओर अभी एक नजर ही डाली हो, मूठ पर हाथ न रखा हो !

बूढ़ा क्या बहरा था ? उसने न कुत्तेकी तरफ़ जरा झाँका, न ज़बान हिलाई, न [illegible] ही उसकी फ़र्क़ पड़ा । वह सीधा अपनी राह चले चला । जैसे कुत्ता उसके लिए है ही नहीं । बूढ़ा उसकी सीधसे निकल चला, तो उसने एक बार हल्की-सी आवाज़ दी—भौं ! यह भौं इतनी बे-उभार कि जैसे जल्दीमें कोई [illegible] और अपनी बेवकूफ़ी पर खुद ही झेंप जाए ! अब वह चुप रहा और बस बूढ़ेको देखता रहा । जब बूढ़ा मोड़ पर आ गया, तो कुत्तेने ऊपर देखा और एक बहुत हल्की भौं की, नन्हे ही गलेसे, [illegible]

रह जाए। वह चुप हो रहा। मन ही मन जैसे कह रहा था—जा भाई बूढ़े, अब तुझे मैं क्या कहूँ और वह अपनी जगह जा बैठा।

मैंने सोचा, कुत्ता शायद थक गया है, तभी यह बूढ़े मियाँसे नहीं उलझा। मेरा प्रश्न अभी जमा भी न था कि दस बारह सालका एक बालक उधर आ निकला। कुत्तेने उसे देखा कि जोरसे गुर्राया। वह गुर्राया कि लड़केने अपनी चाल तेज़ की। लड़का जरा झपटा कि कुत्तेने उसे पूरे जोरसे एक झोंक दी—भौं: भौं: और कूद कर सड़क पर आ गया। अब लड़केके होश गुम! वह जोरसे चिल्लाया और सिर पर पैर रखकर भागा कि कुत्तेके पर लग आये। चार ही कुलाँचमें उसने लड़केकी दाईं पिण्डली जा पकड़ी। लड़का गिरा कि उधरसे एक तरुण आ निकला।

तरुणने पूरे जोरसे अपनी छड़ी कुत्तेकी कमर पर जड़ी। कुत्ता तड़क कर भागा और अपने दरवाजे पर जाकर टिका। तरुण लड़केको मोड़ तक पहुँचा कर लौटा, तो कुत्ता युद्धके लिए तैयार। पूरे जोरकी भौं: भौं:; जिसमें क्रोधकी किचकिचाहट और बदलेका खूनी जोश, पर तरुण भी असावधान नहीं। वह छड़ी उठाये उसके पीछे चला। अब कुत्ता भौंकता जाता है और लौटता जाता है। वह दहलीज तक पहुँच गया, पर तरुण अभी बढ़ा ही आ रहा है। दूरी कम हो रही है, छड़ी ऊपरको उछलती है। उसके उठनेका रस कुत्ता चख चुका है, इसलिए वह उछला और दहलीजके भीतर हो रहा।

अब स्थिति यह कि कुत्ता दहलीजके भीतरसे भौंक रहा है और तरुण बाहर खड़ा उसे गालियाँ दे रहा है। कुत्ता जब भी दो पैर बढ़ा, बाहरको भौंकता है, तरुण धरती पर अपनी छड़ी फटकार देता है। कुत्तेकी हुंकार पर आतंककी बौछार पड़ जाती है और वह भीतर हो जाता है। कई मिनिट युद्धका यही रूप स्थिर रहा कि कुत्तेका भौंकना बन्द नहीं हुआ, पर वह बाहर आकर आक्रमण भी न कर सका। गालियोंकी एक तगड़ी बौछार फेंक, तरुण चला गया। कुत्ता तब भी भौंकता रहा।

मैं मित्रसे बातें कर घर लौट आया और इस प्रकार यह कुत्ता-नाटक समाप्त हो गया, पर मैं इसके फलितार्थों पर विचार करता रहा। ये फलितार्थ इस प्रकार थे—

१—प्रतिवाद करने पर कुत्तेका भौंकना उग्र हो जाता है।

२—उधर ध्यान न देकर, उपेक्षा करनेपर, कुत्तेका प्रतिवाद जन्मसे पूर्व ही निस्तेज हो जाता है।

३—डरने-घबराकर भागने-पर कुत्ता शेर हो जाता है और उसका प्रतिवाद, तो इससे उग्र होता ही है, वह काट भी लेता है।

४—यदि बलपूर्वक उसका प्रतिवाद किया जाए, तो वह मैदान छोड़कर आड़ ले लेता है, पर अपनी बकवाद जारी रखता है।

इसमें दो समझदारोंमें मतभेद नहीं हो सकता कि इनमें सर्वश्रेष्ठ मार्ग नम्बर दोका ही है—कुत्तेका प्रतिवाद न करना, उसकी तरफ़ ध्यान न देना, उसकी उपेक्षा करना, उसके सम्पर्कसे दूर रहना।

और ज्यों ही यह परिणाम मेरे सामने आया, एक बीती घटना मेरी आँखोंमें घूम गई।

मैं जब छोटा-सा बालक था, मेरे पिताने एक मकान ख़रीदा। ख़रीदा क्या, मकान-मालिकने थोड़ेसे रुपये लेकर, उनसे प्रभावित होनेके कारण, वह उन्हें दे दिया। हमारे कुटुम्बके दूसरे धनी सदस्य अधिक रुपये लगाकर भी उसे न ले सके। धनके दर्पने इसमें अपना घोर अपमान समझा और वह फुंकार उठा !

एक दिन प्रातः पिताजी भोजनके आसन पर बैठे ही थे कि अपने ५-६ बेटे-पोतोंके साथ वे वहाँ आ धमके। लाठियाँ उनके हाथोंमें, क्रोध उनके हृदयोंमें और गालियोंसे भरे मुँह ! आते ही उन्होंने गालियों और धमकियोंका एक दौंगड़ा-सा पिताजी पर बरसा दिया।

आज भी याद करता हूं, तो मन शान्तिसे भर जाता है। पिताजीने ही बड़ी ठण्डी आँखोंसे उनकी तरफ़ देखा और सदाकी भाँति उद्वेगहीन

स्वरमें बोले—"आओ भाई, पहले खाना खा लो, फिर मार लेना।" गरम तवे पर ठण्डे पानीकी ये बूंदें पड़ीं, तो वह छन्ना गया। शेर लोग और भी दहाड़े, तो वे बोले—"तुम बहुत हो, मैं इकला हूँ। भागा मैं कहीं जा नहीं रहा। आओ पहले खाना खा लें।"

शेर लोग और भी ज़ोरसे दहाड़े, तो पिताजीने गलेकी माला निकाली और नमः शिवायका जाप करने लगे। ५—७ मिनटमें वे लोग बक-झक कर चले गये। माँने नाराज होकर कुछ कहा, तो बोले—"मैं कुछ बोलता, तो और घण्टाभर ख़राब करते और खानेका स्वाद मारा जाता। ऐसे लोगों-से बावली, बात न करना ही कल्याणकारी है।"

आज सोचता हूँ, पिताजीने कुत्तेकी मनोवृत्तिको कितना स्पष्ट समझ लिया था! ये लोग जो गरज रहे थे, स्वरूप और भाषामें भले ही इन्सान थे, स्वभावमें उस कुत्तेसे कहाँ कम थे? समाजमें हम क्या ऐसे मनुष्योंको नहीं देखते, जो दोपाये हैं, पर चौपायोंसे कहीं बढ़कर! उनका सही इलाज है, उनसे दूर रहना।

साहित्य-गोष्ठियोंके सम्बन्धमें पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी कहा करते हैं कि इनमें समानशील साहित्यिकोंको ही निमंत्रित किया जाए, अन्यथा विरोध बढ़ता है और काम कुछ नहीं होता। मैंने विविधताके नाम पर उनका कई बार विरोध किया था, पर उनकी बातका ठीक-ठीक महत्त्व मैंने आज समझा।

कुत्तोंकी और मानव-समाजमें विचरते उनके द्विपद प्रतिनिधियोंकी उपेक्षा करो, उनके सम्पर्कसे दूर रहो, जीवनमें शान्त रहनेका यह मन्त्र आज मुझे सिद्ध हो गया।

भगवान् दत्तात्रेयके १०८ गुरुओंमें कुत्ता भी था। उससे भगवान्ने सीखा था सन्तोष; जितना मिले उतनेमें ही सन्तुष्ट रहो।

अपनेसे मैंने पूछा—तो दत्तात्रेयके गुरुसे क्या मैंने इससे भी बड़ी बात आज नहीं सीखी?

जीवन; एक ताना-बाना

क्यों जी, आपने कभी सोचा है कि आपमें कितनी सहकार-भावना है ?

"जी, हमने यह तो नहीं सोचा कि हममें कितनी सहकार-भावना है, पर यह ज़रूर सोचा है कि आप क्यों बार-बार हमसे ऐसे फ़ालतू प्रश्न पूछते रहते हैं !"

तो मेरा यह प्रश्न आपकी रायमें फ़ालतू है ?

"जी, फ़ालतू नहीं तो क्या कामका है ? आज हम यह सोचें कि हममें कितनी सहकार-भावना है, कल यह कि हममें कितनी असहकार-भावना है, परसों यह कि हममें लड़ाईकी कितनी भावना है और परले दिन यह कि हममें लड़ाईसे भागनेकी कितनी भावना है। बस पंडितजी, फिर तो हम कर चुके काम; और यह भी ठीक है कि फिर काम करके करेंगे भी क्या ? पाँच सात सालमें हममें क्या है और क्या नहीं है, यही सोचते-सोचते एक पूरा भावना-कोश तैयार हो जायेगा और बस उसे छपाकर बेच खायेंगे।"

तो आप मेरे प्रश्नको यों हँसीमें उड़ा रहे हैं, पर यह कोई गैसका गुब्बारा नहीं है कि नन्हेंके हाथसे धागा छूटा और वह उड़ गया। ख़ैर, यह गुब्बारा हो या हिमालयका शिखर, यह बात है कि आपने इस प्रश्नपर कभी नहीं सोचा और इसलिए मेरा यह कहना है कि आप बन्दर हैं।

"बन्दर ! हम बन्दर हैं या कि बन्दरके छोटे भाई ? तो पंडितजी, अब हमें आप हमारे मुँहपर ही गालियाँ देने लगे। सच बताइये, आपका आज इरादा क्या है ?"

[illegible] स्टूक गये, जैसे अनिश्चित[illegible] अनार हो। गाली [illegible] है तो एक सत्य है, पर भाई, सत्य यह है कि कोरा सत्य गालीसे भी पैना होता है !

"तो यह एक सत्य है कि हम बन्दर हैं? सचमुच आज तो आप लड़नेके लिए ही आये दीखते हैं।"

ओह, किस क़दर जल्दबाज हैं आप कि पूरी तरह बात नहीं सुनते और बीचमें टपक पड़ते हैं। मेरा मतलब यह है कि बन्दरका यह स्वभाव है कि वह अपने बारेमें कभी कुछ नहीं सोचता। अंगदसे जब रामका दूत बनकर लंकामें जानेको कहा गया, तो वह सकुचाया, क्योंकि उसने अपनी शक्ति और योग्यताके बारेमें कभी कुछ सोचा ही न था। बादमें जब उसे याद दिलाया गया, तो वह झट तैयार हो गया और आप तो जानते ही हैं कि लंकामें जाकर फिर तो उसने वो काम किये कि आज भी इतिहास उसके गुण गाता है।

"हूँ, तो यह मतलब है आपका कि जो अपने जीवनके प्रश्नोंपर विचार नहीं करता, वह बन्दर है। लो, मान ली हमने आपकी यह बात, पर अब एक प्रश्न हमारा भी है।"

हाँ, हाँ, पूछो भी अपना प्रश्न!

"पंडितजी, इन प्रश्नोंपर बड़ी उम्रमें ही विचार करना चाहिए, पर खैर छोड़ो इस बातको और यह बताओ कि आपने इस प्रश्नपर सबसे पहले कब विचार किया था कि आपमें कितनी सहकार-भावना—मिलजुलकर काम करनेकी चाह—है?"

वाह भाई वाह, कैसा फ़िट सवाल पूछा है आपने भी। बस समझ लो कि आपकी हमारी बातचीत अब जम गई। मैं यह तो बताऊँगा ही कि पहले पहल मैंने कब सोचा था यह प्रश्न, पर यह भी बताऊँगा कि इस मामलेमें मेरे गुरु थे दो बकरे और बीस-तीस बन्दर!

अरे, हँस रहे हैं आप। ठीक भी है हँसना। आप सोच रहे हैं कि यह तो सुना था कि पंडितके पढ़ाये पाधा, पाधाके पढ़ाये पधोकड़े और पधोकड़ोंके पढ़ाये आलमाल होते हैं, पर आज आपके सामने बकरे और बन्दरोंसे ज्ञान पाया, एक पंडित विराजमान है। है न यही बात, पर लो, अब भूमिका तो बहुत हो ली, कुछ कामकी बात सुनो।

जब मैं छोटा-सा बालक ही था, तो स्कूलकी किसी पुस्तकमें मैंने एक कहानी पढ़ी कि दो पास-पास खड़े पहाड़ोंके बीचसे एक नदी बहती थी। उसपर आर-पार जानेके लिए गाँववालोंने लकड़ीका एक लट्ठा रख रक्खा था। एक दिन एक ही समयमें उसपर एक बकरा इधरसे चला, एक उधरसे। लट्ठेके बीचमें पहुँचे, तो दोनों आमने-सामने, न मुड़नेकी जगह, न बचनेकी गुंजायश। करें तो क्या करें? मौत दोनोंके सामने, पर थे दोनों समझदार और समझदार क्या दोनोंमें सहकार-भावना थी। सलाह करके दोनोंमें से एक वहीं लट्ठेपर बैठ गया और दूसरा उसके ऊपरसे धीरे-धीरे उतर गया। बादमें यह भी उठकर अपनी राह लगा और यों दोनों मौतसे बच गये।

मुझपर इस कहानीका बड़ा असर पड़ा। मैं सोचने लगा कि दोनों बकरे आपसमें बहस करने लगते, तो भूखे-प्यासे थककर नदीमें जा गिरते। आपसके मेल-जोलसे कितने काम निकल सकते हैं।

मैं इस कहानीको भूल भी जाता, पर उन्हीं दिनों वह बन्दरोंकी घटना हो गई, जिसका मैं अभी आपसे ज़िक्र कर रहा था और जिसपर आप मेरी अभी-अभी हँसी उड़ा रहे थे।

"हाँ वह बन्दरोंकी घटना सुनाइये पंडितजी!"

ओहो, फिर वही जल्दबाज़ी। अरे भाई, सुना तो रहा हूँ बन्दरोंकी घटना। जिस पाठशालामें मैं पढ़ता था, उसके सामने ही था बूढ़े महादेवका मन्दिर। मैं एक दिन दोपहरको मन्दिरमें गया, तो क्या देखता हूँ कि एक काला साँप शिवजीको लिपटा हुआ है और अपना भयंकर फन उसने शिवजीके ऊपर फैला रखा है। मैं देखकर उल्टे पाँव लौट आया, पर मेरे बाहर निकलते ही एक बन्दर मन्दिरमें घुसा। बात यह है कि बूढ़े महादेवके असली पुजारी ये बन्दर ही हैं और भगत लोग चावल मिठाई आदि जो चढ़ाते हैं, वह इन्हींके हिस्सेमें आती है।

मैं दूरसे देखने लगा कि देखें हनुमान और शेषनागके वंशधरोंमें कैसी पटती है। बन्दर झपाटेके साथ बढ़ा चला गया और जब उसने फल-फूलकी

तरफ़ हाथ बढ़ाया, तो उसे साँप दिखाई दिया। पीछे हटनेका मौक़ा ही न था क्योंकि साँप वार कर चुका था। बन्दरने कमाल किया कि फुर्तीसे साँपका फन अपने पंजेमें इस तरह दबोच लिया कि काटनेके लिए वह मुँह ही न खोल सके।

मैंने अपने मनमें कहा—कहो शेषनागके पुत्र, सुरसाके वधकर्ता हनुमानके पौत्रका पैतरा कैसा रहा ?

मन ही मन शेषनागके पुत्रने कहा—ले तो मेरा भी पैंतरा देख और वह शिवजीकी लिपटनको छोड़ बन्दरके पेट और छातीपर लिपट गया। अब हनुमानका पौत्र बड़े संकटमें, जैसे शिकंजेमें कसी किताब, पर भाई, मैं उसके धीरजकी प्रशंसा करूँगा। फिर भी उसने अपनी उंगलियाँ ढीली नहीं कीं और शेषनागके पुत्रको कसे ही कसे अपने दो पैरोंके बल ठुमकता-ठुमकता मंदिरसे बाहर चला आया।

उसकी चिल्लाहट सुन बीस-तीस बन्दर इकट्ठे हो गये। अब मैं देख रहा हूँ कि वे बन्दर अपने साथीके चारों ओर घूम रहे हैं, मदद करनेको बेचैन हैं, पर उन्हें सूझ नहीं पा रहा कि कैसे क्या करें। तभी कहींसे आ गया उनका मोटा चौधरी। जो समयपर संकटसे समाजकी रक्षा न कर सके, वह चौधरी क्या ? चौधरीने आते ही वह पैंतरा चला कि शेषनागके पुत्रका ब्रह्मास्त्र कट गया। चौधरीने साँपकी पूँछ पकड़ ली और वह चारों ओरको घूम गया। अब हालत यह कि साँपका मुँह तो दबा हुआ उस बन्दरके हाथमें और पूँछ चौधरीके हाथमें। आपसमें सबने कीं-कीं की और बस इसके बाद जो कुछ हुआ वह एक चमत्कार है।

बन्दर पीपलकी छोटी-छोटी टहनियाँ उठा लाये और बीच-बीचमेंसे साँपको रगड़ने लगे। ५-७ मिनटमें साँपके ३-४ टुकड़े हो गये और मुँहका छोटा-सा टुकड़ा उस बन्दरके हाथमें रह गया। उसने उसे बहुत गौरसे देखा और उंगलियाँ जरा ढीली कीं, पर साँपके उस टुकड़ेमें अब भी दम था। उसने ज़रा-सी जीभ लपलपाई। बन्दरने झट अपना पंजा फिर कस लिया

और कुछ देर बाद उस टुकड़ेको धरतीपर इस तरह घिसना शुरू किया कि जैसे लौकीको कद्दूकसपर कसा जाता है। वह उसे थोड़ा-सा घिसता और देखता और फिर घिसता। बस यों ही घिसते-घिसते उसने शेषनागके पुत्रका पूरी तरह भुरता कर दिया और एक भयंकर संकटसे बच गया।

यह घटना मैंने अपनी आँखों देखी और अपनेसे पूछा कि यदि यही संकट हमारे किसी विद्यार्थीपर आया होता, तो क्या हम उसे इतनी ही आसानीसे टाल सकते? मेरे मनने इसपर हाँ नहीं की और तब मेरे मनमें यह दूसरा प्रश्न उठा कि क्या हम मनुष्योंमें बन्दरों-जितनी सहकार-भावना भी नहीं है?

बस, तबसे मेरी यह आदत बन गई कि मैं अपनेसे और अपनोंसे बराबर यह प्रश्न पूछता रहता हूँ कि आपमें कितनी सहकार-भावना है, पर आप उसे एक फ़ालतू सवाल ही बता रहे हैं।

सच्चाई यह है कि यदि मेरा यह प्रश्न फ़ालतू है, तो हमारा यह जीवन कुछ नहीं है, क्योंकि सहकारके सिवाय हमारा जीवन और है ही क्या? मेरी तरफ़ मुँह बाये घोंघासे क्या देख रहे हो? ठीक तो कह रहा हूँ कि सहकारके सिवाय यह जीवन और है ही क्या? लो सुनो, तुम्हें पुराने संतोंकी सुनाई एक कहानी सुनाता हूँ।

एक बार शरीरके अंगोंमें लड़ाई हो गई। इसका आरंभ पैरोंने किया। वे बोले—लड्डू लाना हो या पेड़ा, कचौरी लानी हो या आलूकी टिकिया, हमें ही दौड़ना पड़ता है, पर चीज़ लेते ही हाथ उसे थाम लेते हैं, मुँह चट कर जाता है, आँखें देखती हैं, पेट खा जाता है, नाक सूंघती है, हमें क्या मिलता है—हम क्यों बेगार करें! आजसे हम नहीं चलेंगे, जो खाते हैं, लेते हैं, वे ही जायें, वे ही दौड़ें!

बस पैरोंकी देखा-देखी औरोंको भी सूझी। हाथोंने कहा—तुम चलकर जाते हो तो क्या, कौर तो हमीं लाते हैं, पर हमें क्या मिलता है, यह कमबख्त मुँह मज़ेसे चट कर जाता है! उन्होंने भी अपना काम छोड़ दिया और

इस तरह एकके बाद एक सभीने छुट्टी की, पर पेट खाली रहा तो शामको ही सबपर सुस्तीकी छाया पड़ी। दूसरे दिन बेचैनी हुई और तीसरे दिन तो सबके सब दम ही तोड़ने लगे।

हँसकर पेटने कहा—क्यों भाई, कुछ आया मजा? तुम समझते थे कि सब कुछ मैं इकला ही अपने थैलेमें रख लेता हूँ। अरे भोले भाइयो, यह तो सहकारकी बात है। तुम सब अपना काम करके मुझतक कुछ पहुँचाते हो और मैं अपना काम करके तुमतक कुछ पहुँचाता हूँ और यों हम सब एक दूसरेको जीवित रखते हैं।

इसीका नाम सहकार-भावना है। अंगोंने समझा और उठकर अपने-अपने काममें लगे। बस जो हाल शरीरका है, वही समाजका है। यहाँ भी सब अपना-अपना काम करते हैं, तो समाज ठीक चलता है। नहीं तो समाजके संगठनमें शिथिलता आ जाती है। अब यह बात साफ है कि जिसमें सहकार-भावना नहीं है वह समाजका शत्रु है और उसे समाजसे जीवन ग्रहण करनेका कोई अधिकार नहीं है।

"अच्छा, इस सहकार-भावनाका मनोवैज्ञानिक स्वरूप क्या है?"

असलमें अब आये हैं आप तालपर। मैं बहुत खुश हूँ कि अब आप बातचीतमें गहरे-गहरे उतर रहे हैं।

लो सुनो, सहकार-भावनाका मनोवैज्ञानिक स्वरूप यह है कि एक आवाज उठी कि यह काम है और तुरन्त दूसरी आवाज आई कि—लो, मैं भी आ गया।

रह गये, नहीं आया समझमें कि यह क्या कह गया मैं। लो, मैं एक और कोशिश करता हूँ।

काम और मसले जिंदगीमें आते ही रहते हैं। वे आयें और बिना हुए पड़े रहें, यह बीमारीकी निशानी है। बीमारी मनुष्यकी और बीमारी समाजकी भी। स्वास्थ्यकी निशानी यह है कि कोई काम सामने आया कि एक आवाज उठी—आओ करें; इस आवाजका इकला रह जाना भी

बीमारीकी निशानी है। इस आवाजके साथ ही बहुतसे कण्ठोंकी यह आवाज़ आये---लो हम भी आ गये। इसका अर्थ हुआ कि वहाँ अब कोई काम अधूरा नहीं रह सकता।

"अच्छा, यह पहली आवाज किसकी ?"

शाबाश! यह पूछा है आपने एक लाख रुपयेका प्रश्न। सच यह है कि बातचीत ऐसे ही प्रश्नोंसे जमती है। जमती भी है और खिलती भी है।

यह पहली आवाज उसकी हो, जो उस कामको पहले देखे या समझे कि यह काम है, जो होना चाहिए। जो पहली आवाज़ लगाये, वही नेता। बादमें यह कहनेवाले तो हो ही जाते हैं कि लो, हम भी आ गये।

"और क्यों जी, अगर पहली आवाज सुनकर कोई पीछे न आये?"

ठीक है यह आशंका, पर इसका उत्तर बड़ा सरल है। जिसने पहली आवाज लगाई है, वही पहिला हाथ और पहला क़दम भी उठाये। मतलब यह कि वही उस कामको आरंभ कर दे और करता चले।

उत्तर प्रदेशके एक जिलेमें एक पुराना तालाब फिरसे खुदना था। कई गाँवके किसानोंके लिए यह जीवन-मरणका प्रश्न था, पर कोई उधर ध्यान नहीं दे रहा था। बाबा राघवदासने इसे अनुभव किया और एक फावड़ा और टोकरी लेकर वे उसे खोदने लगे। एक आदमी और कई बीघेका तालाब! चिड़ियाका समुद्र-शोषण है, पर उस सन्तने इधर ध्यान नहीं दिया और प्रातःकाल दो-तीन घंटे रोज़ वे अपना काम करते रहे। बस तीन दिनमें ही यह बात गाँव-गाँवमें फैल गई और हज़ारों फावड़े, हज़ारों टोकरियाँ और इससे भी बढ़कर हजारों हृदय आ जुटे और देखते-देखते तालाब खुद गया। हमारे देहातोंमें एक भावपूर्ण कहावत है कि जो देखे सो पूरे। मतलब यह कि दीपकको जो बुझता देखे, वही उसकी बत्तीको ठीक करदे और तेल डाल दे। किसीकी प्रतीक्षा न करे और न किसीपर हुक्म ही चलाये। अरे भाई, दीपक सबका है, जो देखे सो पूरे। इसमें और किसी बातकी गुंजाइश ही कहाँ है?

इसमें एक खतरा भी है कि जो महसूस करे, औरोंको पुकारे और पहला हाथ खुद बढ़ाये, उसका हृदय और भावना शुद्ध हो, क्योंकि ऐसा न हो, तो उसका बढ़ा हुआ हाथ कार्यका निर्माण नहीं, नाश ही करेगा।

"यह क्यों ?"

इसमें क्यों कुछ नहीं, यह तो एक जीवनका सत्य है और यह सत्य पूरी तरहसे एक लोक-गाथामें खिला हुआ है। एक यज्ञमें दूधकी आवश्यकता थी। राजाने आज्ञा दी कि हर एक आदमी कल ब्रह्मवेलामें उपवनकी हौजमें एक-एक लोटा दूध डाल जाये, पर जो आदमी सबसे पहले दूध डालने गया, उसने सोचा और सब तो दूध डालेंगे ही, मैं पानीका ही लोटा डाल दूँ, तो कौन पहिचानेगा ? वह पानीका लोटा डाल आया। राजाने जब प्रातः उठकर देखा, तो सारा हौज पानीसे भरा था, क्योंकि नगरके सभी आदमी एक-एक लोटा पानी डाल गये थे। यही सोचकर कि और तो सब दूध डालेंगे ही। अन्तमें राजाने पता लगाते-लगाते उस आदमीको पकड़ लिया, जो सबसे पहले पानी डाल गया था और उसे फाँसी दे दी। राजाके वजीरोंने पूछा—यह काम तो सभीने किया है। राजाने कहा—उस पाप-भावनाकी लीक इसीने बनाई, जिसपर बादमें सब लोग चलकर पतित हुए, इसलिए यही मुख्य पापी है।

इस लोकगाथामें 'भावनाकी लीक' यह बहुत महत्त्वका शब्द है। यदि कोई तिरछी दागबेल डाल दे, तो सड़क तिरछी हो ही जायगी। जो पहले आगे बढ़े, उसका काम है कि वह अपनेको शुद्ध और सावधान रक्खे।

सहकार-भावना असलमें जीवनकी एक कसौटी है। लो फिर आपको ही इस कसौटीपर कराता हूँ। जब आपका कोई साथी भूलसे रपट जाता है तो आप क्या करते हैं ? हँस पड़ते हैं, तो आप भी उस बादशाहके एक खानदानी हैं, जो शहर जलते देखकर बन्सी बजाया करता था। खड़े रहते हैं, तो अपाहिज, ध्यान ही नहीं देते, तो मिट्टीके लोंदे, घेरकर खड़े हो जाते हैं, तो पशु और बढ़कर उसे मदद देते हैं, तो मनुष्य !

अच्छा मान लो, आपकी बहन, माँ या पत्नी अभी खाना बनाकर

उठी है और गरमीमें पसीनेसे तर आपके लिए थाली परोसकर ला रही है। थाली रखकर वह पानी लायेगी और फिर पंखा, तो क्या तबतक आप बैठे-बैठे देखते ही रहेंगे? हाँ, तो आप निश्चय ही पशु हैं और यदि उठकर पानी और पंखा खुद ले आएँ तो मनुष्य।

सहकार कोई ऐहसान नहीं है। यह असलमें जिंदगीका ताना-बाना है। ताना बानेसे टिका है, बाना तानेसे। दोनोंका सहकार टूट जाये, तो दोनों सूत रह जायेंगे। लो, चलते-चलते आपको एक गहरी बात बताऊँ। सहकार प्रजातन्त्र है और असहकार फ़ासिज़्म। पहलेका अर्थ है—मैं ही सब कुछ नहीं हूँ और दूसरेका स्वरूप है—मुझे किसीकी जरूरत नहीं!

जब वे रौबीको कमरेमें ले गये !

पण्डित आशारामजी एक संस्कारी पुरुष थे। देखनेमें ही राजा नहीं, वे मनके भी राजा थे। देवबन्दके तो वे सबसे बड़े आदमी थे ही, अपने सारे प्रदेशमें भी उनकी धाक थी। वे सबको प्यार करते थे, सबपर उनका रौब पड़ता था। यों कहना काफ़ी होगा कि पुरानी पीढ़ीकी सब खूबियाँ उनमें थीं।

शामको उनका घर राज-दरबार हो जाता। इस दरबारमें बूढ़े भी होते, बालक भी, दर्दी भी, ग़र्जी भी ! मैं भी अक्सर उनके यहाँ जाता। वे अपने बालकोंकी तरह ही हम सबको भी लाड़ करते। जिन दिनोंकी बात मैं कह रहा हूँ, एक ईसाई नवयुवक भी उनके यहाँ आया करता था। उसे हम सब रौबी कहा करते—पता नहीं यह उसके किस नामका सार था ! वह कहीं बाहर पढ़ता था और छुट्टियोंमें ही वहाँ रहता था। पण्डितजी उसे भी हमारी ही तरह मानते और खिलाते-पिलाते। वे बहुत ही प्रेमी स्वभावके मनुष्य थे।

एक दिन शामको बैठे थे, गपशप हो रही थी कि रौबी आया। उसके हाथमें एक छोटा-सा फूलोंका गुच्छा था—निश्चय ही वह पण्डितजीके बाग़से तोड़ लाया होगा। जाने रौबीको क्या सूझी कि वह सीधा पंडितजीकी कुरसी तक पहुँच गया और शोख़ीके साथ गुल्दस्ता उनकी ओर बढ़ाकर बोला—"लीजिये, यह आपको इनाम देता हूँ।"

पण्डितजीने तेज़ीसे रौबीकी तरफ़ देखा और मैंने पण्डितजीकी तरफ़। गुस्सेमें उनका प्रभावशाली चेहरा तमतमा रहा था। मैं पंडितजीका स्वभाव जानता था। मैंने मान लिया कि अब रौबीपर चमड़ेका हण्टर बरसेगा, पर जाने कैसे पण्डितजीने अपनेको संभाल लिया और उठकर पासके कमरेमें चले गये। वहींसे वे गुर्राये—"रौबी, यहाँ आ !"

मैंने सोचा---शायद मरम्मतकी मुनासिब जगह भीतर समझी गई है। रौबी भीतर चला गया, पर न तो हण्टरकी सपसपाहट सुनाई दी, न थप्पड़-घूंसोंकी धमकधम और दस मिनिटमें दोनों बाहर चले आये। मैंने ग़ौरसे देखा---पण्डितजी शान्त थे और रौबी गंभीर। कुछ समझमें न आया कि भीतर क्या हुआ ?

मैं बैठा रहा। रातमें दस बजे जब भीड़ छंट गई, तो मैंने धीरे-से पूछा---"पंडितजी, आपने भीतर लेजाकर रौबीको क्या कहा था ?"

बोले---"बदमाश मुझे इनाम दे रहा था। आज उसे हण्टरोंसे रंगता, पर मुझे उसके बूढ़े बापका ख़याल आ गया बेटा !"

मैंने कहा---"जी हाँ, यह तो ठीक है, पर आपने उसे भीतर ले जाकर क्या कहा था ?"

बोले---"मैंने उससे कहा कि तुम अभी बालक हो। बड़े आदमियोंमें बैठते हो, तो बड़ी बात सीखो और याद रक्खो कि किसी तरह भी मर्यादामें जो तुमसे बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानताका व्यवहार करते हैं, तो उसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नहीं।"

मैं उनके पैर छूकर चला आया। चलते-चलते मैंने मनमें सोचा---रौबी घाटेमें रहा हो या लाभमें, मुझे तो जीवनका एक बहुत क़ीमती मोती आज मिल ही गया---"किसी तरह भी मर्यादामें जो तुमसे बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानताका व्यवहार करते हैं, तो उसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नहीं !"

कृपा सिर झुकाकर, नम्र भावसे, कृतज्ञताके साथ, स्वीकार की जाती है और अधिकारका हम मनमाना उपयोग कर सकते हैं। कृपा वह है, जो हमें किसीसे प्राप्त हो, अधिकार वह जो हमारा अपना हो। जो हमें किसीसे प्राप्त है, वह सँभालकर रखने और सँभालकर खर्च करनेकी चीज़ है और जो हमारा है, उसे हम चाहे जैसे रक्खें, जैसे बरतें---हाँ, उपयोग दुरुपयोग न हो जाये, यह सावधानी तो रखनी ही पड़ेगी। यों पाबन्दी दोनोंमें है, पर

पहलेमें वह नैतिक है, दूसरेमें वैधानिक है। उचित पाबन्दीको निभाकर चलना उतना ही कल्याणकारी है, जितना अनुचित पाबन्दीको तोड़कर चलना और यों मर्यादा और विद्रोह जीवन-सरिताके दो स्थायी तट हैं। कब हम इस तट, कब हम उस तट, इस प्रश्नमें कबका, अवसरका, ज्ञान ही हमारी कसौटी है। हम मर्यादाको तोड़ते हैं, तो उच्छृंखल हो जाते हैं और बन्धनको तोड़ते हैं, तो विद्रोही। उच्छृंखल दण्डका और विद्रोही वन्दनाका अधिकारी है।

बैंकमें मेरे एक मित्रका पुत्र काम करता है। मैं एक दिन बैंक गया, तो उसने कहा—'नया जीवन' मुझे बहुत अच्छा लगता है, पर पढ़नेको नहीं मिलता। मैंने उसे बिना मूल्य 'नया जीवन' ले लेनेको कह दिया। तीन-चार दिन बाद मैं फिर बैंक गया, तो उसे देखकर मुझे उसकी बात याद हो आई। 'नया जीवन' की प्रति मेरे बैगमें थी, मैंने उसे देदी। इसके दूसरे मास वह मुझे मार्गमें मिला और माँगकर उसने मुझसे 'नया जीवन' ले लिया।

तीन-चार महीने बाद मैं एक दिन फिर बैंक गया, तो वह बोला—"आपने कई महीनेसे हमें 'नया जीवन' ही नहीं दिया!" उसके चेहरेपर रोष था, वाणीमें तीखापन और मुद्राओंमें शिकायत। सब मिलाकर एक ऐसा भाव कि जैसे मैं उसका जेवर मंगती लाया था, पर वह मैंने लौटाया नहीं और वह उस अभद्रताके लिए मेरी भर्त्सना कर रहा है।

मैंने उसे ज़रा ध्यानसे देखा कि मुझे पंडितजीकी वह सीख याद हो आई—"किसी तरह भी मर्यादामें जो तुमसे बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानताका व्यवहार करें, तो इसे उनकी कृपा समझो, अपना अधिकार नहीं।"

मेरे एक उदार मित्र हैं। मानवकी समानताके हामी और बहुत ही प्रेमी। उन्होंने घरेलू कामके लिए एक नौकर रक्खा। समयकी बात, पहले ही दिन उसे बुख़ार चढ़ आया। मेरे मित्रने उसे दूसरे दिन सुबह नहीं उठाया, स्वयं उठकर चाय बनाई और एक गिलास उसे दिया। बादमें उठकर उसने थोड़ा बहुत काम किया। दो-तीन दिन जबतक उसकी तबियत

खराब रही, यही सिलसिला रहा। चौथे दिन सुबह मेरे मित्र लेटे रहे, क्योंकि उनका नौकर अब स्वस्थ था और उन्हें आशा थी कि आज वही उठकर चाय बनायेगा, पर वे उसके उठनेकी बाट जोह ही रहे थे कि उनके कानोंने सुना—"बाबूजी, आज चाय नहीं बनाते !" मेरे मित्रने उठकर देखा—अपनी बुक्कलमें मुँह छुपाये, उनका नौकर उन्हें उनके कर्तव्यकी याद दिला रहा है। वही बात, वह उनकी कृपाको अपना अधिकार मान बैठा !

यह बेवकूफ़ी भी है, बदमाशी भी, पर दोनों ही दशाओंमें इसकी समान प्रतिक्रिया है यह कि मनुष्य अपनी उदार भावना पर ब्रेक लगानेकी आदत डालने लगता है और इसका अर्थ यह हुआ कि हम कृपाको मूर्खतासे अधिकार मानें या धूर्ततासे, दोनों हालतोंमें उससे समाजकी उदारताका कुछ न कुछ अंश कम करते हैं।

हज़रत उमर ख़लीफ़ाकी गद्दीपर थे। यों कहनेको ही वे ख़लीफ़ा थे, असलमें बादशाह थे—हज़रत पैग़म्बर मुहम्मदके पूरे प्रतिनिधि ! पड़ौसके किसी बादशाहसे उनकी लड़ाई चल रही थी—फ़ैसलेकी बातचीतके लिए उन्हें बुलावा आया, तो वे अपने ऊँटपर चढ़ चले।

वे ऊँटपर सवार और उनका ग़ुलाम नकेल पकड़े आगे। चार कोस गये कि उनके हुक्मसे ऊँट रुका। वे नीचे उतरे और ग़ुलामके हाथसे नकेल लेकर बोले—"अब तू बैठ जा ऊपर, मैं नकेल लेकर चलूंगा !" ग़ुलाम थक कि मुझसे क्या ख़ता हुई, जिसकी यह सज़ा है !"

उसने भरे गलेसे कहा—"मेरे आक़ा, मेरे पीर, मेरे मालिक, मुझे माफ़ करो !"

हज़रतने उसका कन्धा प्यारसे थपथपाकर कहा—"बैठ जाओ ऊपर, अब थोड़ी दूर मैं पैदल चलूंगा—आखिर तुम भी तो [illegible]।"

मालिकका हुक्म, ग़ुलाम ऊँटकी पीठपर और दुनिया भरके मुसलमानों-का ख़लीफ़ा नकेल थामे आगे-आगे। यों ही उतरते-चढ़ते ख़लीफ़ा उस

बादशाहकी राजधानीमें पहुँचे और क़िस्मतका करिश्मा कि राजधानीमें पहुँचे, तो नकेल खलीफ़ाके हाथमें और ग़ुलाम ऊँटकी पीठपर!

बादशाहके वजीर-वुज़रा ग़ुलामको सलाम करने लगे, तो घिघियाकर उस बेचारेने कहा—"अरे, मैं तो ग़ुलाम हूँ, हज़रत खलीफ़ा तो वे हैं, जो नकेल थामे हैं!"

विरोधी बादशाहने सुना, तो वह सुन्न हो गया—जो अपने ग़ुलामके साथ ऐसा व्यवहार करता है, उससे लड़कर कौन जीत सकता है और उसने बिना शर्त अपनेको हज़रत उमरके क़दमोंमें सौंप दिया!

ग़ुलामके साथ मालिककी यह कृपा है, पर कल वह इसे अपना अधिकार मान ले और किसी दिन आगे चलते-चलते ऊँट थामकर खलीफ़ासे कहे—"जरा नीचे आइये, मैं थक गया हूँ। लीजिये, यह नकेल थामिये, मैं ऊपर बैठ रहा हूँ।" तो खलीफ़ाकी उदारता भले ही समुद्र-सी गहरी और कैलाश-सी ऊँची हो, वह उसी क्षण कृपण हो उठेगी और दूसरे ही दिन हम उनके व्यवहारमें एक ऐसा अन्तर पायेंगे, जिसे पचाना हमारे लिए सुगम न होगा!

आवश्यकता है कि हम दूसरेकी ढील देखकर अपनेको ढील न दें, क्योंकि ढील भी मैशीनके एक पुर्जेकी तरह है, जो अपनी ही जगह फ़िट होकर काम देता है, हर जगह नहीं और यह बात तो हर पतंगबाज़ जानता है कि छोटी पतंग बेमौक़े ढील देनेपर पेटा खा जाती है।

अपने एक कार्यकर्ता मित्रको मैं अपने प्रान्तके एक मिनिस्टरसे मिलाने ले गया। मैं उनकी मूक साधनाका वर्णन माननीय मन्त्रीसे कर चुका था। हम दोनोंके बड़े कमरेमें घुसते ही उन्होंने मेरे मित्रको अपने पास बुलाया। मेरे मित्रने दरवाजेपर ही जूता निकाल दिया। मैंने कहा—इसकी जरूरत नहीं, तो गम्भीरतासे बोले—मुझे अपने जूतेकी क़ीमत मालूम है।

जब जब किसीको किसी बड़ेकी उदारताका दुरुपयोग करते देखता हूँ, इन मित्रकी याद आ जाती है और इनके साथ ही याद आ जाते हैं वे

ब्रह्मचारीजी, जो बहुत बड़े शायत बना करते थे। एक राजा साहबसे मैंने उनका परिचय करा दिया। राजा साहब शामको थोड़ीसी पी लिया करते थे और ब्रह्मचारीजीके लिए तो बोतल कर्मकांड ही थी।

एक दिन हम दोनों शामके समय राजा साहबके यहाँ जा निकले। राजा साहबने गिलास ब्रह्मचारीजीके सामने किया कि मेरे इशारा करते भी उन्होंने हाथ बढ़ाया और जाने कितने टन-टूमन करनेके बाद पहली घूँट भरी। मैंने देखा—ब्रह्मचारीजीने पहली घूँटमें जितनी सुस्ती बरती थी, बादमें गिलास-पर-गिलास उण्डेलनेमें उतनी ही चुस्ती बरती।

पेट भरा, तो दिमाग़ खिला। अब वे काली माईके पास थे और राजा साहबका नाम लेकर तू-तेरामें बोल रहे थे। मुझे यह बुरा लगा, पर राजा साहब 'हाँ महाराज' ही कहते रहे। दूसरे दिनसे ब्रह्मचारीजी राजा साहबका नाम लेकर पुकारना अपना अधिकार मानने लगे।

एक दिन ब्रह्मचारीजी मिले, तो मुँह सूजा हुआ था। बोले—जाड़में कई दिनसे दर्द है, पर शामको राजा साहब मिले, तो बोले—"भैया, कल हमने ब्रह्मचारीकी काली उतार दी। कल वह आया, तो कई दोस्त बैठे थे। लगा नाम लेकर पुकारने और तू-ताम बाँधने। हमने बाहर बरामदेमें बुलाकर जबड़े पर एक घूँसा दिया और बाहरकी राह दिखा दी!"

अब तीन प्रयोग हमारे सामने हैं। पहला हमारे कार्यकर्ता मित्रका, जो कभी अपने जूतेकी क़ीमत नहीं भूलते। दूसरा पण्डितजीका, जो भूलने-वालेको इशारा दे देते हैं और तीसरा राजा साहबका, जो भूलनेवालेको भूलना भुला देते हैं, पर एक चौथा प्रयोग भी है, जो हमारे लोक जीवनमें बिनलिखा सुरक्षित है।

साँप एक दिन ऋषिके पास जा बैठा। ऋषिने उसे अहिंसाका उप-देश दिया। साँपने व्रत ले लिया कि अब वह किसीको न काटेगा। ऋषि अपनी यात्रापर चले गये और साँपके व्रतकी बात सबको मालूम हो गई। लड़के उसे उठा लेते और घण्टों तोड़ते-मरोड़ते। एक दिन एक ग्वालेने

उसे अपनी गायके सींगोंमें बाँध दिया और दिन भर गाय झाड़ियोंमें सींग मारती रही—बेचारा लहूलुहान होकर बड़ी मुश्किलसे शामको छूटा, पर दूसरे दिन लड़कोंने उसे फिर खींच लिया और उसके मुँहमें रेत भर दिया।

लड़के उसकी आँखोंमें सीक देकर उसे अन्धा करनेवाले ही थे कि ऋषि उधर आ निकले। मोटा-मतंगा साँप लटकर रस्सी हो गया था और रूप-बदरूप!

खिन्न होकर बोले—"अरे यह क्या हुआ तुझे साँप?"

"महाराज, आपने ही तो अहिंसाका उपदेश दिया था!" साँपने भक्ति-भावसे, पर कातर स्वरमें कहा।

ऋषि समझ गये कि क्या हुआ है उसके साथ और बोले—"अरे मूर्ख, मैंने यही तो कहा था कि काटना मत, पर यह कहाँ कहा था कि फुंकारना भी मत।"

साँप समझ गया और आज बहुत दिन बाद उसने फन उठाकर फुंकार मारी। बस, सारे खिलाड़ी नौ-दो-ग्यारह और साँप अब व्रती भी और मौजमें भी!

मतलब यह कि उदार रहो, कृपा करो, सबके साथ समानता निबाहो, पर सस्ते न बनो, अपना भेद न दो कि दूसरे सिरपरसे रास्ता करनेकी ठानें।

हमारे राष्ट्रके महाकवि कालिदासने महाराज दिलीपके वर्णनमें कहा है—

"भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥"

दिलीपमें भयंकरता भी थी और कमनीयता भी, इसलिए उसके आस-पास वाले न उसकी अवज्ञा कर सकते थे, न उपेक्षा; जैसे भयंकर जलजीवोंके कारण लोग समुद्रको मथ नहीं सकते, पर रत्नोंके कारण छोड़ भी नहीं पाते!

कविने अपनी बात कवितामें कही, पर लोक-भाषामें बिना कविता-की कविता गाई गई है---'न गुड़-सा मीठा, न नीम-सा कड़वा !' न ऐसा ही बन कि निगला जाए और न ऐसा ही बन कि तुझे लोग थूक दें।

कविका काव्य और लोक-भाषाका उपदेश पढ़कर मुझे याद आ जाते हैं स्वर्गीय पण्डित आशारामजी और रौबीको कमरेमें लेजाकर कहा गया उनका वाक्य---"जो तुमसे मर्यादामें किसी तरह भी बड़े हैं, वे तुम्हारे साथ समानताका व्यवहार करें, तो इसे उनकी कृपा समझ, अपना अधिकार नहीं।" और तभी वे ब्रह्मचारीजी, जो उस दिन मुँह फुलाये मुझे राहमें मिले थे !

मैं सोचता हूँ, यह रोग और उसकी पूरी चिकित्सा है।
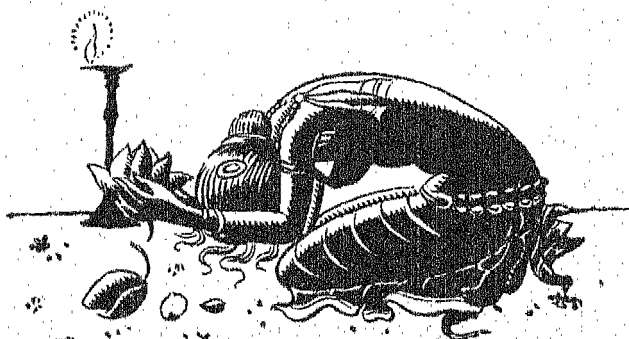
लाल सेनाकी हवाई उड़ानके नीचे

लाल सेनाकी हवाई उड़ानके नीचे हिटलरकी तरह वह अडिग अकम्प बैठा अपना काम करता है; जैसे यहाँ कुछ भी भयंकर या अशान्तिकर नहीं है। पूरी बात सुनकर आप कहेंगे कि हिटलरकी उपमामें अतिशयोक्ति है, बात बढ़ा-चढ़ाकर कही गई है, पर मैं भी उत्तरके लिए तैयार हूँ कि कहूँगा—बेशक वह हिटलर नहीं है, एक मामूली दूकानदार है, पर मेरे वाक्यकी लाल सेना भी तो रूसकी वीर लाल सेना या अंग्रेजी सरकारकी पुलिसके लिए भूत १९४२ के विख्यात विद्रोही मगनलालकी लाल सेना नहीं है, लाल ततैयोंकी फ़ौज ही है।

फिर बहसकी क्या बात है, आप पूरी बात जो सुन लें!

मोरगंजकी मंडीमें एक गुड़-शक्करकी दूकान है और उसका मालिक है, एक पतला-दुबला दूकानदार। मैं अक्सर देखता हूँ कि उसकी दूकान-पर, दूकानके बाहर सड़कपर, हजारों लाल ततैयोंकी हवाई उड़ान जारी रहती है और उसके बीचमें बैठा दूकानदार अपना काम करता रहता है। मैं उसकी दूकानके सामनेसे निकलता हूँ, पर वहाँ भी बहुत सावधानीके साथ, हाथ पैर बचाकर। फिर भी एक दिन एक दुर्घटना हो ही गई।

मैं बचा-बचा जा ही रहा था कि देखता हूँ एक ततैया; सच मानिये, एकदम बम-वर्षक-सा मेरी ओर बढ़ा आ रहा है। मैं भी अपनेको तीस मारखाओंमें शुमार करता हूँ, इसलिए मैंने हथेलीकी ढालसे उसे पीछे ढकेल दिया, पर मैं अपनी बहादुरीकी तारीफ़ भी अभी न कर पाया था कि देखा वह अपने एक साथीके साथ पूरे वेगसे मेरी ओर आ रहा है। आ रहा है क्या, वे दोनों आ गये और मुझपर झपटे। मेरी होश गुम, पर विपत्तिके

समय भी प्रयत्न करना मेरा स्वभाव है, इसलिए मैं अन्धाधुन्ध दोनों हाथ चलाने लगा; जैसे घूँसेबाज़ी कर रहा हूँ।

अब मैं पसीनेमें तर हूँ, विवेक मुझे है नहीं और हाथ बराबर फेंक रहा हूँ। अचानक मुझे लगा कि वे दोनों बस मेरी गर्दनपर लिपटनेको ही हैं। बस, मैंने दोनों कुहनियोंके बीचमें कर लिया अपना मुँह और गर्दनको लपेट लिये दोनों हाथ—बिल्कुल वही मुद्रा, जैसे पाधाजीके यहाँ बच्चे सबक़ याद न करनेपर कान पकड़ते हैं।

"बाबूजी, आपने यही तो ग़लती की, जो हाथ हिलाये। हाथ हिलानेसे ये और ऊपर आते हैं!"

यह एक पल्लेदारकी आवाज़ थी, जो राह चलते इधर आ निकला और जिसने हाथके एक इशारेसे उन दोनोंको भगाकर मेरी जान बचाई। मैं इतनी देरमें काफ़ी अस्तव्यस्त हो गया था, इसलिए पानी पीनेके लिए पासकी दूकानपर बैठ गया। नौकर पानी लेने गया है और मैं सामने ही देख रहा हूँ कि हजारों ततैयोंकी भीड़में वह दूकानदार गुड़ तोल रहा है।

एक ततैया उसके कानपर बैठ रहा है, ज़रूर काटेगा, पर नहीं, वह उड़ गया। एक दूसरा उसकी नंगी खोपड़ीपर बैठ गया। अब पिसा जायेगा इसका सिर, पर नहीं, वह भी उड़ गया। वह गुड़ तोल रहा है और मैं देखता हूँ कि उसे जो डला तराजूपर चढ़ाना है, उसपर १०-२० हजार जमा हैं। दूकानदारने उंगलीके हल्के इशारेसे वह डला हिलाया और अरे, वे सब उड़कर दूसरे डलेपर जा बैठे!

पानी पीकर मैं चला आया; यह सोचता हुआ कि इस दूकानदारको ततैये कीलनेका मन्त्र सिद्ध है या इन ततैयोंसे इसकी दोस्ती है?

× × × ×

श्रद्धेय श्री स्वामी कृष्णानन्दजीने बहुत दिन हुए अपने प्रवचनमें कहा था—एक बार भगवान् बुद्ध सायंकालके समय एक गाँवमें पहुँचे और रात

भरके लिए स्थान माँगा। मठाधीश कट्टर हिन्दू महन्त था। वह बुद्धको देखकर जल गया और घृणासे बोला—"उस नदी-तटवाली कोठरीमें स्थान है, तुम्हें पसंद आये, तो वहाँ टिक सकते हो!"

बात यह थी कि उस कोठड़ीमें एक साँप रहता था, जो कई आदमियोंको काट चुका था। महन्तके यहाँ जो मालदार यात्री आ फँसता, वह इस कोठरीमें ठहराया जाता। प्रातःकाल यात्रीकी लाश नदीमें फेंक दी जाती और मालमता महन्त अपनी अंटीमें लगाता!

भगवान् बुद्धने वहाँ निवास किया। रातमें जब वह भयंकर साँप निकला, तो भगवान् ध्यान-मग्न थे। साँप उनके सामने आया, फुंकारा, पर उन्हें क्या? उनका ध्यान न टूटा। साँप क्रोधमें अन्धा होकर सिर पटकने लगा और मर गया। प्रभातमें जब महन्त भगवान्को नदीमें फेंकने आया, तब उसने देखा भगवान् अब भी ध्यान-मग्न हैं और साँप मरा पड़ा है।

महन्तके रोम-रोममें एक प्रश्न उठा—यह क्या?

× × × ×

बरसोंकी बात है, मैंने एक कुत्ता पाल लिया। कुत्ता क्या भेड़िया था। उसकी एक ही गुर्राहटमें आनेवालेकी रूह क़ब्ज़ हो जाती थी! सुबह-शाम हम उसे घरके भीतर रखते और दोपहरको बाहर छज्जेपर बाँध देते। इस छज्जेपरसे तीसरी मंज़िलमें जानेका रास्ता था और दोपहरमें ऊपर कोई आता न था।

एक दिन अचानक दोपहरकी गाड़ीसे मेरे चाचाजी आ गये। वे हैं थानेदार! उन्होंने मुझे पूछा और ऊपर चले। बच्चोंने यह देखा और कुत्तेकी ओरसे उन्हें सावधान किया, पर वे ऊपरकी ओर चढ़ चले। उनकी आवाज़ सुनकर मैं भी (तीसरी मंज़िलपर) कमरेके बाहर निकल आया। अब मैं देखता हूँ कि वे 'टाइगर'की ओर दृढ़ गतिसे बढ़े चले आ रहे हैं और

वह खड़ा तो हो गया है, पर भौंकता नहीं। मैं बोलनेको हूँ ही कि वे उसके पास आ गये और बिना उसकी ओर देखे आगे निकल आये।

"टाइगरने आपको कुछ नहीं कहा ?" मैंने पूछा तो बोले—"यह तो टाइगर है, हमें तो भइया, चोर-डाकुओंमें जाना पड़ता है!"

जो 'टाइगर' किसीके दहलीजमें आते ही हुँकार उठता है, वह चाचाजीके पास आनेपर भी क्यों चुप रहा, क्या यह एक ज़रूरी सवाल नहीं है?

× × × ×

क्रान्तिकारी शहीद श्री रामप्रसाद 'बिस्मिल' उस दिन किसी स्टेशनसे गाड़ीमें चढ़नेवाले थे और किसी तरह पुलिसको यह सुराग़ मिल गया था। स्टेशनको पुलिसने घेर रखा था, पर उनमेंसे कोई बिस्मिलको पहचानता न था! समयपर बिस्मिल साहब आये—सूट, बूट, हाथमें हण्टर; एकदम साहब! फ़र्स्ट क्लासका टिकट और सूटकेस क़ुलीके सरपर। प्लेटफ़ार्मपर आते ही क़ुली ठोकर खा गया। अटैची सिरपरसे गिरी और उसमें रक्खा रिवाल्वर प्लेटफ़ार्मपर निकल पड़ा। पुलिस अफ़सर उधर झपटा और सारी स्थिति बिस्मिलके सामने, पर घबरा गया, तो क्रान्तिकारी क्या? बिस्मिल साहबने क़ुलीपर हण्टर बरसाने शुरू किये। क़ुली पिट रहा है, लोच रहा है और वे चिल्ला रहे हैं—"सूअर! मेरा माउजर टूट जाता, तो क्या होता!" पुलिस अफ़सरका सन्देह दूर हो गया और उसने आगे बढ़कर रिवाल्वर अटैचीमें रक्खा और क़ुलीसे सामान फ़र्स्ट क्लासमें रखवा दिया। बिस्मिलने अफ़सरको धन्यवाद दिया और अपने डिब्बेमें चले आये।

शिकारको अपने हाथमें पाकर भी पुलिस-अफ़सर क्यों चूक गया?

× × × ×

चारों उदाहरण अपने-अपने ढंगपर अलग-अलग क़िस्मके हैं, पर उन चारोंमें जो चार प्रश्न उठकर हमारे सामने आते हैं, उनका उत्तर हम एक शब्दमें पा सकते हैं और वह शब्द है स्थिरता! स्थिरता, यानी संकटका,

चिन्ताका, समय होनेपर भी अपने मनको, विवेकको, सोच-विचारकी शक्तिको स्थिर रखना।

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते।
येषां न चेतांसि त एव धीराः॥"

"घबराहटका अवसर होनेपर भी जिनके मन अस्थिर नहीं होते, वे ही वास्तवमें धीर पुरुष हैं।" यह धीरता कुछ लोगोंमें स्वभावसे ही होती है और जिनमें नहीं होती, वे भी अभ्याससे इसे बहुत कुछ पा सकते हैं। इसका एक उदाहरण स्वयं मैं हूँ।

बचपनमें मैं बहुत डरपोक था, क्योंकि मेरी माँ लाड़के कारण मुझे मनुष्य नहीं, चिड़ियाका बच्चा समझती थी! शाम होते ही मैं घर आ जाता था। अन्धेरेके नामसे भी मैं घबराता था और मुहल्लेसे बाहर तो मैं दिनमें भी नहीं जा सकता था। बड़े होनेपर मैंने धीरे-धीरे अपनेको सबल किया और उसीका फल है कि जिन परिस्थितियोंमें बहुतसे लोग प्राण छोड़ देते हैं, आज मैं उनमें हँस सकता हूँ—हँसता रहा हूँ।

धीरता प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय ईश्वर-विश्वास है। जो भगवान् करेंगे ठीक है, मेरा काम केवल काम करना है, इस तरहका चिन्तन मनुष्यको धैर्य देता है और धीरे-धीरे धैर्य आदत हो जाती है। जब जीवनमें अधीरताकी कोई घटना हो, तो बादमें उसपर एकान्तमें बैठकर कुछ देर पछताइये—बात ही क्या थी कि मैं घबरा गया, भविष्यमें ऐसे अवसरपर मैं शान्त रहूँगा, इस तरहके विचारोंसे चरित्र बनता है। दण्ड स्वरूप एक समय या एक दिनका भोजन छोड़ दीजिए, तो जल्दी सफलता मिलेगी, आ-पड़े संकटोंको सुगम भी करेगी।

घबराये मनुष्य! तेरे भीतर ईश्वरकी विभूति है, खुदाका नूर है। मनको शान्त कर, हाथोंकी मुट्ठियाँ बाँध. [illegible] रास्तेकी रुकावटें, कायरोंके लिए ही रुकावटें हैं। धीर पुरुषके लिए वे रास्तेकी

सीढ़ियाँ बन जाती हैं। विपत्तियोंको दूर या पाससे देखकर हाथ पैर न फुला। अपने मनको पकड़े रह। भगवान् बुद्धकी आत्म-साधना हमारे पास भले ही न हो, गुड़वाले दूकानदार, मेरे चचा थानेदार और बिस्मिलकी स्थिरता तो हम सब मनुष्योंकी अपनी ही चीज़ है। हम बिना टिकट सफ़र नहीं कर रहे हैं। टिकट हमारे पास है, इस जेबमें नहीं, तो उस जेबमें, यहाँ नहीं मिलता, तो स्टेशनपर हम उसे पा ही लेंगे। यह जो अचानक चलती रेलमें टिकट चैकर आ खड़ा हुआ है, इससे हम क्यों झेंपें, क्यों घबरायें?

मैं यह हूँ, मैं वह हूँ !

हिन्दीके एक प्रख्यात कहानी-लेखकसे उनके एक साथीने एक बार पूछा कि आपकी अपनी अमुक कहानीके सम्बन्धमें क्या राय है ?

कहानी-लेखक महाशय बोले—"मेरा काम कहानी लिखना है, सो मैंने कर दिया। अब उस पर सम्मति देना कि वह कैसी रही, यह आपका काम है। भला अपना काम मुझसे क्यों कराना चाहते हैं ?"

इस प्रश्न और उसके उत्तरसे स्पष्ट है कि लेखकके लिए पूरा अवसर था कि वह अपनी प्रशंसा स्वयं कर सके, पर उसने उसका वैसा उपयोग नहीं किया। हम कह सकते हैं कि यह उसकी शालीनता थी और यों वह हमसे प्रशंसा पा गया !

एक दूसरे लेखक हैं। उनकी पुस्तक पढ़कर एक दूसरे साथीने उनसे कहा—"आपकी यह पुस्तक बहुत अच्छी रही।" लेखक महोदय हाथ जोड़कर खिसियाते-से बोले—"अजी, पुस्तक तो आपकी है। हम तो यों ही काग़ज़ काला करते हैं।"

इस प्रश्न और उसके उत्तरसे स्पष्ट है कि लेखक अपनी पुस्तककी उस प्रशंसाको काफ़ी नहीं समझता और अपनी सामाजिक चतुरतासे वह अपने साथीको मजबूर कर रहा है कि वह उस पुस्तककी और अधिक प्रशंसा करे।

एक तीसरे लेखक हैं। अभी हालमें उनकी एक पुस्तक छपी है। उस दिन रास्तेमें मिल गये और मिलते ही बोले—"भाई साहब, हमारी पुस्तक आपने पढ़ी ?"

मैंने कहा—"हाँ देखी तो थी; खूब लिखते हैं आप !" बोले—"आज-कल धूम है हिन्दीमें उस पुस्तककी !" मुझे काम जाना था, इसलिए मैंने

उन्हें धकेलते हुए-से कहा---"अरे साहब, आपकी धूम न होगी, तो किसकी होगी ।" मेरा खयाल था कि अब वे मुझे जाने देंगे, पर उन्होंने जोरसे ठहाका मारकर हाथ मिलानेके ढंगपर मेरा हाथ थाम लिया और हाथ पकड़े ही पकड़े बोले---"भाई साहब, हमारी यह पहली ही पुस्तक है और श्रीयुत 'क,' श्रीयुत 'ट' और श्रीयुत 'श' की कई-कई पुस्तकें निकल चुकी हैं, पर हमने उन्हें पहली पुस्तकमें ही पछाड़ दिया है; यह सब आपकी कृपा है ।"

अब बताइये, मैं क्या कहूँ ? क्या यह कहकर अपनी प्रतिष्ठा कम करूँ कि नहीं जी, मेरी कृपामें यह ताक़त कहाँ कि आपको सर्व-श्री क, ट, श को पछाड़नेकी शक्ति दे सके ! या यह कहकर अपने ही हाथों अपनेको बेवक़ूफ़ बनाऊँ कि हाँ जी, यही बात है, सचमुच आपने अपनी पहली ही पुस्तकमें उन तीनों अग्रजोंको चारों खाने चित्त दे मारा है ? आखिर, क्या कहूँ मैं उनसे ?

"चुप रहूँ !" यह आपकी राय है, पर मालूम होता है कि आप रायके ही बहादुर हैं, तभी तो आपकी यह राय है । यह राय देते समय आपने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि मेरा हाथ उनके हाथमें इस तरह दबा हुआ है; जैसे कन्यादानके समय दुलहिनका हाथ दूल्हेके हाथमें होता है कि दुलहिन चाहे, तब भी उसे खींच नहीं सकती ! फिर वहाँ, तो सामाजिक मर्यादाका ही बन्धन होता है और यहाँ ताक़तका सवाल है । आप देख नहीं रहे हैं कि लेखक महोदयने मेरा हाथ इस तरह कसकर चुस्त-चौकस थाम रखा है कि जैसे कोई समझदार डाक्टर मेरे हाथकी टूटी हुई हड्डी-का अन्दाज़ा ले रहा हो । तो मतलब यह है कि मैं कन्नी नहीं काट सकता और मौन धारण करके पीछा छुड़ानेका भी अवसर मुझे मिल जाये, यह सम्भव नहीं । यह देखिये, मेरे मित्र, मेरा हाथ दबाकर मुझपर उत्तरका तक़ाज़ा कर रहे हैं । बात यह है कि मेरे मित्र समझदार हैं और खूब जानते हैं कि नींबू हो या संतरा, रस दबावसे ही निकलता है ।

तो मुझे उनकी बात पर कुछ कहना ही पड़ेगा और उनकी बात है

यह कि—"भाई साहब, हमारी यह पहली ही पुस्तक है और श्रीयुत क, श्रीयुत ट, और श्रीयुत श की कई-कई पुस्तकें निकल चुकी हैं, पर हमने उन्हें पहली ही पुस्तकसे पछाड़ दिया है। यह सब आपकी कृपा है!"

सत्यको रक्षाका आश्वासन और असत्यको थपथपी देते हुए मैंने कहा—"जी, बहुतसे खिलाड़ी ऐसे भी होते हैं, जो फ़ील्डमें उतरते ही दर्शकोंका मन मोह लेते हैं।"

लेखक महोदयके चेहरे पर मुस्कानकी लहर खेल गई और तब उत्साह क्या, उल्लाससे भरकर उन्होंने पूरे जोरसे मेरा हाथ झकझोर दिया। मैंने इसे इस चौराहा-चौकड़ीका विदाईपत्र समझा और अपनी तरफ़से भी इसमें अच्छा खासा हिस्सा लिया, पर मेरा यह सोचना मेरी भूल थी; क्योंकि मेरा हाथ अब भी उनके हाथमें, सच मानिये, उसी तरह दबा था, जैसे जिलदसाजके शिकंजेमें किताब कसी रहती है!

कसे ही कसे बोले—"भाई साहब, आपको मालूम है कि विख्यात समालोचक डा० शिवकुमार शर्माने हमारी पुस्तकपर क्या सम्मति दी है?"

"जी, नहीं, मुझे मालूम नहीं" मैंने यह कहा, तो आश्चर्यसे वे बोले—"वाह वाह, उस सम्मतिकी तो आजकल साथियोंमें धूम है और आपको उसका पता भी नहीं?"

मौन रहकर मुझे मानना पड़ा कि मुझसे साहित्य-देवताके मन्दिरमें यह भयंकर भूल हो गई है कि अभी तक मुझे इनकी पुस्तकके सम्बन्धमें लिखी डा० शर्माकी उस सम्मतिका ज्ञान ही नहीं हुआ, जो किसी पत्रमें नहीं छपी, शायद एक पत्रमें इनके पास आई, जिसे इन्होंने किसीको नहीं दिखाया—हाँ, इन्हींके शब्दोंमें जिसकी आजकल साथियोंमें धूम है!

मेरे मौनको, प्रसन्नताकी बात है कि उन्होंने काफ़ी गम्भीर प्रायश्चित्त मान लिया और बोले—"भाई साहब, डा० शर्माने कहा है कि इस पुस्तकमें जो निबन्ध संकलित किये गये हैं, उन्होंने हिन्दीमें एक नई शैलीको जन्म दिया है, जो शताब्दियों तक भावी लेखकोंको राह दिखायेगी!"

अब मैंने धारको काटनेमें मूर्खता और उसके साथ तैरनेमें अक्लमन्दी मान ली थी। तैराकीका आनन्द लेते हुए मैंने कहा—"वाह, तब तो यह निश्चय है कि ईसाकी तीसवीं शताब्दीमें निबन्धोंके जो क्लासिकल संकलन छपेंगे, उनमें आपके निबन्धोंको भी स्थान मिलेगा।"

लेखक महोदय फूलकर कुप्पा हो गये और फूटकी तरह खिलकर बोले—"यह सब आपका आशीर्वाद है भाई साहब ! अच्छा आपको इस बारेमें एक और बात बताऊँ ?"

मुझे तो अब जमकर तैरना था, इसलिए कहा—"हाँ, हाँ, ज़रूर बताइये, यह तो हमारी राष्ट्रभाषाके लिए बहुत ही गौरवकी बात है !"

मैंने देखा कि उनके चेहरेपर एक नई चमक ही नहीं आई, स्वर भी भुरभुरा हो गया; जैसा कि अक्सर आपने मौन दिये शकरपारेमें अनुभव किया होगा।

बोले—"इसे आप अहंकारकी बात न समझें, मेरा यह विश्वास है कि मेरे इन निबन्धोंने कहीं-कहीं तो विश्वविख्यात अमेरिकन निबन्ध-लेखक इमर्सनके निबन्धोंको फीका कर दिया है।"

ज़रा रुककर बोले—"आप देख लीजियेगा कि आज नहीं तो कल, यह बात आलोचकोंको झकमारकर स्वीकार करनी पड़ेगी और मेरे निबंधोंका अनुवाद शीघ्र ही संसारकी सब भाषाओंमें हो जायेगा।"

यह सब सुना तो मैं तैरना भूलकर अवाक् रह गया। अवाक्; जैसे पत्थरकी मूरत। मेरे दिलकी धड़कन ही धीमी नहीं पड़ी, आँखें भी खुली ही रह गईं। मैं क्या सोच रहा था ? सच यह है कि कुछ भी सोचनेके लायक मैं नहीं था। एक मानसिक सन्नाटा मुझपर छा गया था !

हर आदमी दुनियाको अपनी ही आँखसे देखता है और हर आँखके देखनेका अपना ढंग है। लेखक महाशयने मेरे मानसिक सन्नाटेको वैसी मुग्धता समझी, जैसी कि कैलासके निकट पहुँचकर एक भावुकके मनपर

छा जाती है और तब स्वयं भी मुग्ध होकर वे बोले—"भाई साहब, आपको मालूम है कि यह पुस्तक मैंने कितने दिनोंमें लिखी है ?"

मैंने सिर हिलाया, तो बोले—"कुल साढ़े पाँच महीनेमें ! लीजिये, पूरा हिसाब ही जो आपको दिये देता हूँ । १९ मार्चको पहला निबन्ध लिखा था और २४ जूनको पुस्तक प्रेसमें दी । यों समझिये कि आधे ही निबन्ध तबतक तैयार थे । इधर वे छपते रहे, उधर मैं आगेके लिखता रहा और इस तरह पुस्तक १४ सितम्बरको तैयार होकर बाज़ारमें आ गई !"

मैंने कहा—"भाई, आपने तो पाँच महीनेमें वो काम कर दिया कि दिल्लीसे न्यूयार्क तक छा गये । सचमुच आप राष्ट्रभारतीके वीर पुत्र हैं !"

यह मेरी कराह थी, पर आपसे कहा नहीं अभी मैंने कि हर आदमी दुनियाको अपनी ही आँखोंसे देखता है और हर आँखके देखनेका अपना ढंग है, मेरी कराहमें उन्हें संवर्धनाके स्वर सुनाई दिये और हाथ छोड़कर उन्होंने मेरे पैर छू लिये । यह शायद इतनी देर मन लगाकर बात सुननेका पारिश्रमिक था ।

जब लेखकोंकी बात चल निकली है, तो एक और सुन लीजिये । हमारे देशमें ईसाकी बीसवीं शताब्दीके आधे भागमें एक ऐसे लेखक होगये हैं, जिन्हें हमारे साहित्यका ही नहीं, हमारे राष्ट्रका इतिहास सदा आदरके साथ याद करेगा ।

उन्होंने अपने उभरते दिनोंमें एक मासिक पत्रिकाके विशेषांकका सम्पादन किया । विशेषांकमें लेख थे, कविताएँ थीं, गद्यगीत थे, आलोचनाएँ थीं, परिचय थे, टिप्पणियाँ थीं, यात्रावृत्तान्त थे, अनुसन्धानोंकी भूमिकाएँ थीं—संक्षेपमें सर्वांगपूर्ण विशेषांक था । आलोचकोंने लिखा कि हरेक लेख अधिकारी लेखकसे ही लिखाकर सम्पादक महाशयने इस विशेषांकको एक गुलदस्ता बना दिया है ।

बादमें धीरेसे बातकी पुड़िया खोल दी गई कि ये सब रचनाएँ उन विशेषांक-सम्पादक द्वारा ही रची गई थीं। बस फिर क्या था, पत्रोंमें इस समाचारकी ही डौंडी नहीं पिटी, इस समाचार पर नफीरी भी बजाई गई और अनेक कार्यालयोंसे एक साथ उन महाशयकी चहुँमुखी प्रतिभाका जयघोष हुआ।

ये चार नमूने आपके पास हैं। इनमें विभिन्नता है, ये चारों अलग-अलग मानसिक मानदण्डोंके प्रतिनिधि हैं, पर इनमें एक बात समान है कि सभी अपनी प्रशंसा चाहते हैं। इस समानताको देखकर क्या हम जीवन शास्त्रका यह सामान्य-सूत्र रच सकते हैं कि आत्मप्रशंसा मनुष्यकी एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है ?

निश्चय ही हम इस सूत्रकी रचना कर सकते हैं, पर इसे रचकर हमें कहीं उलझना न पड़े, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि सूत्रकी रचना करते ही एक तीखे प्रश्नका हमें सामना करना पड़ेगा। वह प्रश्न यह है—जब अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होनेकी वृत्ति मनुष्यमें स्वाभाविक है, तो चौराहेपर मिले लेखक महाशयकी बातें सुनकर हमारे मनमें वितृष्णा क्यों पैदा हुई ? वे बेचारे अपनी प्रशंसा ही तो कर रहे थे !

प्रश्न सचमुच तीखा है और अपने लिए जगह चाहता है। यह जगह देनी पड़ेगी और यह हम इस तरह करेंगे कि कहें—अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होनेकी वृत्ति मनुष्यमें स्वाभाविक है, पर इस वृत्तिके वशमें होकर यहाँ तक बढ़ जाना कि हम अपनी प्रशंसा आप स्वयं करने लगें, जीवनकी, हमारे चरित्रकी एक हीनता है। इसे हम यों समझेंगे कि भोजन मनुष्यकी स्वाभाविक वृत्ति है [illegible] है।

संसार [illegible]
हत्या ही कहा है। यह कहना भी एक कहानी है। लीजिए, यह कहानी भी सुन लीजिये।

महाबली अर्जुनकी यह प्रतिज्ञा थी कि जो मेरे धनुष गाण्डीवकी निन्दा

करेगा, मैं उसकी हत्या करके ही जल पीऊँगा। घरमें सब लोगोंको यह मालूम था, पर शोकका आवेग प्रबल होता है, युधिष्ठिर ही उस दिन कह बैठे कि धिक्कार है अर्जुन, तेरे गाण्डीवको, जो वह अभिमन्युकी रक्षा न कर सका।

अर्जुनने कहा—"यह तो जो कुछ है, सो ठीक है, पर अब आप जीवित नहीं रह सकते और मैं आपकी हत्या करके ही जल पीऊँगा।"

अर्जुनकी बात सुनी, तो सब सन्न, क्योंकि सभी उसकी गम्भीरतासे परिचित थे! मामला बिगड़ता देखकर कृष्ण बीचमें आ बैठे और बोले—"ठीक है तुम्हारी प्रतिज्ञाकी पूर्ति होनी चाहिए, क्योंकि जिसकी प्रतिज्ञा अपूर्ण रहे, वह कैसा क्षत्रिय? आइये धर्मराज, यहाँ सामने बैठिये और अर्जुनको अपना काम करने दीजिये!"

धर्मराज सामने आ बैठे। अब मामला और भी संगीन दिखाई दिया, पर तभी चतुर-शिरोमणि कृष्णने कहा—"अर्जुन, तुम्हारी प्रतिज्ञा हत्या करनेकी है सिर काटनेकी नहीं और शास्त्रोंमें किसीको उसके सामने कड़वे शब्दोंमें भर्त्सना करना भी हत्या है। तुम इसी रूपमें धर्मराजकी हत्या कर, अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर सकते हो!"

प्रतिज्ञा पूरी हुई, लोगोंका बोझ उतरा, पर तभी भीमने एक नई फुलझड़ी छोड़ दी। उसने कहा—"हम सब भाइयोंकी यह प्रतिज्ञा है कि यदि किसी एककी मृत्यु हो गई, तो बाकी भी आत्महत्या कर लेंगे। अब क्योंकि धर्मराजकी मृत्यु हो गई है, इसलिए हम सबको भी चितारोहण करना चाहिए।" वातावरण फिर ज्योंका त्यों गम्भीर हो गया। कृष्णने सोचकर कहा—"परिणाम कुछ भी हो, प्रतिज्ञाकी पूर्ति तो होनी ही चाहिए, पर आपकी प्रतिज्ञा जीवनका अन्त करनेकी नहीं, आत्मघात करनेकी है। शास्त्रोंमें अपनी प्रशंसा आप करनेको आत्मघात ही माना है। आप लोग भी अपने गुणोंका स्वयं बखान करके यह प्रतिज्ञा-पूर्ति करें।" सबने अपनी-अपनी डींग हाँकी और उठ खड़े हुए।

हाँ, यह एक कहानी है, पर क्या जीवनका एक महान् सत्य नहीं है ? जो सुन्दर है, जो स्वस्थ है, जो गुणी है, उसे अपने सौन्दर्यका, अपने स्वास्थ्यका, अपने गुणोंका ज्ञान रहे और वह इस ज्ञानसे अपने भीतर एक प्रसन्नता, एक आनन्द अनुभव करे, यह मनुष्यकी स्वस्थ दशा है । वह यह चाहे कि मैं अपने सौन्दर्य, अपने स्वास्थ्य और अपने गुणोंको दूसरोंके मस्तिष्कमें ठूसूँ और उन्हें विवश करूँ कि वे उनका महत्त्व स्वीकार ही न करें, उसकी घोषणा भी करें, यह मनुष्यकी अस्वस्थ दशा है । अपनी प्रशंसा आप करनेकी वृत्ति इस अस्वस्थताको वैसे ही बाहर प्रकट करती है; जैसे देहके भीतरकी गन्दगीको फोड़े ।

"तो क्या यह एक मानसिक रोग है ?" प्रश्न ठीक है और उत्तर है—हाँ, यह एक मानसिक रोग है ! यह उत्तर निश्चय ही एक नये प्रश्नको जन्म देगा । नया प्रश्न यह होगा कि रोगके निवारणका उपाय करना रोगी-का भी कर्तव्य है और समाजका भी, तो इस रोगके निवारणका उपाय क्या है ?

उपाय है और वह बहुत कठिन भी नहीं है । जिन्हें यह रोग है, वे उसे, उसकी हीनताको अनुभव करें और बार-बार सोचें कि वे इस हीनताका शिकार होकर, समाजकी आँखोंमें न गिरेंगे । बार-बारके इस चिन्तनसे उनका रोग निश्चय ही घटेगा, पर उनके साथ ही समाजको भी अपने हिस्सेका भाग निभाना पड़ेगा । वह यह कि जिनकी जितनी प्रशंसा होनी उचित है, उनकी प्रशंसा करनेमें वह कृपण न हो और जो प्रशंसाके पात्र नहीं हैं, किसी भी कारणसे उनकी प्रशंसा न करें !

यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि जब हम उचित प्रशंसा नहीं पाते और इससे भी बढ़कर उन्हें प्रशंसा पाते देखते हैं, जो हमारी अपेक्षा गुणहीन हैं, तो हममें अपनी प्रशंसा आप करनेकी हीनता उत्पन्न होती है ।

मैं, तुम, वे—सब अधूरे !

"चश्मा लिये बिना आपका सिर-दर्द ठीक हो ही नहीं सकता !" एक अनुभवी मित्रने कहा, तो मैं मजबूर हो गया कि आँखोंके डाक्टरको आँख दिखाऊँ !

जीवनके आरंभिक वर्षोंमें पाधाजीने जो वर्णमाला पढ़ाई थी, उसकी फिरसे तीव्र परीक्षा करके डाक्टरने कहा—"योर लाँग साइट इज आल राइट !"—तुम्हारी दूरसे देखनेकी शक्ति तो ठीक है !

ताजी परीक्षाकी जो थकान मुझपर छा-सी रही थी, उसे उतारते हुए मैंने कहा—डाक्टर, संसारमें लाँग साइट तो सभीकी ठीक है, निर्बल तो शार्ट साइट—पाससे देखनेकी शक्ति—ही है।

डाक्टर खो गया है, यह मैंने उसकी मुद्रासे जाना। ठीक भी है, वह आये दिन ऐसे रोगी देखता है, जिनकी दूरसे देखनेकी शक्ति निर्बल है और मैं कह रहा हूँ कि डाक्टर, लाँग साइट तो संसारमें सभीकी ठीक है।

राह टटोलते-से उसने कहा—"जी ?"

मैंने उसके चारों ओर जैसे एक जाला और पूर दिया—जी, क्या डाक्टर, ठीक बात है, संसारमें दूर देखनेकी शक्ति तो सभीकी ठीक है, निर्बलताने तो पास देखनेकी शक्तिको ही घेर रखा है ! और तभी मैंने यह सारा जाला समेट-सा लिया—डाक्टर, तुम्हारी स्त्रीको सारे गुण मुझमें और सारे दुर्गुण तुममें दिखाई देते हैं, पर मेरी स्त्रीको सारे गुण तुममें और सारे दुर्गुण मुझमें दिखाई देते हैं, यह इसके अनिश्चित और भय। है कि लाँग साइट इज आल राइट !

डाक्टर सुलझ गया—"यस-यस पण्डितजी", और सुलझ गया कि जोरसे हँस पड़ा। तब सुनाई मैंने उसे एक अपनी कहानी। साहित्यिक

क्षेत्रमें प्रवेश करते-करते ही मैं बनाया गया एक विशेषांकका संपादक ! यह सूचना पत्रोंमें छपी और वे पत्र मेरी जन्मभूमिके पुस्तकालयमें भी आये।

समयकी बात; मैं पुस्तकालयमें बैठा भीतर एक पुस्तक देख रहा और बाहर बरामदेमें कुछ लोग पढ़ रहे पत्र। उस समाचारपर दो तीनका ध्यान गया और आश्चर्य कुहरा-सा उनपर बरसा, तो बात चल निकली। यह सुनकर दूर बैठे एक सज्जनने पूछा—कौन प्रभाकर ? उन मित्रोंने बताया—समझाया, तो वे बोले—"अच्छा, वो रामा मिस्सरका लौण्डा !" मैंने सुना और मान लिया कि मैं उनके पास हूँ, तो संपादक, लेखक या और कुछ विशिष्ट भला कैसे हो सकता हूँ ? मैं हूँ सिर्फ़ 'रामा मिस्सरका लौण्डा' और बस यही !

डाक्टर साहब हँसे और तब सुनाई उन्होंने अपनी भी कहानी—"मैंने डाक्टरी पास की, तो अपने ही क़स्बेमें काम आरम्भ किया। मैं जब देहातसे आये किसी बीमारको देख रहा होता, पास-पड़ौसकी कोई बुढ़िया अपने पोतेको लिये आती और ज़ोर-ज़ोरसे मुझे कहती—"अरे रामधन, ले इसकी आँखमें जरा-सी दवा डाल दीजो !" यह सुनना भी एक साधारण बात थी—"अब तो भाई, बड़ा आदमी हो गया है तू !" ऊबकर दवाख़ाना यहाँ उठा लाया और अब मज़ेमें हूँ।

डाक्टर साहब हँसे, तो मैंने भी उनकी हँसीमें अपनी हँसी मिला दी—तो अब तो आप मान गये कि संसारमें दूरसे देखनेकी शक्ति अधिकतर लोगोंकी सही है ?

जगजीवनकी स्त्री एम० ए० पास है, संगीतमें तानसेन और नृत्यमें उदयशंकरके पास बैठती है। स्वतन्त्रता-दिवसको क्लब-गोष्ठीमें उसने अपनी कलाका जो प्रदर्शन किया, उसकी धूम मच गई !

वासुदेवकी स्त्री साधारण पढ़ी लिखी है, नम्र है, सेवाशील है. रात दिन अपने पति और परिवारकी सेवामें लीन रहती है।

रातमें प्राय: जगजीवन कहता है—"गाना बजाना तो मनुष्य सिनेमामें जाकर भी देख-सुन सकता है, अपनी पत्नीसे वह कुछ और ही आशा करता है। वासुदेवकी पत्नी साक्षात् देवी है, दिन भर काम करती है और क्या मजाल कि बिना पैर दबाये वासुदेवको रातमें सोने दे!"

प्राय: ठीक इसी समय वासुदेव कहता है—"खाना-बर्तन, झाड़ू-बुहारू, पैर दबाना और कपड़े धोना; यह सब दस रुपयेका नौकर भी कर लेता है, मनुष्य अपनी स्त्रीसे कुछ और ही आशा करता है, देवी जी! जगजीवनकी स्त्री है, क्लब जाती है, अफ़सरोंसे मिलती है और अपने पतिके दस काम बनाकर लाती है! अगर वह बैठी पैर ही दबाती रहे, तो क्या फ़ायदा?"

यहीं एक प्रश्न—यदि जगजीवन और वासुदेव परस्पर अपनी पत्नियाँ बदल लें, तो क्या संतुष्ट हो सकते है? ऊपरसे कहनेको जी चाहता है—हाँ, पर अनुभव इसका समर्थन नहीं करता। कुछ सप्ताहोंमें ही जगजीवनका मन गूंजती स्वर-लहरी और थिरकते घुंघरुओंके लिए और वासुदेवका मन पिंडलियोंकी हड़कलका विष चूसनेको उचकती उंगलियोंके लिए विह्वल हो उठेगा!

फिर? यह एक प्रश्न है, जो मनमें यहाँ उमड़ता है। प्रश्न छोटा-सा है, पर इसके भीतर जिज्ञासाके पुराण बिखरे हैं। फिर कुछ नहीं, बात यह है कि मनुष्य क्या चाहता है? यह चाहता है, वह चाहता है? ना, सत्य यह है कि वह सब चाहता है, न यह, न वह। चाहता है वह यह भी और वह भी और कमाल यह है कि एक ही स्थानमें, एक ही पात्रमें, पर जीवनका सत्य चिर अतीतमें संस्कृतके कविने पा लिया था, जो इस प्रकार है—

"प्रायेण सामग्रविधौ गुणानां
पराङमुखी विश्व-सृजः प्रवृत्तिः"

—ब्रह्माजीका स्वभाव सब गुणोंको एक ही स्थानमें एकत्र करनेके विरुद्ध है—वे कहीं कुछ रखते हैं, तो कहीं कुछ और!

इकराम और हरिसिंह, दो पुराने साथी। इकराम ऐसा कि दुश्मनोंके भी काम करता चले और यही नहीं कि दूसरोंके काम आना उसका स्वभाव, यही उसका चाव भी। अपना समय और शक्ति लगाकर दूसरोंके काम करे और उनमें रस भी ले। हरिसिंह उस दिन मिला, तो नाराज़, इकरामके बारेमें उसे शिकायत कि एक बात कही थी, उसने नहीं मानी! बात न मानना इकरामके स्वभावके ही विरुद्ध, फिर यह क्या बात? जाँच की, तो जाना कि इसी वर्षमें इकरामने हरिसिंहके दस काम सँवारे हैं। ग्यारहवें कामके समय वह बीमार हो गया और काम न कर पाया। अब हरिसिंह उन दस कामोंकी कहीं चर्चा नहीं करता, उस एक कामके नारे सब जगह लगाता है। उसके मनमें उन दस कामोंका आभार तो कहीं नहीं है, इस एक कामका उपालम्भ ज़रूर भरा है—उस बच्चेकी तरह जो दिन भरकी सेवाको सायंकालका पैसा न मिलनेपर भूल जाता है और रूठा फिरता है।

एक सार्वजनिक मित्र हैं श्री तेलूराम। वे तब थे डिस्ट्रिक्ट बोर्डके प्रधान। उन्होंने मित्रोंका एक मर्मस्पर्शी, पर मनोरंजक अनुभव सुनाया। बोले—"हरेक कहता है कि मैं इस पदपर रहते संस्थाकी प्रतिष्ठाका ध्यान रक्खूँ और हरेक चाहता है कि मैं इस पदपर रहते, उसकी अनुचित माँगको तुरन्त पूरा कराऊँ!" कोई भला आदमी समुद्रके दो किनारोंको एक साथ भला कैसे मिलाये?

डाक्टर कहता है, वकालतमें बड़ा आनन्द है, वकील कहता है आनन्द तो बस डाक्टरीमें है। एडीटरको आडीटर और आडीटरको एडीटर सुखमें दिखाई देता है। बात यह है कि जो हमें प्राप्त है, हम उसे नहीं देख पाते, जो दूर है, वह हमारी उत्सुकताका केन्द्र है— [illegible] निकट हमें दिखाई नहीं देते!

जीवनका सच्चा पथ यह नहीं है कि जो हमें प्राप्त नहीं, उसके लिए रोते रहें। जीवनका सच्चा पथ यह है कि यत्न या योगसे जो हमने पा

लिया उसे पहचानें, उसे अपने अनुकूल बनायें, उसमें रस लें और संतोषका सुख पायें।

सब कुछ अधूरा हमें मिला, सब कुछ पूरा दूसरोंको; यह मृगतृष्णा है, जीवनका दिग्भ्रम है। जीवनका सबसे बड़ा सत्य है—अपूर्णता। मैं, तुम, वे, सब अपूर्ण, अपनेमें सब अधूरे; इस अपूर्णताका समन्वय, इस अधूरेपनका सदुपयोग ही जीवनकी सबसे बड़ी कला है।
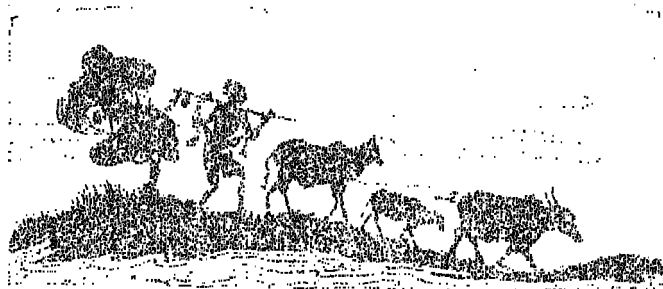
विद्यावतीके दो बेटे !

श्रीमती विद्यावती कौशलका छोटा लड़का है फालू । यह कोई उसका नाम नहीं । नाम तो है अशोक, पर हम कहते हैं उसे फालू, तो यह हुआ उपनाम ! अवस्था है पाँच वर्ष, पर वह अभीसे पूरा लोग है—कामसें, चैतन्यमें, समयमें, बातचीतमें और भोजनमें !

वह इकला ही बहुत कुछ है, बालक भी, बूढ़ा सलाहकार भी, तरुण सेवक भी । अजीब बालक है सुसरा ! अन्धेरी रातमें दो बजे उसे गहरी नींदसे जगाकर कहिये कि तबियत खराब है बेटा ! तो तुरन्त कहेगा कि डाक्टरको बुला लाऊँ ? और जब तक उसकी बात पूरी हो कि वह चलनेको तैयार दिखाई देगा ।

क्या यह एक बालकका बस उत्साह ही है ? ना, वह उस अन्धेरी रातमें अपने घरसे कई फर्लांग दूर, डाक्टरके बंगले पर चला जायेगा और उसे जगाकर, पूरी बात समझाए, ले आयेगा । रास्तेमें वह इतना सावधान रहेगा कि देखकर सोचना पड़े कि यह मोर्चों पर काम करनेके लिए ही जन्मा है क्या ?

पिछले साल मसूरीमें हम तीनों घूमने चले । बसन्त सिनेमाके सामनेसे कैमिल्स बैंक सड़क पर चढ़े कि पास ही है बच्चोंका खेल घर ! क्या देखता हूँ एक नौकर किसी ऊँचे परिवारके दो बालकोंको लिये खड़ा है । बालक ८—१० वर्षके, स्वस्थ, मोटे-ताजे । नौकर उन्हें कह रहा है कि जाओ, खेल-घरमें झूलो-खेलो, पर वे नहीं जाते । इसीके लिए वे घरसे आये हैं, नौकर उन्हें उकसा रहा है, सामने ही दूसरे छोटे-छोटे बालक खेल-किलक रहे हैं, फिर उनमें यह झिझक क्यों है ?

मैं ठिठक गया, देखता रहा, पर वे बालक नहीं बढ़े । तब आगे आ

मैंने उस नौकरसे कहा—"भैया, जब तुम घर पहुँचो, तो इनकी माँसे कहना कि एक खद्दरवाला मिला था। उसने आपको नमस्ते कहा है और यह सन्देश भेजा है कि आप माँ मन गईं, पर आपको माँ बनना नहीं आता। अभी तक देश गुलाम था, सो निभ गई, पर अब तो देश स्वतन्त्र है। सम्भव है अनजान माएँ पकड़ी जाने लगें, इसलिए कृपाकर आप सावधान रहें।"

नौकरकी आँखोंमें गरमी आ गई—"क्यों आप ऐसी बात कहते हैं?"

"अरे भाई, वे समझदार माँ होतीं, तो उनके बच्चे इतने डरपोक न होते कि खेलघरमें जाते हुए भी घबरायें?" मैंने कहा।

"बच्चे तो बाबू साहब, सभीके झिझकते हैं। क्या आपका नहीं झिझकता?" नौकरने मुझे एक ललकार-सी दी।

मैंने फालूकी तरफ़ देखा, वह खेलघरको ताक रहा था। सिसकारी-सी देते हुए मैंने कहा—"फालू, हम घूमने जा रहे हैं, तू जा झूल-खेल, हम लौटते समय रातमें तुझे ले लेंगे!"

सुनते ही फालू दौड़ गया और लम्बे तख़्ते पर उचक कर जा चढ़ा। नौकर झेंपा-सा कि हम चले। फालूकी किलकारी दूर तक हमें सुनाई देती रही।

खेलघर नौ बजे बन्द होता है। उससे पहले हमें लौटना था, पर कोई मिल गया कि हम ९॥ बजे खेलघर पहुँचे—चिन्तित-से कि फालू इकला रो रहा होगा—आज शानमें आकर बड़ी भूल की, पर देखते हैं फालू वहाँ इकला खड़ा है। हमें देखते ही वह खिलखिला कर दौड़ा कि लिपट गया।

तभी एक आदमी आकर हमारे पास खड़ा हो गया—बाबू जी, नमस्ते! यह खेलघरका मुंशी—एक गढ़वाली भाई। बोला—आप बच्चेको छोड़ गये, यह नौ बजे तक खेलता रहा, पर जब मैंने खेलघर बन्द किया और आप नहीं आये, तो मैंने सोचा—अब यह जरूर रोयेगा। आपकी बातें मैंने सुनी थीं, इसलिए बिना इसे बताये मैं छिपकर बैठ गया कि देखूँ अब

भी यह घबराता है या नहीं । घबरायेगा, तो मैं इसके पास आ जाऊँगा, पर तब भी यह नहीं घबराया और खेलता रहा । सचमुच बाबू जी, यह तो शेर बच्चा है !

मुंशी उसे चुमकार कर चला, तो विद्या जी उसे कुछ देनेको हुई, पर मैंने इशारेसे उन्हें रोका और बादमें कहा—यह उसकी सद्भावनाका अपमान है कि हम उसे पैसोंसे तोलें । दूसरे दिन मैंने उसे एक रुपया उसके बच्चोंकी चर्चा चलाकर दिया ।

कहनेसे तो बहुतसे बालक काम करते हैं, पर फालू बिना कहे काम करता है । सन्ध्या हुई कि छोटी बाल्टी उसने उठाई । नलसे पानी भरा और ऊपरकी छत ठण्डी की और ३-४ बिस्तरोंके कपड़े धीरे-धीरे ऊपर पहुँचाये । बाज़ारसे वह दूध वग़ैरह ही नहीं लाता, राशन भी लाता है और मुसीबत यह कि उससे काम न लो, तो रोता है, लड़ता है, रूठ पड़ता है ।

(२)

फालूके दो भाई और हैं, उससे बड़े । वे अक्सर अपने नानाके घर रहते हैं—यों वह यहाँ इकला है । परीक्षाएँ निमटीं, तो उसका एक भाई कुछ दिनके लिए यहाँ आ गया । अब थे दो, एक जगह !

कोई पाँच छः दिन बाद एक दिन मैं उनके घर खाना खाने बैठा, तो पानी नहीं । भीतर मेरे एक ख़राश-सी हुई—क्यों ? फालू तो भोजनकी चर्चा होते ही नल पर पहुँच जाता है और एक बाल्टी पानी निकाल कर तब लोटा भरता है । उसे लाते-लाते कहता है—बरफ़के माफ़िक़, बरफ़के माफ़िक़ ! आज वह कैसे भूल गया ? शायद भाईके साथ खेलमें लगा है ! पुकारा—फालू पानी लाना बेटा, पर पानी नहीं आया—क्या बात है ? फिर पुकारा—अरे, पानी नहीं लाया !

दबी-सी आवाज़ कानोंमें पड़ी—प्रमोद लाएगा ! और अब फालू हर काम प्रमोद पर टालता है, पैर मलने लगा है, कभी काट जाता है और

सुन-बहरा तो हो ही गया है। अब उसकी निगाह काम पर नहीं जाती, प्रमोद पर जाती है कि कामको प्रमोद क्यों न करे—वही क्यों करे ?

एक और एक दोकी तरह यह भी साफ़ है जिस कामको एक आदमी करता है, उसे दो करने लगें, तो वह पहलेसे जल्दी और सुन्दर होना चाहिये, पर होता नहीं ऐसा !

मेरे एक धनी मित्र हैं। जिस घेरमें उनकी दुकान है, दूसरे व्यापारियों-की भी दूकानें हैं। लाखोंका हेर-फेर होता है इन दूकानों पर, पर दरवाजेकी नालियाँ और सड़क हमेशा गन्दी रहती हैं और बल्ब फ्यूज हो जाता है, तो महीनों नहीं बदला जाता ! सफ़ाई पर कौन ध्यान दे, बल्ब कौन बदले-यह सड़क और यह नालियाँ हमारी ही तो नहीं हैं !

नागरिकोंका सामूहिक उत्तरदायित्व—मुश्तर्का जिम्मेदारी—किसी भी राष्ट्रके जीवित होनेकी सर्वोत्तम कसौटी है। किसी राष्ट्रका बल नापना हो, तो देखिये कि क्या इस देशके नागरिक देशके सामूहिक हितोंके प्रति सतर्क हैं ? या हर नागरिक अपने हितके सामने राष्ट्रके सामूहिक हितकी उपेक्षा करता है ?

इस प्रश्नका उत्तर यदि हाँ है, तो देश जीवित है, सबल है और उसका भविष्य उज्ज्वल है। यदि इस प्रश्नका उत्तर नहीं है, तो वह देश निर्जीव है, निर्बल है और उसका भविष्य देशके स्वार्थी नागरिकोंके द्वारा किसी भी दिन बिक सकता है ?

अपने स्वतन्त्र देशके सामूहिक हितोंके प्रति क्या हम अपनी जिम्मेदारी अनुभव करते हैं और अनुभव करते हैं, तो उसे निभाते हैं ? स्वयं अपने-से पूछिये और स्वयं ही उसका उत्तर दीजिये !

ज़फ़र मियाँके सैलूनमें

उस दिन शरीर भिन्नाया हुआ-सा था और चाहते भी किसी काममें मन न लग रहा था। तन-मन बासी हो रहे थे, पर ज़रूरत ताज़गीकी थी। मैं उठा और बाल कटानेके लिए ज़फ़र मियाँके छोटे-से हेयर कटिंग सैलूनमें पहुँच गया।

ज़फ़र मियाँ एक दिलचस्प आदमी है, मेरा बहुत लिहाज़ करता है और मैं सदा उसका सहायक-साथी रहा हूँ। जब मैं पहुँचा, वह एक आदमीकी हजामत बना रहा था और आरा चलाने वाले दो मज़दूर इन्तज़ारीमें बाहर बैठे थे।

मेरे दुकानमें पहुँचते ही ज़फ़रने उस्तरा रख दिया। मेरे लिए उसने कुरसी बिछाई और बाहरकी दुकानसे चायका एक प्याला मँगवाया। मैं चाय पीने लगा और ज़फ़र फिर हजामत बनाने लगा।

हजामत निमटी, तो मुझे लगा कि मेरा नम्बर है, पर ज़फ़रने उन मज़दूरोंमेंसे एकको बुला लिया और वह उसके बाल काटने लगा। तभी आ गया उसका असिस्टेंट और वह दूसरे मज़दूरकी हजामत बनानेमें लग गया।

अब मैं बैठा हूँ कुरसी पर और देख रहा हूँ कि मियाँ ज़फ़र उस मज़दूरके बाल काट रहे हैं। मैं मज़दूरको देखता हूँ और सोचता हूँ— यह शायद ५–७ दिनसे नहीं नहाया। बालोंमें उसके रेत भरा है और बुरादा भी। गर्दन पर उसकी, काला चीकट हो रहा है और तो और मुँह पर भी घोर है, पर ज़फ़र साहब बड़ी लगनसे उसके बाल काट रहे हैं, जैसे यह मज़दूर नूरजहाँका सगा भाई हो।

कभी कंघेसे नापते हैं, कभी कैंचीसे और फिर फुरक-फुरक दो-चार कैंची मारते हैं। मैं देख रहा हूँ कि ज़फ़र बालोंमें इतना लीन है कि उसे

यह याद ही नहीं कि मैं भी यहाँ बैठा हूँ और उसे मेरे भी बाल काटने हैं। वह बालोंकी कटाईको अपने ज्ञान और कलाकी चरम सीमा तक पहुँचाना चाहता है। उसका ध्यान इस पर नहीं है कि यह मजदूर इस कारीगरीको नहीं समझ सकता।

वह यह भी नहीं सोचता कि इस मजदूरकी स्थिति ऐसी नहीं है कि वह इन बालोंको ठीक रख सके।

मैं सोच रहा हूँ—सम्भवतः यह मजदूर हजामतके बाद आज नहायेगा और बालोंमें तेल डाल, कंघा करेगा, पर कल इनमें फिर यही धूल और बुरादा भर जायेगा और ये ऐसे ही उलझ जायेंगे, जैसे आज उलझे हुए हैं।

मैं यह सब सोच रहा हूँ, पर जफ़र इनमेंसे कोई भी बात नहीं सोच रहा। वह अपनी धुनमें है। वह कंघा चलाता है, पर नहीं चलता—उलझे बालोंमें वह अटक जाता है। जफ़र बाल सुलझाता है और कंघा बढ़ाता है।

कभी वह झुककर बालोंका मिलान देखता है, कभी उभर कर, कभी इधर और कभी उधर। एक-एक बाल पर, एक-एक ढलाव पर, एक एक मिलान पर जफ़रकी निगाह है, जैसे कोई इंजीनियर किसी पुलके खम्भोंका मिलान देख रहा हो।

यों कटिंग पूरी हुई और तब क़ैंचीको चार बार तालके साथ ख़ाली ही चुकर-चुकर चला, जफ़रने कहा—"लो सरकार, कट गये आपके बाल।"

अब उसने उठाया ब्रुश और वह जुटा हजामत पर। हजामतमें भी वही तल्लीनता। एक हाथ सीधा, तो एक उल्टा और तब यह देख भाल कि कहीं कोई कील तो नहीं रह गई। कील ही नहीं, कलमसे लेकर मूछोंकी छँटाई तक सब काम उसने पूर्ण सुन्दरतासे किये।

बीस मिनटसे ज़्यादा मैं जफ़रकी इस तल्लीनताको देखता रहा। सच यह है कि जफ़र उस मजदूरके बालोंमें लीन था और मैं जफ़रमें। देखते-देखते मैं भावोंसे भर उठा था, यहाँ तक कि हजामतकी ऊँची कुरसी

पर आनेको जब मैं उठा, तो इतना भाव-विभोर था कि मैंने ज़फ़रको अपने-में दबोच लिया।

पैसे देकर जब वह मजदूर चला गया, तो मैंने कहा—"ज़फ़र मियाँ, तुम तो उस मज़दूरको ऐसा लिपटे कि जैसे ज़िलेका कलक्टर ही तुम्हारी दुकान पर आ बैठा हो।"

ज़फ़रने जो जवाब दिया, उससे आगरेका पेठा और दिल्लीका सोहन-हलुवा दोनों फीके पड़ गये। बोला—"बाबू जी, मेरे लिए तो जो इस कुरसी पर बैठता है, वही किलक्टर है।"

मैं दो ज़फ़रोंके बीच घिर-सा गया। एक ज़फ़र वह, जो मेरी बराबरीमें खड़ा, मेरी ही हजामत बना रहा है और एक वह, जो अब कोई हज्जाम नहीं, मेरे निकट जीवन-वेदकी एक ऋचाका निर्माता है। जीवन-वेदकी ऋचा, जो मेरे भीतर घुमड़ तो रही है, पर अभी भाषा नहीं पा रही।

पिछले ही महीने एक मित्रको मैंने पत्रमें लिखा था—"विकासका मार्ग यह है कि मनुष्यके हृदयमें श्रद्धा जागती है, श्रद्धाका पुत्र है विश्वास, विश्वासकी पत्नी है एकाग्रता, एकाग्रताका पुत्र है श्रम, श्रमकी बहन है सर-सता और यह सरसता सर्व-ग्राही है—सबको अपनेमें ले लेती है, प्रतिकूल को अनुकूल बनाकर और अनुकूलको आत्मीयका रूप देकर। इसका अर्थ होता है मानवके भीतर 'पर' का जागरण।

विनाशका मार्ग यह है कि मनुष्यके हृदयमें तृष्णा जागती है। उसका पुत्र है अविवेक, इसकी पत्नी है अहमिका और इन दोनोंका पुत्र है दर्प, दर्पका पुत्र है आग्रह, जिसकी पत्नी है कठोरता, जो सर्व-संहारी है—सार्म-जस्य और समन्वयको बिखरा कर अनुकूलको प्रतिकूल और प्रतिकूलको शत्रुका रूप देनेमें आतुर और प्रवीण। इसका अर्थ होता है—मानवके भीतर 'स्व' का जागरण।"

ज़फ़र मियाँकी कैंची मेरी खोपड़ी पर अपनी मस्त अठखेलियाँ कर रही है और मेरी खोपड़ीके भीतर वह सब घूम रहा है।

मैं सोच रहा हूँ—यह सब जीवन-वेदकी उस ऋचाकी व्याख्या हो सकती है, स्वयं वह ऋचा तो नहीं है। दिमाग़की नसोंमें घूमते रक्तकी चाल कुछ तेज हो गई है, जैसे उस ऋचाकी खोजमें उतावली हो उठी हो।

मुझे याद आगये स्वर्गीय श्री चिन्तामणि घोष। जब वे स्वर्ग सिधारे, तो एक बहुत बड़े प्रेसके स्वामी थे, पर यह बात तबकी है, जब उन्होंने अपनी बैठकमें इस प्रेसका एक छोटेसे रूपमें आरम्भ ही किया था।

स्वर्गीय महान् पत्रकार श्री रामानन्द चटर्जीके जीवन-विकासका भी तब आरम्भ ही था और बादमें विश्वविख्यात पत्र 'माडर्नरिव्यू' को वे तब आरम्भ ही कर रहे थे।

घोष बाबूके प्रेसमें उन्होंने ८ पन्नेकी एक छोटी-सी पुस्तिका छपाई, जो 'माडर्नरिव्यू' के सम्बन्धमें लोगोंको मुफ़्त भेजी जाने वाली थी। इसमें प्रूफ़की कुछ भूलें रह गई। चटर्जी बाबूने उन्हें देखा, तो बोले—"कोई बात नहीं, यह एक विज्ञापन ही तो है।"

घोष बाबूने तभी उन भूलोंको देखा और बण्डल अपने पास रख लिया। बोले—"तीन दिन बाद इसे लीजियेगा, मैं अभी आपको न दूँगा।"

तीन दिन बाद चटर्जी बाबूको जो बण्डल मिला, उसमें एक भी भूल न थी। आश्चर्यसे उन्होंने पूछा, तो पता चला कि पूरी दो हज़ार पुस्तिकायें दुबारा छापी गई हैं।

"आपने यों ही इतना नुक़सान उठाया। मामूली विज्ञापन थे, बट जाते।" चटर्जी बाबूने कहा, तो घोष बाबू बोले—"किसीका मामूली विज्ञापन हो, या रिसर्चकी पुस्तक, मेरे लिए तो बराबर हैं। आपका तो यह विज्ञापन है बट जाता, कोई बात न थी, पर मेरा तो यह घर-घर विज्ञापन करता कि चिन्तामणिके प्रेसमें भूलें रह जाती हैं।"

मुझे ताजगीकी एक फुरेरी-सी आगई, पर जीवन-वेदकी वह ऋचा तो अब भी मेरे भीतर ही उमड़-घुमड़ रही थी, बाहर वाणीमें न आ पाई थी।

मन भी यह अजब हवाई घोड़ा है। दो विशिष्ट पुरुषोंकी स्मृतिमें डुबकी लेता-लेता एक पुरानी स्मृतिमें जा कूदा। मैं तब छोटा ही था और उस दिन सुबह ही सुबह कहीं बाहर जा रहा था कि पिता जीने पास बुलाकर मेरे माथे पर ज़रा-सा चन्दन लगा दिया।

बोले—"बिना चन्दन लगाये, सुबह-ही-सुबह कभी बाहर नहीं जाया करते।"

मेरे पूछने पर बोले—"प्रातःकाल सूने मस्तकके ब्राह्मणका दर्शन अपशकुन है। कोई देखेगा, तो मन ही मन तुझे कोसेगा।"

इसके कुछ दिन बाद मैं और पिता जी एक दम प्रातःकाल किसी कामके लिए घरसे चले, तो गलीमें झाड़ू लगाता भंगी मिला। देखकर बोले—"लो बेटा, झाड़ू लिये सामने भंगी आया है, बस कारज सिद्ध ही समझो।"

बादमें किसी दिन उन्होंने बतलाया था—ब्राह्मणका कर्म है प्रातःकाल स्नान करके भजन-पूजन करना और भंगीका कर्म है प्रातःकाल झाड़ू लेकर सफ़ाई करना। जो अपना कार्य न करे, वह कर्महीन और प्रातःकाल कर्महीनका दर्शन अशुभ, इसलिए सूने माथेके ब्राह्मणका दर्शन अपशकुन और झाड़ू लगाते भंगीका दर्शन शुभशकुन माना गया है।

मैं स्मृतियोंकी सरितामें ही तैर रहा हूँ और ज़फ़र मियाँ अपना काम भी पूरा कर चुके हैं। "लो सरकार, बन गई हजामत" उन्होंने कहा, तो मैं चौंक-सा पड़ा, पर यह क्या कि मैं इधर उठ रहा हूँ उस कुरसीसे और उधर मेरे सामने उतरी आरही है जीवन-वेदकी यह ऋचा—

हरेक नागरिकमें अपने कामके लिए चाव, श्रमके प्रति श्रद्धा और पेशेके प्रति ईमानदारीके भावका जागरण ही राष्ट्रकी जीवन-शक्तिका सर्वोत्तम माप-दण्ड है।

अब दूध नहीं मिल सकता !

कौशलजी, मैं और विद्या जी दिल्लीका लम्बा चक्कर काटते, दीवान हालकी चौथी मंजिलमें अपने स्थान पर पहुँचे, तो थक कर इतने चूर और निन्दियाये कि जी ने कहा—हम यहाँ तक आ कैसे गये ?

हाथ-पैर धो, ज़रा ताजे हुए, तो भीतर कोई बोल-सा उठा—आज तो हम दूध पीते !

भीतर ही किसीने पूछा—पीते, तो पर लाये कौन ?

तो फ़ैसला हुआ कि अब दूध नहीं मिल सकता ! ठीक है, नहीं मिल सकता, क्योंकि दूध पीने वाले मुँह और दूध देनेवाले हाथके बीच, जो ये यमयात्रा-सी सीढ़ियाँ हैं, इन्हें उतरनेका उत्साह किसीमें नहीं और फिर उतरनेका उत्साह भी ज्यों-त्यों उभरे, पर उतरकर फिर चढ़ना जो है ! पतन आसान है, उत्थान कठिन, तो फ़ैसला हुआ कि अब दूध नहीं मिल सकता !

फ़ैसला तो ठीक है, पर फ़ैसलेको मन आज मान नहीं रहा। मैं ख़ुद आश्चर्यमें हूँ कि यह आज मुझे हो क्या गया है। मुझमें प्यास न हो ऐसा नहीं, पर कभी किसी प्राप्तिके लिए वह इतनी प्रबल नहीं होती कि मुझ पर छाजाए ! निराकुल मन मेरे जीवनमें निर्मलताका एक वरदान है। मैं अपनेसे कह रहा हूँ—आज यह वरदान अपनी अमोघता क्यों खो रहा है ? और फिर फिसला भी तो एक कुल्हड़ पर ! मैं सोच रहा हूँ, सब समझ भी रहा हूँ, पर प्यास जो एक बार उभर आई है, तो उभर आई है !

[२]

कौशल जी [illegible] मकान [illegible] उतरता है। इसमें क्यों-कैसे की गुंजायश नहीं। अपनी-अपनी मूड है !

वे झटकेके साथ पलंगसे उठे कि हम भागे—बस जम गया सैकेण्ड शो ! मेरे लिए मुँह मांगी मुराद—तै हुआ कि वे दूध देते जाएँ और कोई बीचमें ले ले। न हम पूरी सीढ़ियाँ उतरें, न वे पूरी चढ़ें !

मैंने अपनेसे कहा—हो क़िस्मतके धनी। चाहा, सो पाया। लो आ रहा है दूध !

जो चाहा, सो पाया—सचमुच ख़ुशीकी बात है, पर यह क्या कि कौशल जी क्या गये—मेरी प्यास ही लेते गये ! मैं अपनेको बाहर-भीतर तलाश रहा हूँ, पर मुझमें दूधकी वह प्यास कहाँ है कि मैं आकुल हूँ। वह कहीं नहीं है, पर अभी तो वह इतनी थी कि मैं उसपर आश्चर्य कर सकूँ !

दूध आ गया, गरम कुल्हड़ मेरे हाथमें है, मलाई आँखोंमें और उसकी सुहावनी सुगन्ध मस्तिष्कमें, पर भीतर उसकी माँग नहीं है, पूर्ण तृप्ति है। यों पिऊँ, तो पी ही लूँ, पर न पिऊँ, तो पाऊँ कि पी चुका। प्यास रस्सा तोड़ जागी और जागकर यों सोगई, यह बात क्या है ?

[३]

भीतर ही भीतर बहुत पैड़ियाँ उतर गया, तो हाथ आया कि अब दूध नहीं मिल सकता, अभावकी इस भावनाने प्राप्तिकी कामनाको उग्र कर दिया था !

आज संसारके जीवनमें जो हाहाकार है, छीना-झपटी है, उसके आधार-तत्त्वका यह मेरे लिए साक्षात्कार ही न था, सन्तोषके पक्षमें यह एक नई दलील भी थी !

जीवनका अनुभव है कि रोज दोपहरको भूख लगती है, पर व्रतके दिन प्रातःकाल ही [illegible] लग जाती है—मनकी भूख ही तनकी भूखका रूप धारण कर लेती है। '[illegible] जाठराग्निः' का, कण्ट्रोलकी चीजोंकी अधिक माँग बढ़ जानेका रहस्य और कंजूस माता-पिताओंकी सन्तानके भूखेपनका मर्म ठीक-ठीक आज जाना !

और जाना कि—अपने प्रति दूसरोंका विश्वास पाकर और दूसरोंके प्रति अपना सब कुछ सुलभ होनेका विश्वास दिलाकर—यह गान्धीकी स्वेच्छासे हो, या मार्क्सकी वैधानिकतासे—हम मानवकी प्यासको बहुत कुछ नियन्त्रित कर सकते हैं !

१६; यानी एक कम बीस मिनट !

देहरादूनसे सहारनपुर; कोई ख़ास लम्बा सफ़र नहीं—फिर आजकलके आरामदेह सरकारी मोटर ! उनमें बैठे कि मान लिया घर पहुँच गये, पर विघ्न तो जीवनके चिर साथी हैं ।

उस दिन मोहण्डसे नीचे आये कि गाड़ी ठप्प । ड्राइवरने उतरकर देखा—एन्जिन शायद तेल ही नहीं ले रहा है । उसने अपने औज़ार निकाले और खट-पट करने लगा । क्लीनर भी उसके साथ । ड्राइवर जो अभी मोटरके ऊपर सवार था, अब मोटरके नीचे—कभी नाव गाड़ीपर और कभी गाड़ी नावपर !

मुसाफ़िर भी नीचे उतर आये । मैंने ड्राइवरके पास जाकर पूछा—"भैया, मेरी किसी मददकी ज़रूरत हो, तो हाज़िर हूँ !" उसने कहा—"नहीं बाबूजी, अभी ठीक हुई जाती है !"

मैंने अटैचीसे एक पत्र निकाला और पास ही कट-पड़े एक तनेपर बैठ पढ़ने लगा । शामके ठीक ६ बजेकी यह बात है ।

एक सरदार जी ड्राइवरको लक्ष्य करके बोले—"अबे, मुझे तो अम्बाले जाना है । अभी गाड़ी निकल गई तो क्या होगा ?"

एक दूसरे कोट-पतलून-धारी सज्जन बोले—"अजी साहब, गाड़ी निकलेगी तो आपकी; इसके बापका क्या बिगड़ेगा । यह तो गद्दा बिछाकर आरामसे गाड़ीके नीचे लेट गया है ।"

एक तीसरे साहब आगे बढ़े—"भाई साहब, यह हमारी सरकारका इन्तज़ाम है । टैक्स लगानेको तो ये मिनिस्टर रात दिन हवकाये फिरते हैं, पर इन्तज़ामकी इनमें ज़रा भी सैंस नहीं !"

एक चौथे साहबने कमी पूरी की—"अजी, बेचारोंके बाप-दादे मर

गये मूंगफली बेचने और ये बन गये सरकार ! इन्तजामकी सैंस इनमें कहाँसे आये ?"

एक मोटे सेठ जी अभी तक मोटरमें ही बैठे थे । वहींसे बोले—"देख लीजिए, ये सोशलिस्ट कहते हैं कि सारी इन्डस्ट्री पर हुकूमतका क़ब्ज़ा होना चाहिए । सरकारने एक मोटरोंको हाथमें लिया था, उनकी ही यह हालत है कि पड़े हैं यहाँ जंगलमें—चाहे कोई चीता-भेड़िया निकलकर हमें खा ही ले !"

किसी कालेजके एक विद्यार्थी भी वहीं थे । तमककर बोले—"सेठ साहब, लाख स्यापे कीजिए, सारी इन्डस्ट्री पर तो सरकारका क़ब्ज़ा होगा ही और इंडस्ट्री क्या, आपकी कोठीके कमरे तक बटेंगे ।"

सेठ साहब शायद कुछ कहने ही वाले थे कि एक सज्जन ड्राइवरके जरा पास पहुँचकर बोले—"अबे, इसके नीचे मीण्डक-सा घुसा क्या खुटर पुटर कर रहा है, जब गाड़ी चली, तब क्या अपनी बहनका डोला बिदा कर रहा था ?"

उनके साथीने इस डोले पर नई वारनिश दी—"अजी, बहनका डोला क्यों, सरकार आरामसे चाय पी रहे होंगे !"

तुरन्त किसीने दो ब्रुश और मारे—"इन लोगोंके ख़िलाफ़ १०—) हरजानेके दावे किये जायें, तो इनकी होश ठिकाने आयें !"

"ये लोग असलमें हरामकी तनख्वाहें लेना चाहते हैं !" यह एक नया रिकार्ड चढ़ाया गया और तभी यह भी—"तनख्वाह तो साहब है ही पर ऊपरकी आमदनी भी कुछ कम नहीं है ।"

गाड़ीके नीचेको भाँककर एक बाबूजी बोले—"क्यों सरकार, आपके यहाँ वर्कशाप नहीं है, जो आप यहाँ जंगलमें यह कलाबाजी दिखा रहे हैं ?"

उत्तर भी किसीने दिया—"है तो सब कुछ, पर इनको तो शराबसे ही फ़ुरसत नहीं मिलती !" और तुरन्त यह भी—"भाई, हरामकी कमाई का तो यही हाल होता है ।"

यह सरस प्रश्नोत्तरी चल ही रही थी कि ड्राइवर अपनी जगह आगया और उसने हार्न बजाया । गाड़ी अब ठीक थी ।

मैंने उठते-उठते घड़ी देखी—मरम्मतमें कुल १६ मिनट लगे थे । सब साथियोंकी ओर देखकर मैंने कहा—"शान्त और एकाग्र रहने पर ड्राइवर साहब जो काम ६ मिनटमें कर लेते, आपकी दिलचस्प बातोंके कारण वह १६ मिनटमें हुआ । १० मिनटके इस मनोरंजनके लिए आपको धन्यवाद !"

ड्राइवर मेरी बातसे शान्त हुआ, पर बाकी साथियोंमें कुछ आँखें तिरछी हुईं, कुछ नीची, कुछ ओठ फड़के, कुछ मुसकराये और बस मोटर चल दी !

जी, क्या कहा, ऐं ?

१६३१ के दिन थे ! गान्धी-इरविन समझौता चल रहा था और गान्धी जी दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंसमें शरीक होने विलायत गये हुए थे । वायसराय विलिंगडनकी सख्त हकूमत जारी थी और देशमें जगह-जगह समझौता टूटनेके आसार दिखाई दे रहे थे । जनता पर आशा-निराशाकी एक अजब-सी धूप-छाँह छाई हुई थी !

मैं सहारनपुरसे देहली जा रहा था, इण्टर क्लासके डब्बेमें काफ़ी जगह थी । मैं आरामसे पसरा एक नया मासिक पढ़ रहा था । उसमें एक हास्य रसकी कहानी थी । कहानी लेखकका नाम तो अब याद नहीं, पर उसमें एक पात्रने कहा था कि—"हिन्दुस्तानमें बेवकूफ़ लोग सबसे ज्यादा इण्टर क्लासमें सफ़र करते हैं ।" मैं भी इंटर क्लासमें सफ़र कर रहा था; इसलिए मन ही मन कह रहा था कि यह लेखक एक दम गधा है । भला यह भी कोई बात कही इस जाहिलने !

मुजफ़्फ़रनगरमें डब्बा ज़रा भर गया और महफ़िल गरम हुई । काशीकी गलियोंकी तरह घूमघाम कर बात राजनीतिके चौराहे पर आ टिकी । एक साहबने तपाकसे फ़रमाया—"बस साहब, अब गान्धी जी हिन्दुस्तान नहीं लौट सकते । अंग्रेज उन्हें वहीं क़ैद कर लेंगे और मुमकिन है सर सैम्युअल होर उन्हें गोली मार दे !"

एक दूसरे साहब बोले—"यह हरगिज नहीं हो सकता । लार्ड इर-विनने अपनी ज़मानत पर उन्हें वहाँ भेजा है !"

पहले साहब बोले—"अजी जनाब, ये इरविन और विलिंगडन, सब एक ही थैलेके चट्टे-बट्टे हैं । दर असल यह समझौता अंग्रेजोंकी एक जालसाजी थी, जिसमें कांग्रेस उलझ गई ।"

दूसरे साहब बातचीतको बहकनेसे सम्भालते हुए बोले—"खैर जाल-साजी हो या कुछ, अंगरेज गान्धीजीको नहीं रोक सकते !"

इस तरह अब ये दो मत थे और क़रीब-क़रीब सारा डब्बा इन दो हिस्सोंमें बँट गया था। हरेक दल अपनी बात पर मज़बूतीके साथ ठहरा हुआ था और अपनी बातको इस दावेके साथ कह रहा था कि जैसे अभी वह ह्वाइट हालसे टेलीफ़ोन करके लौटा हो !

खतौली पहुँचते-पहुँचते दोनों दलोंमें गरमी आगई और मामला गालियोंकी गलीको पारकर गुत्थमगुत्थाके चौराहे पर जा पहुँचा। तब मैंने खड़े होकर जोर से कहा—दोस्तो ! मैं आपके सामने अपना दायाँ कान पकड़ कर इस लेखकसे माफ़ी माँगता हूँ, जिसे अभी-अभी मैं अपने मनमें गधा कह रहा था और तब मैंने ऊँचे स्वरसे वह लाइन पढ़ी—'हिन्दुस्तानमें सबसे ज्यादा बेवक़ूफ़ लोग इण्टर क्लासमें सफ़र करते हैं।' कुछ लोग झेंप गये, कुछ हँस पड़े और कुछ झुंझला-से गये, पर खैर मामला निमट गया और मेरठ छावनी पहुँचकर तो बहुत ही लुत्फ़ आया, जब अख़बारमें पढ़ा कि गान्धी जी इटली होकर हिन्दुस्तान लौट रहे हैं।

दोनों दलोंकी बात, एक मामूली अन्दाज़से ज्यादा कुछ न थी, पर दोनों उसे वेदका वचन और क़ुरानकी आयत समझ रहे थे। फिर समझ रहे थे, तो कोई हर्ज नहीं, समझा भी रहे थे मेरे शेर ! हमारे स्वभावकी यह कैसी हिमाक़त है !

× × ×

एक दूसरे सफ़रका हाल सुनिये। वह इससे भी बढ़कर है।

उस दिन मैं लाहौरसे सहारनपुर लौट रहा था। रेलके डब्बेमें पुरुष ही पुरुष थे; सिर्फ़ एक स्त्री थी। अपने साथी तरुणके साथ बातें करती जा रही थी। देखनेमें सुन्दर, बोलनेमें मधुर, उम्र कोई अठारह-उन्नीस। मैं अपने पढ़नेमें तल्लीन, पर अचानक देखता हूँ कि डब्बेमें एक अहम मसला

पेश है और सब तरफ़ खुसफुस-खुसफुस ! उसपर निहायत सरगर्मीके साथ, पार्लमेण्टकी पार्टियाँ बहस फ़रमा रही हैं ।

बहस यह है कि यह नौजवान इस औरतका कौन है ? एक दलकी राय है कि यह इसका पति है, दूसरेकी राय है कि यह इसका साथी है और एक बूढ़ा तो शर्त लगानेको तैयार है कि यह इसके साथ घरसे भाग-कर जा रही है ।

एक बार तो मेरा दिमाग़ गुस्सेसे गरमा गया और मनमें आया कि पाँच पाँच चप्पलोंसे नम्बरवार इन सब की पूजा करूँ, पर मन जल्दी ही शान्त हो गया और मुझे एक मज़ाक़ सूझी । खड़े होकर मैंने उस बहनसे कहा—"इस डब्बेके ये लोग आप दोनोंका रिश्ता जाननेको बेचैन हैं, आप मेहरबानी करके इनकी बेचैनी शान्त कीजिये; वरना ये बस अब इन्जनके सामने लेटनेका प्रोग्राम पास ही करने वाले हैं !"

उन दोनोंके रिश्तेसे इन मुसाफ़िरोंका कोई वास्ता न था, पर इस जानकारीके लिए हरेक जान दे रहा था और उन दोनोंके रिश्तेके बारेमें किसीको कोई जानकारी न थी, पर अपनी खुदरो जानकारीके लिए हरेक जानकी बाज़ी लगानेको तैयार था । हमारे स्वभावकी यह कैसी झक है !

× × ×

उस दिन मेरे एक सम्बन्धी कहीं बाहरसे आ रहे थे । मैं उन्हें लेने स्टेशन गया, तो एक मित्र मिल गये । "कहिए कैसे आये ?" छूटते ही उन्होंने सवाल जड़ा । ये मित्र उस क्लास तक पास हैं, जो भारतके विश्व-विद्यालयोंमें सबसे अन्तकी क्लास है और न्याय-विभागकी उस कुरसी पर बैठ चुके हैं, जो सबसे ऊँची है ।

उनका प्रश्न था—"कहिये कैसे आये ?"

उत्तर दिया—"एक सम्बन्धी आ रहे हैं !" मैंने समझा कि यह बात पूरी हो गई, पर हो कहाँ गई पूरी ? पूछा—"कौनसे सम्बन्धी आ रहे हैं ?"

मैंने मनमें सोचा कि क्या इनके पास मेरे सब सम्बन्धियोंकी पूरी सूची है, जो इन्होंने यह प्रश्न पूछा । मतलब कुछ नहीं, वही गलेकी कसरत करनेकी आदत !

मैंने उन्हें एक गहरा दचका दिया—"जी, बालकराम पालीवाल आ रहे हैं ।"

मेरा ख्याल था कि इस उत्तरसे वे ठण्डे हो जायेंगे, पर उन्होंने तुरन्त एक नया अण्डा दे दिया—"अच्छा पालीवालजी आ रहे हैं बरेली वाले ! हाँ-हाँ, मैं उन्हें जानता हूँ !" मैंने उन्हें एक नई झोंक दी—"जी हाँ, ऐसा कौन है, जिसे आप नहीं जानते !"

इस झोंक पर भी वे झेंपे नहीं; एक छौंक दे बैठे—"यह सब आपकी कृपा है !" मैंने अपने मनमें सोचा—यह हाल तो विद्वानोंकी मूर्खताका है, मूर्खोंकी मूर्खताका क्या हाल होगा ?

× × ×

मुझे अपना कार्यालय उस मकानमें बदलना पड़ा, जहाँ पहले राशनिंग दफ्तर था । स्वाभाविक है कि बहुतसे आदमी पहले दफ्तरके काम-से यहाँ आते । मैंने इस सम्बन्धमें जितने भी प्रश्न हो सकते हैं, सबका एक समाधान तैयार किया—"राशनिंग दफ्तर यहाँसे कलक्टरी कचहरीके पास डाकखानेकी बिल्डिंगमें चला गया है !"

इसके बाद भी प्रश्नोंकी फुलझड़ियाँ छूटती ही रहतीं । एक दिन मैंने हिसाब लगाया, तो यह औसत निकला कि आने वालोंमें हर एकने कमसे कम तीन और ज्यादासे ज्यादा नौ सवाल पूछे ।

एक हाईस्कूलके अध्यापककी बातचीतकी यह चासनी ज्योंकी त्यों है—

"यह राशनिंग दफ्तर है न ?"

"जी नहीं, राशनिंग दफ्तर यहाँसे कलक्टरी कचहरीके पास डाक-खानेकी बिल्डिंगमें चला गया है ।"

"मुझे मकानके लिए एक दरख्वास्त देनी थी।"

"वहीं जाकर दीजिये !"

"टी० आर० ओ० साहब भी वहीं मिलते हैं ?"

"जी हाँ, उनका तो वह दफ्तर ही है !"

"बाबूजी, इस कमरेमें एक वो दाढ़ीवाला-सा कलर्क बैठा करता था !"

"दाढ़ी वाले और क्लीन-शेव सब वहीं चले गये हैं !"

"बाबूजी, हमें मकान मिल भी जायेगा ?"

"कोशिश कीजिये !"

"किससे कोशिश करें ?"

"दफ्तर वालोंसे मिलिये !"

"बाबू जी टी० आर० ओ० कैसा आदमी है ?"

"बहुत अच्छे आदमी हैं।'

"कहाँ मिलेंगे वे ?"

"वहीं दफ्तरमें।"

"दफ्तर कलक्टरी कचहरीके पास है ?"

"जी हाँ।"

× × ×

मेरे पास अक्सर इस तरहके लोग आते हैं, जिन्हें अपने किसी काममें मेरी सेवा-सहायताकी जरूरत होती है। वे आते हैं, इसमें मुझे एतराज नहीं, मुझे इसमें सुख मिलता है, पर अपनी बात कहनेसे पहले वे जो बेकारकी बातोंमें मेरा कामका समय खराब करते हैं, उसपर मुझे दुःख होता है और कभी-कभी रूखा हो जाना पड़ता है।

मैं तो हूँ ही किस खेतकी मूली, लोग बड़ों-बड़ोंको नहीं बख्शते। श्रद्धेय मालवीयजी उस दिन दोपहरका भोजन करनेको उठ रहे थे कि एक सज्जन पधारे। उन्हें सुनाकर कह दिया गया कि भोजन परोसा जा चुका है, पर वे हैं कि मालवीय जीकी गुणगाथा गाये जा रहे हैं। मालवीय जी

अपनी सज्जनतासे तंग हैं। पूरे डेढ़ घण्टे बाद पता चला कि वे काशीसे गोरखपुर तकका किराया चाहते हैं। किराया लेकर वे टले और तब कहीं दो बजे मालवीय जीने भोजन किया।

× × ×

जो बात हम जानते हैं, उसपर भी दूसरोंका समय बर्बाद करते हैं—

"क्यों भाई, म्युनिसिपैल्टिीके इलैक्शनमें क्या हुआ ?"

"शेख जी चेयरमैन चुने गये।"

"कितने वोटोंसे ?"

"दो वोटसे। बड़ी घमासान रही।"

"हाँ, मैं तो उस दिन वहीं था।"

अब कोई इस भले आदमीसे पूछे कि जब तू वहीं था और तुझे सब कुछ मालूम है, तो मेरी खोपड़ी क्यों चाट रहा है ?

× × ×

एक आदमीने अपने किसी मित्रसे पूछा—"क्या तुम असली नीलकी पहचान जानते हो ?"

बड़े त[illegible] ।—"अच्छे और बुरे नीलको पहचानना मुश्किल नहीं [illegible] ड़ा लो और उसे पानीमें डाल दो। यदि नील अच्छा होगा, तो या तो तैरेगा, या डूब जायेगा, मुझे ठीक तौरसे नहीं मालूम है, पर कोई हर्ज नहीं, तुम जाँच करके तो देखो।"

स्वेट माडेनके शब्दोंमें क्या उम्दा सलाह है! जो बात हम खुद नहीं जानते, उसे दूसरोंको बताना कहाँकी अक्लमन्दी है ?

× × ×

एक लड़केने अपने बापसे कहा—"रात हमारी सड़क पर बहुत कुत्ते थे। सच कहता हूँ पिता जी, ५०० से कम तो हरगिज़ नहीं।"

"इतने हरगिज़ नहीं हो सकते !"

"अच्छा, सौ तो ज़रूर होंगे !"

"झूठ है, सौ कुत्ते तो हमारे गाँवमें हैं ही नहीं ।"

"अच्छा तो १० से कम तो हरगिज नहीं हो सकते !"

"मैं तुम्हारी १० की बात पर भी यक़ीन नहीं कर सकता, क्योंकि तुम ५०० की बात भी इसी मजबूतीसे कह रहे थे ।"

"पिता जी, सच कहता हूँ फिर मैंने अपने कुत्तेके साथ एक और कुत्तेको तो जरूर ही देखा था !"

जवानों और बूढ़ोंमें भी हजारों हैं, जो इसी तरहकी बातें करते हैं !

× × ×

कुछ मित्र हैं, जिन्हें कहीं जाते-आते सड़क पर देखते ही खून जम जाता है और आँख बचाकर निकल जाना चाहता हूँ, पर उनकी आँखें हैं कि नहीं चूकतीं--ताड़ लेती हैं।

"अरे भाई, ऐसी भी क्या नाराजी है । अब तो तुम बहुत बड़े आदमी हो गये हो । हम ग़रीबोंसे भी एक-दो बात कर लिया करो !"

बस सड़क पर ही अखाड़ा तैयार---दस-बीस मिनट मामूली बात है और बातें कुछ नहीं, इधर उधरकी वही मामूली बातें !

× × ×

एक और मित्र हैं । घण्टों बातें करनेके बाद वे पीछा छोड़ते हैं, पर दरवाजेके बाहर आते ही फिर रोक लेते हैं और एक पूरी मीटिंग कर डालते हैं । यह भी एक सनक है और क्या ?

× × ×

फ़ालतू बातें हमारे राष्ट्रिय चरित्रकी एक बहुत बड़ी कमजोरी है । इसे दूर करनेके लिए--

--सिर्फ़ वही बात पूछिये, जो आप नहीं जानते !

--सिर्फ़ वही बात कहिये, जो वे नहीं जानते; जिनसे आप कह रहे हैं !

--उतनी बात कहिये और उतनी ही पूछिये जितनी उस समय जरूरी है !

बातोंके बरतावमें, उसी तरह कम-ख़र्च रहिये, जिस तरह आप रुपयोंके बरतावमें कम-ख़र्च रहते हैं या आपको रहना चाहिये। बातचीतमें जीवन-की बहुत ताक़त ख़र्च होती है। अपने स्वास्थ्य और लम्बे जीवनके लिए उसे बचाइये। मौन कोरा धर्म नहीं है, वह स्वास्थ्यके लिए एक टौनिक है।

मेरी पिछली भयंकर बीमारीमें विख्यात चिकित्सक डा० आर० एन० बागलेने दवाइयोंके साथ ही नुसख़ेमें प्रति दिन पाँच घण्टेका मौन भी लिखा था। उस समय तो हम लोग हँसे थे, पर बादमें मैंने देखा कि उससे मुझे बहुत ताक़त मिली, जिसे मैंने घर आई मौतको पछाड़नेमें लगाया।

कम बातें कीजिये, कममें बातें कीजिये और कामकी ही बातें कीजिये।

अजी, क्या करूँ काम ही नहीं निमटता !

हमारे अखिलेश जी दिनरातके २४ घण्टोंमेंसे १५–१६ घण्टे तो काम करते-ही करते हैं और १८–१९ घण्टों पर भी गाड़ी महीनेमें दो-चार बार पहुँचती ही रहती है । जब-जब उनसे इसकी शिकायत करता हूँ, वे कहते हैं—"अजी, क्या करूँ, काम ही नहीं निमटता !"

क्या सचमुच जीवनमें इतना काम है कि आदमीको उससे समयपर खाने, पीने, घूमने, मित्रोंसे मिलने-जुलने और हा-हू करनेका समय ही न मिले ?

इस प्रश्नका एक उपप्रश्न भी है कि यदि जीवनमें सचमुच इतना काम है, तो क्या यह आदमीके जीवनका कोई स्वस्थ रूप है कि वह उस काममें इस तरह लिपट जाए कि आदमी होकर भी वह आदमी न रहे और आदमीनुमा एक मैशीन बन जाए ?

मैं लम्बे अनुभवके आधार पर, मेरे गलेमें जितनी भी शक्ति है, उस सबको इकट्ठा कर, क़रीब-क़रीब चिंघाड़के स्वरमें इन दोनों प्रश्न चिह्नों-का उत्तर देना चाहता हूँ—'नहीं !'

[२]

हमारे लोकजीवनमें एक मीठी गाली है—'काम बढ़ावा ।' माँ अपनी फूहड़ बेटियोंको कहती है—"क्या काम बढ़ावा धी मेरे पेट पड़ीं !"

बस यही फूहड़पन कुछ लोगोंके जीवन पर छाया हुआ है और वे सब भी काम बढ़ावा हो गये हैं—तभी उनका काम नहीं निमट पाता !

दूसरा महायुद्ध घनघोर रूपमें हो रहा था और अफ़्रीकामें दोनों पक्षोंके

पूरे साधन दावपर लगे हुए थे—जान-जानकी बाज़ी थी । इंगलैंडके प्रधानमन्त्री चर्चिलने सेनापति माण्टगुमरीको सन्देशा भेजा कि वे कल रातमें बारह बजे एक आवश्यक बैठकमें शरीक हों ।

माण्टगुमरीने उत्तर दिया—"बारह बजे मैं बैठकमें शरीक नहीं हो सकता ; क्योंकि वह तो मेरे सोनेका समय है !"

सेनापति माण्टगुमरीके युद्ध-संस्मरणोंमें उनकी दिनचर्या दी गई है । वे युद्धस्थलमें ही एक बड़े ट्रकमें सोया करते थे । ठीक ९ बजे वे अपने ट्रकमें पहुँचते और सोनेके कपड़े पहन, चायका एक कप पी, लेट जाते, कुछ देर उपन्यास पढ़ते और सो जाते । ठीक ५ बजे उठते, तैयार होते और ७ बजे अपने दफ़्तरमें आ जमते ! उनके ट्रकसे कुछ ही दूर पर गोलाबारी होती रहती, पर वे सोते, तो बस सोते ही रहते !

क्या सेनापति माण्टगुमरीसे मेरे पुत्र अखिलेशकी ज़िम्मेदारियाँ कुछ ज़्यादा हैं ? यह प्रश्न स्वयं अपनेमें एक अट्टहासका पिता है !

[३]

साबरमती आश्रममें बरसों बीते हमारे आकाशने एक दृश्य देखा था । भोजनकी घण्टी बजी और सब आश्रमवासी रसोईघर पहुँच गये । गांधी जी भी अपनी थाली लिये घण्टी बजते ही चले, पर तभी आ गये कोई सज्जन और गांधी जीको उनसे कोई १॥ मिनट बातें करनी पड़ीं । आश्रमका नियम कि घण्टीके दो मिनट बाद रसोईघरका द्वार बन्द । बस यहीं वह दृश्य कि झपटे-झपटे आ रहे गांधी जी द्वारके बाहरकी सीढ़ियोंपर और द्वारके भीतर रसोईका प्रबन्धक । प्रबन्धक ५–७ सेकेण्ड रुके, तो गांधी जी द्वारके भीतर हों, पर वह रुके, तो नियम टूटे और नियम टूटे, तो दण्ड पायें ! किवाड़ खुल गये और उढ़कनकी ध्वनिको दो अट्टहासोंकी गूंजने अपनेमें समा लिया । एक अट्टहास प्रबन्धकका और दूसरा अट्टहास गांधी जीका ।

वहाँ क्या ग़दर मच जाता जो प्रबन्धक कुछ पल ठहर जाता और यों गांधी जीको दूसरी पंक्तिमें भोजन करनेके दण्डसे बचा लेता ?

न ग़दर मचता, न प्रलय होती, पर कड़ियोंके जोड़की यही ढील तो है, जो भयंकर युद्धकी घड़ियोंमें भी माण्टगुमरीको सोनेका समय देती और अखिलेश जीको रात तक काममें जुटाये रखती है !

[४]

कामको कामकी तरह करो, तो काम कभी क़ाबूसे बाहर न हो और कामको कामकी तरह न करो, तो काम कामदारको अपने क़ाबूमें कर चले । इसीका नाम है—काम बढ़ावा !

मेरे पड़ौसमें ही एक कम्पनीका कार्यालय था । तीन सज्जन उसमें प्रमुख कार्यकर्ता और कम्पनीके कार्यालयकी ताली शामको रहे सबसे बड़े मैनेजरके पास ।

प्रातः ९ बजे उनके छोटे कर्मचारी आयें, तो ताला बन्द । देर ज़्यादा हो, तो दूसरे संचालक भी आ पहुँचें और बाहर चहलक़दमी किया करें । ऐसा भी हो कि कोई कर्मचारी बड़े बाबूजीके घर ताली लेने जाए, तो खबर मिले कि वे कहीं गये हैं ।

एक दिन मैंने उनसे कहा—"पाँच आनेमें इस मसलेका हल हो सकता है ।"

आश्चर्यसे बोले—"भला किस तरह ?"

मैंने कहा—"पाँच आनेमें इस तालेकी दो तालियाँ और बनवा लीजिए और एक छोटे मैनेजरको एवं एक लेबर-इन्चार्जको दे दीजिए । बस, जो पहले आएगा, ताला खोल लेगा । वे बहुत लज्जित हुए कि इस ज़रा-सी बातके लिए उनका इतना काम बढ़ा हुआ था !

[५]

एक धनी मित्र हैं । उनका नौकर परेशान था कि दौड़ते-दौड़ते पाँव

छूट जाते हैं और शामको सुनना पड़ता है कि तुम काम ही क्या करते हो ?

बात यह है कि वे नौकरको एक काम बताते हैं कि बाज़ारसे अमुक चीज ले आओ । नौकर चीज लिये बाज़ारसे लौटता है, तो हुक्म मिलता है—ले, यह पत्र अमुक सज्जनको दे आ ! नौकर अभी-अभी जहाँसे वह चीज लेकर आया है, उसके पास ही ये मित्र रहते हैं । नौकर सोचता है और ठीक सोचता है कि यदि सेठ जी यह पत्र भी मुझे पहले ही दे देते, तो मैं सामान लानेके साथ ही उसे भी देता-आता !

स्पष्ट है कि सेठ जी कामको कामकी तरह करना नहीं जानते ।

[६]

'कामको समेटो, बखेरो मत !' यह भी एक लोकोक्ति है ।

कामका समेटना क्या ? कामका बखेरना क्या ?

एक बड़े परिवारमें मेरा आना-जाना है । परिवारमें धन भी है, जन भी है । रोज हल्ला मचता कि नहाने पर धोती-तौलिया ठीक नहीं मिलता—"अरे मिट्ठन, मेरी धोती ला ! अरे बुद्धू, मेरा तौलिया कहाँ फूँक दिया !" यह मैं अक्सर सुना करता ।

एक दिन मैंने मिट्ठन और बुद्धूको समझाया कि तीसरे पहर जब बाहर चौकसे सूखी धोतियाँ और तौलिये उतारते हो, उसी समय उन्हें स्नान-गृहमें रख दिया करो, जिससे जो जब नहाने जायेगा, उसे अपनी धोती-तौलिया तैयार मिलेगा । साथ ही बाजारसे मंगाकर मैंने ५-६ खूँटियाँ स्नानगृहमें लगवा दीं—नौकरोंकी परेशानी दूर हो गई, तो घर वालोंका सुभीता बढ़ गया ।

यह है कामका समेटना ।

[७]

एक साहित्यिक मित्रके घर गया, तो देखा कि उसके लिखनेकी मेज पर बिजलीका टेबिल लैम्प भी रक्खा है, उसके पास ही मिट्टीके तेलकी

लालटैन भी और उस लालटैनके पाँखेमें एक दियासलाईकी डिबिया भी !

पूछा—"हज़रत, यह लालटैन क्यों विराजमान है यहाँ ?"

बोले—"लिखते-लिखते कभी अचानक बिजली बुझ जाए, तो इसे जला लेता हूँ और यों इधर-उधर दौड़ने और ठोकरें खानेसे बच जाता हूँ ।"

यह है कामका समेटना और यह-वह क्या था, कामको समेटना सीखना हो, तो डाकियेसे सीखिए, जो अपनी हज़ारों चिट्ठियोंको इस सिलसिलेसे लगाता है कि क़दमके साथ चिट्ठियाँ अपने-अपने ठिकाने पहुँचती चली जाती हैं !

लो भिखारी, दुर मज़दूर !

मैं हरद्वार जा रहा था और वे भी। वे भी, माने एक मारवाड़ी धनी परिवार। इस परिवारमें एक सेठजी कोई चालीस वर्षके, सेठानी जी, एक लड़का और एक ४–५ सालकी लड़की।

मेरी तबियत ज़रा खराब, मैं अपनी सीट पर लेटा हुआ। शानदार सेकेण्ड क्लासका डब्बा, जिसमें दो सीट नीचे और एक ऊपर। ऊपरवाली सामानसे लदफद। उनके लड़केने चाहा कि मेरी सीट पर वह खिड़कीके पास बैठे। मैंने चाहा कि हाँ, वह ज़रूर बैठे और पैर सकोड़े, पर सेठ जीने उसे आँखों ही आँखों लिया कि कहा—"देखते नहीं, पण्डित जी-की तबियत खराब है, इधर बैठो!"

मैं कर्मोंमें रावणका रूप या कंसका प्रतिनिधि भले ही हूँ, जन्मसे ब्राह्मण हूँ और ब्राह्मण हूँ कि पूज्य हूँ; यह सेठ जीने बिना परिचयके ही जान लिया, तो मुझ पर उनकी धार्मिकताकी एक छाप पड़ी। फलोंकी बड़ी टोकरी उनके साथ थी, उसे दिखाकर बोले—आप कोई कष्ट न मानें—सन्तरे लें, आपकी तबियत सम्भलेगी। मैंने माना कि आदमी सज्जन है।

गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी, तो सेठजीकी खिड़कीके नीचे चार-पाँच भिखमंगे, दीन, हीन, मलीन! सेठजीने सेठानीजीको इशारा दिया कि भखमंगोंकी झोलीमें पूरियाँ पड़ीं और सेठजीको आशीष मिली। फिर एक स्टेशन, फिर भिखारी, फिर भोजन। किसी अनाथालयके दो लड़के गाड़ीमें आ गये—गाने, भीख मांगने। लड़की और सेठानीजीने उनसे खूब भजन सुने। सेठानीजीने दोनोंको खाना खिलाया, सेठ जीने एक रुपया दिया और छोटी मुन्नीने अपना सन्तरा।

मैंने सोचा—सारा परिवार ही उदार है। हर आदमी अपनी आदतसे

मजबूर है। मैं यह सोचकर यहीं न रुका और सोचता गया—मनुष्य और मनुष्यके बीच भेदभाव संसारका सबसे बड़ा पाप और मनुष्य-मनुष्यके बीच एकता संसारका सबसे बड़ा पुण्य है। ममता इस पाप-पुण्यके बीचका सेतुबन्ध है।

सेठजीकी स्वभाववृत्तिके लिए मेरे मनमें स्वाभाविक था कि आदरका भाव उपजा और पनप चला !

× × ×

यह आ गया हरद्वार !

कुलियोंने सेठजीका सामान नीचे उतारा—"अच्छा सरकार, तो हुक्म हो जाये !" वे जानना चाहते थे कि उन्हें क्या मिलेगा ?

सेठजीने बण्डलोंकी ओर ताका और इनका बोझ आँका, तो बोले—"बोझा बेसी नहीं है, उठाओ बारह आने मिलेंगे !"

बारह आने ? कुली जैसे आकाशसे गिरे। "हाँ भई, बारह आने। तीन-तीन आने तीन कुलियोंकी मजदूरी और तीन आने बकसिस, हमने ठीक बोल दिया है, उठाओ !" सेठ जीने उन्हें सम्भाला।

कुली चुपचाप देखते रहे, न बोले, न बढ़े। एक अजीब पैंतरा था ! सेठ जीने उन्हें सहलाया—"अच्छा ९ आने मजदूरी, ७ आने बकसिस; उठाओ !"

"माई बाप ! हम गवरमिंटके नौकर थोड़े ही हैं, हम तो आप हीके नौकर हैं। आपसे न लें, तो कौन दे।" एक कुलीने सारा, तो दूसरेने पूरा—"हुजूर, आप तो राजा आदमी हैं, हम रात-दिन आदमीको देखते हैं, सरकार, हम आदमीको पहचानते हैं।" यहीं तीसरेने फेंकी तुरुप—"सरकार, तीन रुपयेका काम है !"

[illegible] —झते-उलझते सेठ जीने उन्हें एक झटका दिया —"[illegible] काम है। हमारा टाइम [illegible] (क्रमशः [illegible])

मत करो । उठाना हो, तो उठाओ, नहीं तो हमारा नौकर रख देगा । ९ आना मजदूरी ९ आना बकसिस; एक रुपया दो आना मिलेगा ।"

सेठजी किनारे पर आ गये थे । अब अंजलियाँ भरनेका समय न था, कोई चुटकी ही ली जा सकती थी । कुलियोंने इसे भाँपा और वे सामानकी ओर बढ़े । बढ़ते-बढ़ते उन्होंने एक झोंक दी—"वाह सरकार, आप नौकरसे क्यों सामान उठवावें, हम किस लिए हैं । आप एक पैसा न दें, तो भी हम सामान नहीं छोड़ सकते !" और सामान उठाते-उठाते आवाज़ आई —"इतना बड़ी सरकारने खुद कह दिया है, १४ आने हम छोटे सेठजीसे इनाम लेंगे !"

सेठजीने एक हल्की-सी आड़ दी—"ना, ना, यह सब कुछ नहीं । तुम लोग मुसाफ़िरोंको बहुत तंग करते हो !"

सामान ताँगेमें रक्खा जा चुका, तो दुअन्नीके साथ रुपया कुलियोंकी ओर बढ़ाया गया । अब एक अजीब झमेला कि सभी कुछ न कुछ बोल रहे हैं । अपना माथा छू छू कर कुली लोग माँग रहे हैं और सेठजी हाथ हिला कर मना कर रहे हैं । सेठजी आखिर झुके और डेढ़ रुपया कुलियोंके पल्ले पड़ा ।

तभी आ जुटे दस बीस भिखारी । सेठजी ने सबको एक-एक अधन्नी दी—बिना तक़ाज़े; और ताँगा चला ।

मैंने सोचा—बहुत तंग करते हैं ये कुली । हर आदमी अपनी आदतसे मजबूर है । मैं सोचकर यहीं न रुका और सोचता गया—जिस मनुष्यने अनावश्यक कुलियोंको बिना माँगे एक रुपया दिया और जिसने भिखारियोंको माँगते ही पाँच-सात आने दे दिये, वह कुलियोंसे चार-छ आने बचानेके लिए इतनी देर क्यों उलझता रहा ? इस आदमीके पास पैसा है, यह उसे खर्चना चाहता है, खर्चना जानता है, यह स्पष्ट है; फिर मनोवृत्तिकी यह कौन-सी दिशा है कि जिनके साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं, उन्हें देनेको वह तैयार है, पर जो उसकी सेवा करते हैं, उसे सुख पहुँचाते हैं, उन्हें देनेको वह तैयार नहीं है ।

एक अद्भुत मनोदशा है इस सेठकी, पर क्या यह इस सेठकी ही मनोदशा है ? सोचता हूँ कि कुछ गहरे उतर पाऊँ, तो याद आ जाती हैं मुझे अपनी एक भाभीजी । जो मिलता है उनकी प्रशंसा करता है । जो उनका एक बार अतिथि हो गया, वह दूसरोंका आतिथ्य फिर पसन्द नहीं करता । नम्र, हँसमुख, उदार और सज्जन !

उनका एक बूढ़ा धोबी है । धोबी उनसे काम भी पाता है, स्नेह भी, सद्व्यवहार भी । एक दिन उसे कपड़े दिये गये कि वह आज ही धो लाये । धोबीने दूसरा काम छोड़ कर यह काम किया और जब हिसाब लिखानेका समय आया, तो मजदूरी दुगनी लिखाई, पर भाभी जी इस पर तैयार न हुईं और सारी बहसका अन्त उन्होंने यह कहकर कर दिया—"यों तुझे जरूरत हो, तो तू दो रुपये माँग ले, मैं मना नहीं करूँगी, पर यह क्या कि एक दिन जल्दी धो लाया, तो चार आनेके आठ आने बताने लगा !"

बिल्कुल वही सेठकी मनोवृत्ति—यदि माँगनेकी मुद्रामें तू सामने आये, तो तुझे दो रुपये देना भी सरल, पर यदि मजदूरीकी बात है, तो ये आठ आने भी मेरे लिए कुबेरका भण्डार !

देने-देनेमें यह अन्तर क्यों ? भिखारीको, गरीबको, देते समय भी इकन्नी चार पैसोंकी है और मजदूरको देते समय भी वह पाँच पैसोंकी नहीं होती, फिर एकको देनेमें वह रपटती क्यों है और दूसरेको देनेमें वह चिपकती क्यों है ?

बहुत सोचा, तो एक बात पाई कि भिखारी माँगता है, तो जैसे बिना कहे भी कहता है—मेरा कोई अधिकार नहीं है, यह आपकी कृपा है । इस अधिकार-हीनता और कृपापूर्णतामें दाताकी महत्ता है—उसे देते समय बिना अनुभव किये भी, यह गौरव अनुभव होता है कि मैं इससे बड़ा हूँ, सामर्थ्यवान हूँ—ओह मैं !

इसके विरुद्ध मजदूर जब माँगता है, तो जैसे बिना कहे भी कहता है—मैं भीख तो नहीं माँगता साहब, मैंने तो पहले काम किया है, अब माँग रहा

हूँ । यह माँग मेरा अधिकार है। साफ़ है इस माँगमें लेने वालेका अधिकार है, देनेवालेकी बाध्यता है ।

तो संक्षेपमें---भिखारी, ग़रीब या असमर्थ माँगते समय अपने 'अहं' को दीनतामें डुबो देता है और दाता देते समय अपने अहंकी प्यास बुझती-सी अनुभव करता है, तो मजदूर माँगते समय अपना अधिकार-सा अनुभव करता है और दाता देखता है कि उससे कुछ वसूल किया जा रहा है ।

पहलेमें दोनों पक्ष अस्वस्थ हैं और दूसरेमें केवल पहला, पर हम भिखारीके कार्यको मान रहे हैं स्वाभाविक; यानी उसका अधिकार और मजदूरके कार्यको मान रहे हैं अस्वाभाविक; यानी उसकी धृष्टता । इसके साथ ही दाताके दर्पको हम मान रहे हैं पुण्य और मजदूरके अधिकार-हरणको सेठकी चतुरता !

हमारे लिए जीवनके प्रश्नोंका समाधान है धर्म और धर्मकी दृष्टिमें वह कार्य पाप है, जिसमें दीनता है, दर्प है, अपहरण है ।

यह सब समाज-व्यवस्थाकी अस्वस्थताके चिह्न हैं । स्वस्थ समाज-व्यवस्थामें, न भिखारीकी दीनताके लिए स्थान है, न दाताके दर्पके लिए और न मज़दूरकी धृष्टताके लिए, न धनपतिकी चतुरताके लिए । उसकी दृष्टिमें तो विषमता ही रोग है और समता ही स्वास्थ्य !
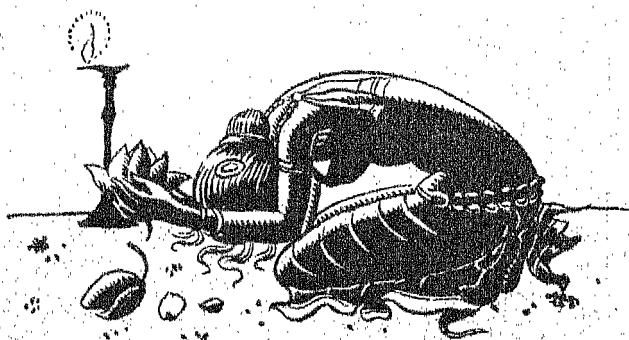
जब हम बाज़ारमें हँसे !

बाजार भी एक अजीब जगह है। जगह क्या, इसे पूरा नाटक समझिए। यों देखनेमें तो इस नाटकके पात्रोंकी संख्या अनगिन है, पर असलमें यहाँ दो ही पात्र हैं—एक दुकानदार, दूसरा खरीदार।

दुकानदारके पास है सामान और खरीदारके पास है पैसा। भक्त और भगवान्‌की जोड़ी है, पर ऊँ हूँ: यह उपमा भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ दोनों ही भक्त हैं और दोनों ही भगवान् और तभी तो मैं कहता हूँ—बाजार भी एक अजीब जगह है।

चहल-पहल बाजारकी जान है। यह चहल-पहल है खरीदारोंकी, दुकानदारोंकी। इस चहल-पहलमें कभी-कभाक गरमी भी आ जाती है और मामला गाली-गलौज पर ही नहीं रुकता, मार-पीट तक पहुँच जाता है, पर आम तौर पर यहाँ प्रसन्नताकी ही छाया रहती है।

"क्यों भला ?"

ठीक जगह पर ठीक प्रश्न है आपका, पर उत्तर इसका साफ़ है। बात यह है कि बाजारकी मनोवृत्ति है मिलनकी, ले-दे की, समन्वयकी। यह न लड़नेसे सधता है, न झगड़नेसे। लो, यों समझ लो कि दुकानदारको जरूरत है खरीदार की और खरीदारको जरूरत है दुकानदारकी—एकका काम दूसरेके बिना नहीं चल सकता, इसलिए दोनोंको एक दूसरेसे मिलना है, जी हाँ मिलना ही है।

बातचीतमें ज़रा साहित्यिकताकी पुट देनेमें आपको भी मजा आता हो, तो मैं कहना चाहता हूँ कि मिलनका फूल प्रसन्नताकी बेल पर ही फूलता है, इसलिए बाजारका वातावरण आम तौर पर प्रसन्नतामय ही रहता है। हास्य है प्रसन्नताका अनूठा फूल, इसलिए यह बाजारके वातावरणमें खूब

फलता फूलता है और यों बाज़ारकी ख़रीदारीमें हास्यकी किलकारियाँ यदि प्रायः सुनाई देती रहती हैं, तो यहाँ सवालका सन्तरी क्यों अपनी ज़रूरत माने ?

और फिर आप तो इस तरह पूछ रहे हैं, जैसे कभी बाज़ारकी ख़रीदारीमें आपके साथ किसीने या किसीके साथ आपने मज़ाक़ ही न किया हो ? क्यों, उस दिन तो मैं आपके साथ ही था, जब विश्वम्भर बज़ाजने आप पर एक तकड़ी-सी मुहर जड़ी।

"कब ? कैसी मुहर ?"

जी, भूल गये आप ? उस दिन मैं पद्माके लिए शाल ख़रीद रहा था और आप भी साथ थे। मैं शाल देखता रहा और आप मूँगफलियाँ खाते रहे। जब हम लोग शाल लेकर चले, तो विश्वम्भरने आपको आवाज़ दी। आप लौटे, तो उसने रुमालकी एक पोटली आपको दी कि यह आप भूल गये थे बाबू जी !

आपने पोटली ले ली, शायद यह समझकर कि मेरी कोई चीज़ है, पर तभी उसे खोली, तो उसमें मूँगफलियोंके छिलके थे ! ओह, हम सब कैसे लोट-पोट हुए हँसते-हँसते और आपका उस दिन वाला मुँह तो मुझे आज भी याद है !

उस समय तो आपकी तबियत बहुत ही झक हुई, जब विश्वम्भरने बहुत भोली-सी सूरत बनाकर आपसे ही पूछा—"क्यों बाबूजी, यह आपकी नहीं है क्या ? माफ़ कीजियेगा हुज़ूर, मैंने यही समझा था !"

ओफ़-ओः ! उस समय हँसीका जो दूसरा दौर आया, तो क़हक़हे आसमान तक पहुँच गये और मुझे स्वर्गीय प्रेमचन्दका गूँजता अट्टहास याद हो आया !

× × ×

झिंगा चौधरीको तो आप जानते ही हैं, हमारे गलीरामें ही फल-सब्जियाँ

बेचता है। एक दिन उसकी दुकानसे, हाँ दुकान ही है और क्या; मैं सब्जी लेकर चला, तो केलेके छिलके पर रपट पड़ा। दोनों पैर चौड़े हो गये और मैं पलक मारते हनुमान-आसन करता नजर आया। हथेलीका बल सड़क पर दे, मैं सीधा हुआ, तो झिंगा चौधरी मुझसे पूछता है—"कहिए बाबूजी, क्या उठा लिया ?"

अब बताइये, उसे मैं क्या जवाब देता, पर आते-जाते लोग खूब हँसे। ठीक है, लोगोंको तो बिना पैसेका तमाशा चाहिए, पर उस दुष्टकी बात देखिए। दूसरे दिन मैं सब्जी लेने नहीं गया और श्रीमतीजीको भेज दिया, तो झिंगा उनसे कहता है—"क्यों बहूजी, आज बाबूजी नहीं आये ? कल हमारी दुकान परसे उन्हें एक गिन्नी पागई थी, पर हम उनसे हिस्सा थोड़े ही बटा रहे थे—पाई चीज पराई चीज !"

श्रीमतीजी मेरी जेबकी पाई-पाई पर निगाह रखती हैं। चौंक कर झिंगासे बोलीं—"बाबूजीको कल गिन्नी पाई थी ?"

मुँह बनाकर झिंगाने कहा—"हाँ बहूजी, जयपुरी गिन्नी; यहीं हमारी दुकानके सामनेसे पाई और बाबू जी उठाकर ऐसे नौ-दो-ग्यारह हुए कि हमारी तरफ़ देखा भी नहीं।"

श्रीमतीजी सब्जी लेकर लौटीं, तो महात्मा परशुरामकी तरह क्रुद्ध और बोलीं—"क्यों जी, अब तुम बहुत उस्ताद हो गये हो। मुझे बताया भी नहीं कि तुम्हें गिन्नी पाई है, जैसे घरमें जो दौलत बरसती है, उसे मैं इकली ही पी जाती हूँ ?"

मैं परेशान कि कौनसी गिन्नी, पर श्रीमतीजीका टैम्परेचर डिग्री पर डिग्री हाई ! बहुत देरमें बात खुली, तो हम लोग खूब हँसे, पर दूसरे दिन झिंगाको मैंने डाटा, तो बोला—"अजी बाबूजी, हँसी मज़ाक़के बिना जिन्दगी झाँबोंका ढेर है। बहूजी को गिन्नी न बताता, तो आप कैसे हँसते ?"

× × ×

यासीन भाईको सारा शहर जानता है। बड़े भोले आदमी हैं बेचारे,

पर उस दिन उनकी दुकान पर सुना कि एक ऐसा ख़रीदार आया, जो सीधे-पनमें उन्हें भी मात कर गया। यह शहरोंसे दूर किसी पहाड़ी गाँवका रहने वाला था।

यासीन भाईकी दुकान पर काँचका एक गिलास रक्खा था उल्टा। उसे देखकर बोला—"यह क्या है भाई ?" उन्होंने कहा—"यह गिलास है" तो ख़रीदार उसे छूकर आश्चर्यसे बोला—"यह कैसा गिलास है, इसमें तो मुँह ही नहीं !"

यासीन भाईने सरल-स्वभाव कहा—"उलटकर देख भैया !" ख़रीदारने उसे उलटकर देखा, तो और भी गहरे आश्चर्यमें डूबकर बोला—"ओह हो: ! इसमें तो तली भी नहीं है !"

पता नहीं यासीन भाईकी दुकान पर ऐसा ख़रीदार आया था नहीं, पर शिवचन्द्र कुमारने उस दिन रेलमें यह बात सुनाई, तो हँसीके फ़व्वारे छूट पड़े। मैंने कहा—"संसारके साहित्यमें सरलताका इससे बढ़िया उदाहरण नहीं मिल सकता।"

× × ×

एक छोटा-सा रिमार्क, एक मामूली-सा इशारा, बाजारके वातावरणको हास्यसे भर देता है। गिरीशदत्त पांडेय मेरे मित्र हैं। चीजें ख़रीदनेका रोग है उन्हें। दुकानदारका दिमाग़ चाट जाते हैं बेचारे का, पर उस दिन उस अंग्रेज़ महिलाने उन्हें ऐसा सबक़ दिया कि याद करेंगे पाण्डेय जी। अपनी श्रीमतीजीके लिए उन्होंने कानोंके मोती ख़रीदे। लेते-लेते बोले—"मैडम, ये ठीक भी हैं ?" मैडमने निहायत नज़ाकतके साथ ज़रा मुस्कराकर कहा—"पहनकर तो देख लीजिये !" ओह हो, इतने ज़ोरसे चारों ओर हँसी फूटी कि पाण्डेय जी ख़ुद कानोंके मोती बन गये।

इस महिलाके पास एक बूढ़ा अंगरेज़ था। उससे पाण्डेयजीने जुराबें लीं। उन पर क़ीमत लिखी थी आठ आने। पाण्डेयजीको यह कम लगी, तो बोले—"आठ आने ही ?" बूढ़ेने पेंसिल पाण्डेयजीकी ओर

बढ़ाकर कहा—"धन्यवाद, लीजिए बारह आने कर दीजिए!" मामूली बात थी, पर बूढ़ेकी लचक और कहनेके ढंगने समा बांध दिया और हम सब हँसीमें डूब-से गये।

बात यह है कि बारातोंके बाद बाजार ही वह स्थान है, जहाँ आदमी खुले दिल होता है और उसे राह चलतोंसे मसखरी सूझती है। कभी-कभी यह मसखरी लाभदायक भी हो जाती है।

× × ×

मंगल हलवाई बुरा आदमी नहीं है, पर बूढ़ा हो गया है। उस दिन प्रोफ़ेसर साहबने चार आने देकर रेवड़ियाँ लीं, पर मंगल लिये चार आने भूल गया। बेचारे भले आदमी, दुबारा चार आने देकर चुपके-से चले आये, पर उनके दो शैतान विद्यार्थियोंको यह पता लगा, तो वे तन गये।

दूसरे दिन एक लड़का उसकी बेंच पर जा बैठा और बोला—"लो लाला, आज हमें वज़ीफ़ा मिला है, तुम हमें छकाकर मिठाई खिलाओ।" लाला तो ऐसोंकी खोजमें ही रहता है, दौना भरकर हाज़िर किया। तभी दूसरा लड़का आया और पहले-से अनजान-सा बैंचके दूसरे किनारे बैठ गया। दोनों मिठाई खाने लगे। जो बादमें आया था, उसने पहले हाथ झाड़े और उठ चला। लालाने कहा—"अरे, पैसे तो दे!" लड़का बोला—"वाह लाला, दुबारा पैसे माँगते हो, अभी तो दिये हैं एक रुपया पाँच आने। आज अफ़ीम ज़्यादा तो नहीं खा गये?"

लालाजीने न्यायके लिए उस लड़केकी तरफ़ देखा, जो इससे पहले आया था और अब रुमालसे मुँह पोंछ रहा था—"क्यों बाबूजी, आप इससे पहले-से बैठे हैं, आप ही बताइए, इसने मुझे पैसे दिये हैं?"

लड़केने चलनेके लिए पैर बढ़ाते हुए-से कहा—"लाला, तुम अब भुलक्कड़ हो गये हो. पर खैर, इसके एक रुपया पाँच आने तो भूल गये, मेरा १॥ रुपया न भूल जाना।"

"और तुमने ही कहाँ दिये हैं अभी पैसे ?" लालाने ज़ोरसे कहा, तो वह बोला—"वाह वाह, यह एक और हुई। मालूम होता है लाला, सब मुफ़्त खाने वाले तुम्हारी ही दुकान पर आते हैं। दुकान है या सेठ मंगनी रामका सदाव्रत।"

दस पाँच आदमी इकट्ठे हो गये। सामने वाले दुकानदारने सारी बात सुनकर कहा—"मंगल, अब तेरी अक़्ल सठिया गई है। कल प्रोफ़ेसर साहबसे झगड़ रहा था, आज इन लड़कोंसे उलझ बैठा !"

मंगल लालाने क़समोंकी झड़ी बाँध दी, तो एक पड़ौसीने कहा—"तो भाई, यह तो हो नहीं सकता कि दुनियाके सब आदमी बेईमान और बस एक तू ही राजा हरिश्चंद्र !"

बात ख़तम हो गई, पर पासकी गलीमें पहुँचते ही दोनों लड़कोंको जो हँसी छूटी, तो पेट फूल गये। मंगल तीन रुपयोंको मारा गया और मज़ा यह कि अब जो ख़रीदार आता है, नख़रेसे कहता है—"ले भाई ये पैसे, देख भूल मत जाना !" मंगल सुनता है और कुढ़ता है, पर कुछ कर नहीं पाता ! प्रोफ़ेसर साहबके चार आनोंका बेचारेको ऐसा सूद देना पड़ा कि काबुलीका सूद भी मात हो गया—लाला दे रहा है, दे रहा है, दिये जा रहा है और जाने कब तक दिये जायेगा।

× × ×

हास्य जिन्दगीकी एक निशानी है। निशानी क्या भाई साहब, यह जीवनका एक चोचला है और चोचला कहनेमें एक हल्कापन-सा ज़रूर लोगोंको लगता है, पर सचाई यह है कि चोचलोंके बिना जिन्दगी गूंगी है, जैसे बिना फूलोंकी बहार। तभी तो हमारे साहित्याचार्योंने हास्यको भी एक रस माना है और अनेक कलाकारोंने अपनी जीवन भरकी साधनाओंके द्वारा इसे एक महान् कलाका रूप दे दिया है।

पर हाँ, उस पहाड़ी-से शहरका मंगल न कलाकार, न साहित्यिक, न साधक, न विद्वान्, न पण्डित; बाजारका एक मामूली-सा दुकानदार;

अनपढ़के साथ अनगढ़ भी, पर उसने उस दिन मेरे प्रश्नका उत्तर देते हुए, हास्यको ऐसा कलात्मक रूप दिया कि मैं देखता रह गया। और देखता क्या रह गया यों ही, उसने अपनी बात कही ही इस ढंग पर कि हास्यके बड़े-बड़े बेढब और बेधड़क लेखक देखते रह जाएँ।

अच्छा, प्रश्न क्या था; यह जानना चाहते हैं आप ! मैं उस बेवक़ूफ़से प्रश्न ही क्या करता—मैंने उससे यह शिकायत की कि तुम्हारी दुकान पर क़लईके गिलासोंमें चाय दी जाती है और ये बहुत देर तक गरम रहते हैं, इससे पीनेमें देर होती है। तुम प्याले क्यों नहीं रखते ?

शिकायत सुनते ही चीनीके साथ ही चम्मच भी गिलासमें झटकेके साथ डाल, वह अपनी मैली गद्दी पर रक्खे उस उधड़े-से तकियेके सहारे लग, अपना गाल हथेली पर दिये बैठ गया। बैठ गया और बस बैठा है; जैसे मैंने उसे कोई बहुत ही दुर्भाग्य-पूर्ण समाचार सुना दिया हो।

अब मैं हलकी-सी चिन्तासे घिरा-घिरा उसे देख रहा हूँ और वह है कि गुम ! तब मैंने पूछा—"क्यों भाई, क्या हुआ ? बहुत संजीदगीकी टोनमें बोला—अजी बाबूजी, क्या बताऊँ आपको अपना ग़म, आप तो पढ़े-लिखे मालूम होते हैं; ज़रा यह तो बताओ कि जैसे आदमी हिन्दुस्तानमें हैं, वैसे दुनियामें कहीं और भी हैं ?"

क्यों भाई, अपने मुल्कके आदमियोंसे तुम क्यों परेशान हो ? मैंने उससे पूछा, तो पालथीको उकड़ू कर अपनी कोहनीको घुटने पर टेकते हुए बोला—"मैं क्यों परेशान हूँ, यह पूछ रहे हैं आप ? बाबूजी, मुझे परेशानीका कोई दौरा नहीं उठता और न मेरा बाप वसीयतमें मुझे यह धरोहर दे गया है—परेशान तो मुझे आप करते हैं।"

मैं तुम्हें परेशान करता हूँ ? आश्चर्यमें डूबकर मैंने पूछा, तो खिजियाते दाँत दिखाकर बोला—"जी हाँ, आप मुझे परेशान करते हैं। मारी नहीं बन्दूक़ आपने मेरे कलेजे में अभी ?"

बन्दूक़ ! मैंने तुम्हारे मारी ? आसपास बैठे तीन चार आदमियोंकी

तरफ़ मैंने देखा । वे भी मेरी ही तरह आश्चर्यसे उसकी ओर देख रहे थे । दुकानदार अभी उसी मुद्रामें था । बोला—"ये बन्दूक़से कम हैं आपके सवाल—क़लईके गिलास क्यों रक्खे हैं ? चीनीके प्याले क्यों नहीं ? बाबूजी मेरे कलेजे पर इस सवालकी चोट बन्दूक़से भी ज्यादा पड़ती है ।"

ज़रा ठहर कर बोला—अंगरेज़ जब चाय पीता है, तो बस दुनियाको भूल जाता है । धीरे-धीरे बातें करते, हँसते, खिलखिलाते, इस तरह प्यालेसे चुसकियाँ लेता है कि थकान उड़ी चली जाती है और ताजगी गातके रोयें-रोयेंमें समा जाती है, पर हिन्दुस्तानी आदमी दुकानमें घुसनेसे पहले ही चाय बनाओ, बनाओ चायकी हड़बड़ी मचाता आता है, जैसे गिरफ़्तारीका वारन्ट लिये दरोग़ा पीछे आ रहा हो । चायका प्याला जहाँ उसकी मेज़ पर आया कि उसने उठाया । अब प्याला हाथमें, चाय मुँहमें, पर आँखें बाहर सड़कपर और जहाँ कोई आता-जाता दिखाई दिया कि यह चिल्लाया—ठहरना, मैं भी आ रहा हूँ । बस, इसके बाद तो यह हाथसे प्यालेको देगा एक झटका कि चाय हो गलेके पार; जैसे कुनैन मिक्श्चर और उड़ेगा बाहरको ।

जाते-जाते पैसे गद्दी पर फेंकेगा, जैसे जुर्मानेमें दे रहा हो भला आदमी । अरे, यह कोई चाय है ! चाय पीना बाबू जी हमसे सीखिये । सुबह दुकान खोलते ही पहले अपना गिलास बनाते हैं । उस बखत राजा आये या लाट साहब, बात नहीं करते । उसीका तो यह नतीजा है ।"

यह कहकर उसने अपनी बेडौल तोन्द पर चक्करदार हाथ फेरकर थपथपी दी और तब बोला—"बाबू जी, पन्द्रह अगस्तसे मैंने क़लईके ये गिलास रख दिये हैं, जिससे राज़ीसे नहीं तो लोग मजबूरीसे ही सही, दो घड़ी सुसताना तो सीखें ।"

वह अब फिर पहलेकी तरह ही बैठ गया और केतली उठाते हुए बोला—"बाबू जी, आपकी चाय ठण्डी हो रही है । पीजिये, अब आपको

मेरा गिलास कुछ नहीं कहेगा" और वह इतने मीठे ढंगसे हँसा कि मैं उसकी तरफ़ देखता रह गया।

जोकरकी तरह गिरपड़ कर किसीको हँसा देना आसान है, पर हँसीमें एक बात पैदा करना कठिन है और अब भी कभी-कभी मुझे वह अनपढ़ और अनगढ़ दुकानदार याद आ जाता है कि वह सचमुच इस कलाका पंडित था। उसने गंभीरताका वातावरण बनाकर उसमें हास्यका वह फूल खिलाया कि चाय-निर्माता ही नहीं, चाह-निर्माता भी हो गया।

× × ×

भाई किशनचन्द सिलाईकी मैशीन और पंखोंके स्थानीय विक्रेता हैं। वे एक दिन मिले, तो मैंने कहा—"भई, हमें एक पंखा चाहिये, पर वह घूमनेवाला हो।

मेरा मतलब ऑस्सीलेटिंग पंखेसे था पर वे बनकर बोले—"भाई साहब, किसी दिन हमारी दूकान पर आ देखिये। आपने शायद ध्यान नहीं दिया; हमारा तो हर पंखा घूमता है!"

वाह, एक सादे सवाल पर क्या रंगीन वारनिश हो गई यह कि पंखोंकी बात चलते ही यह बात जीभपर आ जाती है।

बाजारका हास्य किसी भी राष्ट्रके सामूहिक जीवनकी एक कसौटी है। यदि इस हास्यमें फूहड़पन हो, तो मानना पड़ेगा कि यह राष्ट्र सामूहिक दृष्टिसे अभी पिछड़ा हुआ है और सुघड़पन हो, तो कह सकते हैं कि यह राष्ट्र सभ्य है, संस्कृत है। इस स्थापनाकी छायामें बाजारू हास्य एक राष्ट्रिय धरोहर है, जिसे सुरक्षित रखना ही नहीं, सुसज्जित करना भी प्रत्येक राष्ट्र-अभिमानीका कर्तव्य है।

रात तकिया ऊँचा था !

सुबह जागा, तो गुद्दीके नीचेका पट्ठा अकड़ा हुआ था। हाथसे उसे दबाकर उठा, तो देखा कि रात दोनों तकिये सिरके नीचे रहे और सीमासे बाहर ऊँचाई पर सिर रखनेका ही यह फल है। सोचा, तेलकी मालिश करनी होगी, सिकाई भी, तब यह ठीक हो जायगा—कोई सीरियस बात नहीं है !

निश्चय ही कोई सीरियस बात नहीं है—सीरियस यानी खतरनाक। पट्ठा अकड़ गया है, खुल जायेगा, इसमें सीरियस क्या होना था, पर उसमें कड़क है, बार-बार उधर ध्यान जाता है और ध्यान कोई ऐसा पदार्थ नहीं है कि जहाँ जाये, वहीं जमा रहे। उचट कर इधर-उधर भी झाँक चलता है।

सिर ऊँचा रखनेसे दर्द क्यों हो गया ?

'हमेशा अपना सिर ऊँचा रखो' यह तो तेजस्वी पुरुषोंका वचन है। सिर ऊँचा रखना जीवनका चिह्न है। जिसका सिर नीचा हो गया, उसका फिर रहा ही क्या ?

पर यह क्या, मुझे सिर ऊँचा रखनेका ही यह फल मिला कि गजा हो गया हूँ, न इधर मुड़ सकता हूँ न उधर ! यह अच्छा सिर ऊँचा किया !

केस तो सीरियस नहीं था, प्रश्न ज़रूर सीरियस है। सीरियस यानी गम्भीर। दर्दके गर्भमेंसे यह तो समाजशास्त्रका, हाँ, जीवनशास्त्रका एक प्रश्न उभर आया। सिर ऊँचा रखना यदि जीवनकी लक्षणीय तेजस्विता है, तो फिर ऐसा करनेमें यह दर्द क्यों ?

तप तो यह नहीं है, कष्ट-सहन भी तो यह नहीं है यह तो रोग है। रोगका सीधा-सा अर्थ है—बीमारी, पर यह शब्द तो निरर्थक है। बीमारी-

का कुछ रूप तो है, पर अर्थ क्या है ? असलमें रोगका अर्थ है, शरीरके प्राकृतिक नियमोंको भंग करनेका दंड ! शरीरको ठंडसे बचाना चाहिए, परन्तु फिरे नंगे, बस होगया जुकाम और अब पीते रहो जुशान्दा ! जो अपराध करेगा, वह दंड न भोगेगा, तो क्या इनाम पायेगा ?

तो इसका अर्थ हुआ कि सिर ऊँचा करना एक अपराध था और यह दर्द उसका दंड है ?

सिर ऊँचा करना एक अपराध है, यह कहना क्या स्वयं अपनेमें एक अपराध नहीं है ?

यह दो प्रश्न बने । इनमें सत्य कहाँ है ? पहिले या दूसरेमें ? दोनोंके पक्षमें 'हाँ' कही जा सकती है और 'ना' भी । यह तर्ककी महिमा है, पर तर्क निर्णायक नहीं होगा । वह मस्तिष्ककी रेखाओंमें अनेक रंग भर देगा, पर हृदयकी बीणा उससे झंकृत न होगी । उसके लिए अनुभूतिमय चिन्तनकी आवश्यकता है ।

अनुभूतिकी छायामें दोनोंका समन्वय है, पर समन्वयका आधार है सीमा । इन दोनों प्रश्नोंकी भी सीमा रचनी होगी । रचनी, यानी समझनी होगी ।

सिर ऊँचा करना एक अपराध है । इसकी सीमा है शक्ति, यानी शक्तिसे अधिक ऊँचा करना अपराध है ।

सिर नीचा करना एक अपराध है ! इसकी सीमा है, अशक्ति-दीनता, यानी दीनताके कारण सिर झुकाना एक अपराध है, क्योंकि अशक्ति स्वयं अपराध है ।

सत्य अब सामने आ गया, पर उसे खोलकर देखनेकी ज़रूरत है ।

जगनंदन कल तक ग़रीब था । दूरके रिश्तेकी एक बुआ मरी और उसे दस हज़ार दे गई । उसकी आँखें हिरन हो गईं । तीन हज़ारकी मोटर खरीदी और तीन मुक़द्दमे शुरू किये—दो दीवानीके और एक फ़ौजदारी-का । तीसमारखाँ के नामसे लोग उसका मज़ाक़ उड़ाते हैं ! हरिनन्दन

भी कल तक एक ग़रीब था । दूरके रिश्तेकी बुआ उसे भी दस हज़ार दे मरी । तीन हज़ारमें उसने अपने बूढ़े पिताका ऋण उतारा, एक हज़ारमें घरकी मरम्मत की, एक हज़ारमें लड़की ब्याही, पाँच सौ में पड़ोसके मन्दिरका फ़र्श बनवा दिया और बाक़ीमें अपनी दुकान खोल ली । दो-चार आने रोज़ ग़रीबोंमें बाँट देता है, सब उससे खुश हैं ।

दोनोंने ही सर ऊँचा किया, पर एक अपराधी हो गया और दूसरा सम्मानित, सीमाका यही रूप है ।

और लीजिये—श्रीकृष्ण भी लेखक है और नन्दराम भी । दोनों चाहते हैं कि उनके लेख प्रशंसित हों और उनके मित्र उन्हें लेखकके रूपमें जानें ।

श्रीकृष्ण अपने लेखका आरम्भ करनेसे भी पहले, जो मिलता है, उसीसे उसका जिक्र करने लगता है—"मुझे स्त्रियोंके बारेमें एक लेख लिखना है । एक सम्पादकका बड़ा तक़ाज़ा हो रहा है । 'सरस्वती' में उन्होंने जबसे मेरा वह पहला लेख पढ़ा, तभीसे मेरे पीछे पड़े हैं । फ़ुरसत नहीं मिलती, वरना एक लेख रोज़ लिखता ।" लेख लिखकर वह अपनी मेज़ पर रख लेता है और जो आता है, उसे ही सुनाता है—जो लेखको समझने योग्य नहीं, उनसे भी चर्चा करता है । सबसे पूछता है कैसा रहा ? फिर-फिर पूछता है और कहीं किसी भी लेखकी चर्चा हो, उसके साथ अपनी तुलना अवश्य कर बैठता है ।

मित्रोंसे ज़बर्दस्ती तारीफ़ वसूल करता है और फूल उठता है । पीछे उसके मित्र उसे हौलू कहते हैं ।

नन्दरामके लेख बराबर पत्रोंमें छपते हैं, पुरस्कार भी उसे मिलते हैं और समारोहोंके निमन्त्रण भी । अपने लेखोंके छपकर आनेपर वह भी मित्रोंसे चर्चा करता है और उसके मित्र जानते हैं और मानते भी हैं कि वह लेखक है ।

दोनोंमें प्रशंसाकी चाह है, पर एकको सीमाने प्रशंसनीय बना दिया

और दूसरेको ढोल ! सिर ऊँचा रखनेकी भी यही बात है—सिर ऊँचा रक्खो, पर शक्तिकी सीमा देखकर। यों ही सिर ऊँचा किये फिरोगे, तो लोग तुम्हें ऊँट कहेंगे ! सिर ऊँचा करनेकी भी एक कला है और इस कलाकी कुंजी यह सीमा ही है।

अच्छा, तो सीमामें ही सही, निष्कर्ष यह निकला कि सिर ऊँचा रक्खो। सुननेमें यह अच्छा लगता है, पर भीतर तक उतरें तो बड़ी बेहूदी बात है। सिर ऊँचा रखनेकी बातको अच्छा-अच्छा कहते युग बीत गये, इसीसे अच्छा लगता है। शब्दमें स्वयं तो कुछ शक्ति होती ही नहीं, जनताके व्यवहार द्वारा यह शक्ति उसमें प्रतिष्ठित की जाती है। 'सिर ऊँचा रक्खो' इसमें जो एक ऊँचाई हमें भासती है, वह भी प्रतिष्ठित की हुई है, स्वयं अपनी नहीं है। तो यह सोचना होगा कि इस वाक्यमें ऊँचाईकी यह भावना कैसे प्रतिष्ठित की गई या हो गई ?

सिर अपनी जगह पर है, पैर अपनी जगह। सभा-समाजमें कोई पैर ऊँचा करके बैठे, तो यह असभ्यता है। बड़ी उलझन है, पर यह सुलझ जायेगी, यदि हम और आगे बढ़ें और यह पा लें कि असलमें मौलिक तत्व यह है कि सिर नीचा न करो, जहाँ वह प्रकृति द्वारा स्थापित है, वहाँसे उसे नीचे मत झुकाओ। इस सत्यका—तत्त्वका—लोकव्यवहारमें अनुवाद हो गया—सिर ऊँचा रक्खो। सिर ऊँचा रक्खो; यानी सिर नीचा न करो।

सिर नीचा न करो, क्योंकि सिरको नीचा करना पाप है, पर सिर नीचा न करें, तो माता-पिताके चरण कैसे छुएँ, देववन्दना कैसे करें ? वहाँ सीमाका प्रश्न था, यहाँ उद्देश्यका प्रश्न है।

'सिर नीचा करना' एक प्रतीक है—लज्जाका, दीनताका, साहसभंगका, निश्चयकी शिथिलताका, लघुताकी स्वीकृतिका।

राधेश्यामने चोरी की, पकड़ा गया, अब उसकी आँखें ऊपर उठती ही नहीं। लज्जाने सिर नीचा कर दिया। प्राचीन भारतका एक दृश्य है—महाराज बाहरसे अचानक महलमें आगये, चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया,

जो बाँदी जहाँ थी, वहीं नीचा सिर किये खड़ी रह गई। महाराजने किसीसे कुछ नहीं कहा, वे उनकी ओर बिना देखे ही निकल गये, पर आँखें किसीकी नहीं उठीं, यह दीनताका बोधक है।

दस सिपाही क़तारमें खड़े हैं, बेहद थके हुए हैं। सेनापति पूछ रहा है—कोई उस पहाड़ी पर जा सकता है ? १४ मीलकी चढ़ाई है, सिपाहियोंका साहसभंग हो गया, सिर नीचा हो गया। ऊँचा सिर करके एकने कहा—मैं जाऊँगा। सेनापतिने कहा—शामसे पहले पहुँचना है। सिपाहीका सिर नीचा हो गया, यह निश्चयकी शिथिलता है। माता-पिता और देवताके चरणोंमें सिर झुकाना भी लघुताकी स्वीकृति है और राजा मानसिंहका मुग़ल सिंहासनके सामने सिर झुकाना भी। उद्देश्य और भावनाने एकको पवित्रता दी है और दूसरेको हीनता। लज्जा, दीनता, साहस-भंग, अनिश्चय और लघुता ये मानवताका शोषण करनेवाली जोंकें हैं, जो हमारे व्यक्तित्वका रक्त चूसकर उसे खोखला बना देती हैं। इनसे हमें निरन्तर युद्ध करना है। इसी युद्धका नारा है 'सिर नीचा न करो।' इसी नारेका फलितार्थ है—'सिर ऊँचा रक्खो।'

ओह, विचारोंकी गंगामें कहाँसे कहाँ बह गया, बात तो इतनी ही है कि रात तकिया ऊँचा था।
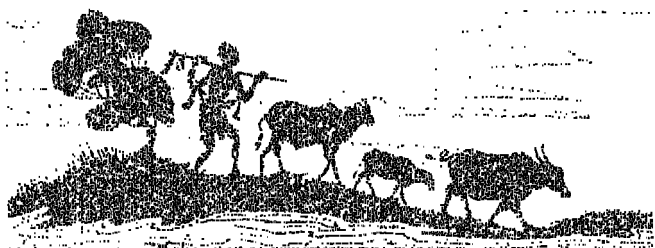
जी, आप तो अपने ही हैं !

बात मुँहसे कही जाती है, मुँहपर कही जाती है और मुँह देखकर कही जाती है। उस दिन याद है न आपको, उस मीटिंगमें मालवीयजी महाराज बोल रहे थे कि बिजली बुझ गई और बिजली गुप्प, तो माइक चुप्प; पर वाह क्या गला था मालवीयजीका और क्या फेफड़े कि उस उतनी बड़ी सभामें भी उनकी दहाड़ सबके कानोंतक पहुँचती रही। अरे भाई, सचमुच वे तो शेर थे अपने समयके !

बड़ा शानदार भाषण रहा उस दिनका और तालियोंकी गड़गड़ाहटसे आसमान गूंज-गरज गया, पर जब सभासे लौटे, तो याद है आपको चौधरी बलरामने रास्तेमें क्या कहा था ?

"हुँ, क्या कहा था ?"

वाह, सबसे ज्यादा तो ठहाका मारकर उनकी बातपर आप ही हँसे थे और आप ही भूल गये ! रास्तेमें हम सबलोग जलसेकी तारीफ़ें बाँधने लगे, तो चौधरी साहब बोले—"देखो जी, जहाँतक मालवीयजी महाराजके लैक्चरकी बात है, सो जो कहो थोड़ा है, पर जो जलसेकी बात पूछो, तो जमा तो खूब था, पर बिजलीने दालमें किरकल कर दी।" और तब अपनी बातपर स्वयं ही टीका-सी करते हुए चौधरी साहब बोले—"भाई, लाख लच्छे हों लैक्चरमें, पर जबतक बोलनेवालेका मुँह न दिखाई दे, मजा नहीं आता।"

चौधरी साहबके अनुभवकी छायामें ही, तो मैं कह रहा हूँ आपसे कि बात मुँहसे कही जाती है, मुँहपर कही जाती है, और मुँह देखकर कही जाती है। वैसे बात कही जाती है, मुँह फेरकर भी, पर वह बात होती है गुस्सेकी, ताने-तनाज़ेकी और लाज-शरमकी। बातचीत असलमें मुहब्बत-प्यारकी

राह-सड़क है और इसका गुस्से या ताने-तनाज़ेमें उपयोग ऐसा ही है, जैसे हथियार बने तो होंगे कभी अपनेको बचानेके लिए ही, पर आज हैं वे भयानक युद्धोंके महासाधन !

पर ख़ैर, जीवनमें गुस्सा भी है, प्यार भी है और हाँ, प्यार-मुहब्बतकी एक बात है वो, जो मुँह झुकाकर, आँखें नीची करके कही जाती है और दूसरी है वह, जो कही तो जाती है मुस्कराकर और शान्तिसे ही, पर उसका मन्शा होता है दूसरेको धोखा देना; निश्चय ही इस ढंगसे कि वह धोखा तो खाजाए, पर बुरा न माने !

आप तो जानते ही थे लाला रामसहायको ? हाँ, हाँ, वे ही मंगलपुरा वाले। पिछले साल बेचारे परमात्माको प्यारे हो गये, पर ख़ैर कोई दुखकी बात नहीं। ८३ वर्षकी उमर इस युगमें तो सवा शताब्दी है। संसारका सब सुख भोग लिया और सब कुछ छोड़ गये, ऐसी जिंदगी और मौत भगवान् सबको दे।

बड़े ही भले आदमी थे बेचारे लाला रामसहाय। मेरे बड़े भाईके विवाहकी बात है कि पिताजी एक परेशानीमें फँस गये। बात यह हुई कि भाईका रिश्ता जहाँ उन्होंने किया, वे पहलेसे अपने रिश्तेदार ही थे। कभी तो बेचारोंकी हालत ऐसी थी कि थानसे कभी गाय-भैंसें नहीं हटीं और दरवाजेसे घोड़ा, पर लक्ष्मी चंचला है। २-३ वर्ष हुए झटका खा गये और बस अब इज़्ज़त संभाले बैठे हैं। पिताजीसे उन्होंने कुछ छिपाया नहीं, पर पिताजीने सुना, तो उन्हें गलेसे लगाया और धीरज देकर कहने लगे—"ग़रीबी-अमीरी तो महाराज, आती-जाती लहरें हैं। लड़का आपका है और लड़की मेरी है। चार सेर चावल उबाल लेना सब काम हो जायेंगे। जाओ, फिकर मत करो।"

वे बेचारे बेफिकर हो चले गये, पर बात यह उन दोनोंके ही बीच रही और यहाँ एक झमेला खड़ा हो गया। पिताजीने अपने अन्दाजसे लोगोंको बारातमें चलनेको कहा, पर उनसे बिना पूछे चाचाजीने अपनोंसे

कह दिया और सबसे बड़े भाई साहबने भी। अब जो तीनों लिस्टें मिलाई गईं, तो कोई ढाई सौ नाम बैठे और अभी रिश्तेदार, घरवाले और नौधारी अलग !

इस शताब्दीके आरंभिक वर्षोंकी यह कहानी है। उन दिनों बड़ी लंबी बारातें चढ़ा करती थीं। जात-बिरादरी मेल-मुलाक़ातमें जिसे न टोको, वही बुरा मानता था। फिर मुसीबत यह कि गरमीकी मौसम और हरद्वारकी बारात, मुफ़्तमें तीर्थ-यात्रा; कौन चूकेगा इस पुण्य अवसरको और यों यह कोई ३०० आदमियोंका क़ाफ़ला तैयार !

पिताजीने लाला रामसहायसे अपनी परेशानी कही, तो वे हँस पड़े—"वाह पंडितजी, यह भी कोई परेशानीकी बात है। तीन-सौ-के-तीन-सौको टोक दूँ और आप चालीस चाहें तो चालीस और चार चाहें तो चार ही चलें।"

पिताजीने कहा—"यह तो ठीक है लाला रामसहाय, पर जात-बिरादरीके सब रूठ बैठें, तो क्या होगा ?"

उछलकर लालाजी बोले—"कोई रूठ गया, तो फिर हमारी बात क्या हुई ? बात तो तभी है कि रूठे कोई नहीं और जूतेमें पैर भी किसीका न पहुँचे।"

दूसरे दिन लाला रामसहाय पिताजीको लेकर निकले और पंडित अनोखेलालके घर पहुँचे। बिरादरीमें अनोखेलाल मशहूर अकड़ूख़ाँ थे। इधर उधरकी बात करके लालाजी उन्हें जगहपर लाये और बोले—"ये पंडितजी एक झमेलेमें फँस गये हैं। इसीलिए हम आपके पास आये हैं। आप तो अपने ही हैं, आपसे क्या छिपाव। आप जानें; हरेकसे तो ऐसी सलाह हो नहीं सकती।"

इस भूमिकाके बाद बोले—"हमने तो इन्हें यह सलाह दी है कि भाई अपनों-अपनोंके नाम काट दो। बात यह है अनोखेलालजी कि जिस ग़ैरका नाम काटोगे वही बुरा मानेगा। आप तो शहरके सबसे बुद्धिमान आदमी हैं, क्या राय है आपकी ?"

अपनेपनके इस रिश्तेपर नई वारनिश करते-से वे बोले—"राय बावन तोले पाव रत्ती ठीक है और सबसे पहले मेरा नाम छोड़ दो इसमेंसे।"

रामसहाय और पिताजी दोनों चिल्ला पड़े—"ना-ना यह कैसे हो सकता है, आपके चलनेसे तो हमारी शोभा ही है।"

ग़रज़ यह कि पंडित अनोखेलालका नाम कट गया और एक सप्ताहके बाद जो लिस्ट देखी तो उसमें ७५ नाम थे, क्योंकि लाला रामसहाय एक सप्ताहमें पिताजी, चाचाजी और बड़े भाई साहब, तीनोंके ही साथ घूमे और सबको बूटी पिला आये—"अजी आप तो अपने ही हैं" और यह बूटी इतनी कामयाब रही कि सब मान गये कि वे अपने ही हैं और फिर भी अपनेसे १०० कोस दूर रहे। बारातमें एक न जा सका।

तभी तो कह रहा हूँ आपसे कि प्यार-मुहब्बतकी एक बात है वो, जो कही तो जाती है मुस्कराकर और शान्तिसे ही, पर उसका मतलब होता है दूसरेको धोखा देना; निश्चय ही इस सफ़ाईके साथ कि वह धोखा तो खा जाए, पर बुरा न माने।

बारातकी इस घटनाके कोई ५० वर्ष बाद अभी उस दिन हमारे ही एक दोस्तने हमें यह घूँटी इस सफ़ाईसे पिलाई कि हम देखते रह गये।

शमशेर हमारा पुराना लंगोटिया। साथ रहे, साथ पढ़े, साथ घूमे, साथ काम किया। जाने कितने खेत हमने साथ नापे और कितनी सड़कोंकी धूल साथ चाटी, पर क़िस्मतकी बात कि पट्ठेने राजनीतिमें ऐसी छलाँग मारी कि देखते-देखते [illegible] बैठा नज़र आया। अखबारोंमें उसके [illegible] खुद एक बार अपने शहरमें आया, तो हम भी उससे मिलने गये। डाक बंगलेमें वह ठहरा था और क्या कहने उसकी शानके। चमकदार रंगीन वरदियोंके अर्दली अदबसे घूम रहे थे और मिलनेके लिए आये हुए बड़े लोग नम्बरवार बैठे थे। भला हमारा क्या नंबर, हमारा तो वह पुराना दोस्त था, पर अर्दलीने हमें भीतर घुसने नहीं दिया और कार्ड ले लिया।

बहुत देर हो गई किवाड़ ही न खुले। अर्दलीसे पूछा, तो बोला—"किसी खास दोस्तसे मुलाक़ात कर रहे हैं साहब। अभी उनके लिए चाय मंगाई है। वे चाय पी लें, तो आपका कार्ड दूँगा।"

हमने सोचा—हमसे बढ़कर उस गधेका और खास दोस्त कौन है, जिससे वह कमरेमें घुसा यों घुटुर-घूँ कर रहा है, पर हम अपनेसे सवाल ही पूछ सकते थे, कुछ जवाब तो दे ही न सकते थे। मन-मसोसे इन्तज़ार कर रहे थे। करते रहे।

कोई आध घंटे बाद अपने रोबीले मुँहको गर्वीला बनाये हुए कमरेसे ठाकुर नौनिहालसिंह निकले। वे भीतरसे निकले, तो मैं जैसे पहाड़से गिर पड़ा। मुझे याद आ गई वह सन्ध्या, जिसमें इन्हीं ठाकुर साहबने अपने गाँवमें जलसा करनेपर मुझे और शमशेरको अपने आदमियोंसे अपने सामने पिटवाया था। मैंने टटोलकर अपनी पसलियोंको देखा, तो आज भी उनमें उस मरम्मतकी कसक थी।

भीतर कमरेमें जाते ही जल-भुनकर मैंने शिकायत की, तो मुझे लिपटकार शमशेर साहब बोले—"अजी भाई साहब, आपकी क्या बात आप तो अपने ही हैं। इन लोगोंसे मैं इसलिए मिलता-जुलता हूँ कि पार्टीको इन लोगोंकी ताक़त मिलती रहे।"

सुनकर मुझे हँसी आ गई। मैंने मन ही मन कहा—क्यों भाई, यह लाला रामसहायका ५० वर्ष पुराना जुशाँदा तू मुझे पिला रहा है और तब वह बारातवाली बात ज्योंकी त्यों मेरी आँखोंमें घूम गई।

बात यह है कि हर पुस्तकमें एक भूमिका होती है, हर जलसेमें प्रमुख वक्ताके भाषणसे पहले कुछ गाने या कविता पढ़वानेकी प्रथा है और जो भी किसीके पास अपने किसी कामसे जाता है, पहले ऐसी बात करता है जिससे उसका मन बहले और वह प्रसन्न हो।

"भला यह क्यों?"

यह इसलिए कि हंडियामें दूध डालनेसे पहले हम उसे धोते हैं, पोंछते हैं, साफ़ करते हैं। बस यही बात है इसमें भी।

आप मेरी बात शायद पचा नहीं पाये, तो लीजिए, मैं उसे नये रूपमें आपसे कह दूँगा। पुस्तकमें भूमिका इसलिए लिखी जाती है कि पाठकके मनको वह पुस्तकके लिए एक जिज्ञासा दे दे, गाने और कविताएँ इसलिए कि उस भाषणके लिए जनता खिंच आये और मतलबकी बातसे पहले चिकनी-चुपड़ी इसलिए कि दूसरेका मन मुलायम हो। इसी तरह हंडियाकी धुलाई-सफ़ाई इसलिए कि उसकी खटास दूधको फाड़ न दे।

तो हम जब किसीसे कुछ ऐसी बात कहना चाहते हैं कि जो स्वयं हमारी निगाहमें ही ठीक नहीं है, तो उसके लिए हवा तैयार करते हैं, जिसमें वह बेठीक बात पच जाय। आप तो अपने ही हैं, इसका मतलब है कि आपपर मेरा विशेष अधिकार है। यहाँतक कि मैं एक अनुचित बात भी कहूँ, तो आपको वह माननी पड़ेगी और यह बात मैं आपसे इसीलिए तो कह रहा हूँ; वरना बात तो यह ऐसी है कि किसी ग़ैरसे कही जाय, तो वह लड़ पड़े—नाराज हो जाय !

अब बताइये कौन बेवक़ूफ़ है, जो इस दीवारको लाँघकर कहे कि नहीं साहब, मैं आपका अपना नहीं हूँ, मैं तो ग़ैर हूँ, और इसलिए नाराज हूँ। कोई इसके लिए तैयार नहीं है और इसलिए जेब कटती देखकर भी मुँह फेर लेनेमें ही भलाई दिखाई देती है।

आदमी आदमीको धोखा देता है यह सच है, पर इससे भी बड़ा सच यह है कि आदमी सबसे अधिक धोखा अपनेको देता है और उसका भी एक मन्त्र यही है—अजी आप तो अपने ही हैं।

"वाह, यह ख़ूब कही आपने कि यह अपनेको धोखा देनेका भी मन्त्र है !"

ओहो, ख़ूब और बेख़ूब क्या थी इसमें, यह तो एक खुली बात है और फिर खुली बेखुलीकी क्या बात; लीजिये, देख ही लो लीजिये।

भाई रघुनन्दनजी हमारे गहरे मित्र हैं। हमदर्दीके हिमालय, तो कामके कैलाश ! आपपर जान दे दें और अपनेको भूले आपके ही काममें जुटे रहें, पर मुसीबत यह है कि ब्रह्माजीने किसीको भी बिना अधूरा किये नहीं छोड़ा। बेचारे रघुनन्दनजी भी ज़रा पेटके पतले हैं, बात पेटमें खपती नहीं है। कहीं किसीकी कुछ सुनें, चारसे कहे बिना चैन नहीं पाते।

उस दिन मेरे पड़ौसी रामशरणजीके यहाँसे आये, तो मेरे पासको सरक-कर और अपनी बुलन्द आवाज़को खुद ही धीमी करके बोले—"भाई साहब, आप तो अपने ही हैं, आपसे क्या छिपाव, किसी औरसे तो मैं कह नहीं सकता, पर आप तो अपने ही हैं। सुना है आपने कि पुलिसको यह पता चल गया है कि रामशरण चोरोंसे माल खरीदकर धन कमाता है और अब वह उसके पीछे पड़ी है।"

मैंने उन्हें धमकाया कि क्यों अपनी आदतके अनुसार तुम दूसरोंकी बातें इधर-उधर उड़ाते फिरते हो, तो बोले—"मैं किसी औरसे थोड़े ही कहता फिरता हूँ। बस आपसे कहा है और आप तो अपने ही हैं।"

मैं जानता हूँ कि रघुनन्दनजी लाख कहें, मेरी कोई बात वे जान लें, तो उसे भी घर-घर गायेंगे और उन सबको अपने बनाते फिरेंगे। बात यही है कि अपना दोष अपनेसे छिपानेके लिए वे इस मन्त्रका जाप करते हैं।

इंसान, एक अजीब जानवर, जो दूसरोंको ही धोखा नहीं देता, स्वयं अपनेको भी धोखा देता है और यह सब इस सफ़ाईके साथ कि धोखेकी चोट इतनी गहरी न हो जाय कि आदमी उफन पड़े और उसे सहनेसे इन्कार कर दे।

और हाँ देखिये, ये सब किसीसे कहनेकी बातें नहीं हैं, फिर भी आपसे कह रहा हूँ, क्योंकि आप तो अपने ही हैं।

वे दो चेहरे : एक देखा, तो दूसरा अनदेखा

कुम्भमें, कुछ लोग कहते हैं बीस पच्चीस लाख आदमी आये थे और कुछ कुछकी राय है पन्द्रह-बीस लाख, दोनोंमें किसकी राय ठीक है, मैं नहीं जानता, पर इतना जानता हूँ कि दस लाखसे कम आदमी वहाँ नहीं थे।

दस लाख आदमियोंके दस लाख चेहरे और कमाल यह कि दसके दस लाख चेहरे एक दूसरेसे अलग। क़ुदरतका यह सचमुच कमाल ही है कि दुनियाका हर चेहरा एक दूसरेसे भिन्न है और उसके गलेकी आवाज़ भी।

क्यों जी, अगर दुनियामें हर आदमीका चेहरा और आवाज़ एक ही तरहकी होती, तो क्या होता ?

होता क्या, एक घपला मच जाता, कोई किसीको न पहचानता और तब आदमियोंकी हालत भी जानवरों जैसी हो जाती कि मिले-मिले, न मिले तो न मिले। सचाई यह है कि तब दुनियामें सभ्यताका जन्म ही न होता।

और लो, यहीं एक बात बताऊँ आपको ! बात क्या है ज्ञानका भण्डार है कि यदि क़ुदरत हर आदमीका चेहरा और आवाज़ अलग न बनाती, तो सभ्यताका जन्म ही न होता, इस बातका असली मतलब यह हुआ कि अनेकता, विविधता और एकसे दूसरेकी विचित्रताके कारण ही संसारमें सब प्रकारकी उन्नतियाँ हुई हैं।

देखते नहीं आप कि चेहरों और स्वरोंकी भिन्नतासे भी दुनियाका काम नहीं चला और उसने और एक भिन्नताको जन्म दिया। वह भिन्नता है नामोंकी। इस तरह अब सिर्फ चेहरा और आवाज ही एक दूसरेसे भिन्न नहीं, नाम भी भिन्न है।

इससे कार-व्यवहारमें सुभीता होता है इसमें सन्देह नहीं, पर एक बात है कि इससे आदमीकी एक परेशानी भी बढ़ गई है और वह परेशानी है इन चेहरोंको याद रखनेकी। हर चेहरा अलग, हर आवाज़ अलग, हर नाम अलग; अब आदमी कैसे किसीको याद रखे !

न रखे याद, क्या कोई जरूरी है हर देखे चेहरेका याद रखना ? बात ठीक है, पर याद न रखनेसे भी तो काम नहीं चलता। अक्सर ऐसा होता है कि इस याद न रखनेसे बड़ा झमेला खड़ा हो जाता है !

अभी उस दिन एक सज्जन मेरे कार्यालयमें धमाकेके साथ आकर खड़े हो गये। हँसीकी बात नहीं, सचमुच धमाकेके साथ और लगे हैलो-हैलो करने, जैसे मेरे कोई लंगोटिया यार हों ! अब वे उँडेले डाल रहे हैं दोस्तीके लच्छे और मैं सकपकाया हुआ कि हे भगवान्, यह आखिर है कौन !

स्मृतियोंके मस्तकपर मैंने जाने कितने चक्कर काटे, यादका घोड़ा जाने कहाँ कहाँ घूम आया, पर उनका अता पता ही न हाथ लगा। रिश्तेदारोंकी सारी लिस्ट भीतर ही भीतर कई बार खदरोल डाली, दोस्तोंकी बहीके पन्ने-के-पन्ने उलट गया, पर उनका नाम कहीं दिखाई न दिया। स्कूल-कालेजमें तो कभी पढ़नेका मौक़ा ही जीवनमें न आया, इसलिए क्लास-फ़ेलोकी सूची मेरे पास कहाँ होती, पर हाँ, पिछले सालोंमें २--३ बार जेल काटना क़िस्मतमें लिखा था, इसलिए जेल-फ़ेलोंकी लिस्ट दिमाग़में है, उसे भी टटोल गया, पर ये हज़रत कहीं उसमें भी दिखाई न दिये।

अब हाल यह है कि वे उफ़ने पड़ रहे हैं और मैं बच-बचकर बातें किये जा रहा हूँ, पर देखता हूँ उनका सामान भी मेरी मेजके सामने ही रखा है—कई छोटी बड़ी अटैचियाँ, बड़ा-सा बिस्तर, खानेकी टोकरी, थर्मस और और भी बहुत कुछ।

सोचा—यह जांगलू कहाँसे आ कूदा है, यह पता चले, तो शायद

अन्दाजकी बेल फैले और पूछा—"कहिये जनाब, इस साजो-सामानके साथ कहाँसे आ रहे हैं ?"

बोले—"मसूरी गया था। वृक्षशास्त्रमें मेरी दिलचस्पी है। तुम्हारे शहरका कम्पनीबाग़ देखना था। सोचा—तुमसे भी मुलाक़ात हो जायगी, बहुत दिन हुए मिले और बाग़ भी देख लूँगा। बस इधरसे निकल आया।"

साफ़ है कि मेरा यह निशाना भी ख़ाली गया। तब मैंने दूसरा साधा और पूछा—"तो घर पहुँचनेसे पहले और कहाँ-कहाँके बाग़ देखने हैं ?"

बोले—"बस, अब तो सीधा बीकानेर ही जाऊँगा, बहुत दिन हो गये घरसे निकले।"

इस जवाबसे इतना तो पता चला कि ये बाबूजी बीकानेरके निवासी हैं, पर मुझे इसी जन्ममें कहीं मिले थे या पहले जन्मकी मुहब्बत इन्हें यहाँ खींच लाई है, यह मसला अब भी एक रहस्य ही रहा।

मेरे बेटेने यह बात ताड़ ली और मैं उठकर बाहर गया, तो उसने इस रहस्यका भेद खोल लिया कि ये महाशय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके किसी अधिवेशनमें मुझे मिले थे और वहाँ हम दोनों साथ रहे थे, एक ही कमरेमें या पास-पासके कमरोंमें।

ख़ैर, इज़्ज़त बच गई, बात बिगड़ते-बिगड़ते रह गई और अब मैं उनसे खुलकर बातें कर सका, पर चेहरेको याद रखनेका मसला तो इससे हल नहीं होता, क्योंकि न तो ऐसा होशियार बेटा ही भगवान्‌ने सबको दिया है और न मैं अपने बेटेको अपना 'चेहरा-पहचान-मन्त्री' बनाकर हर समय अपने साथ ही रख सकता हूँ।

फिर यह भी तो नहीं कि चेहरा पहचाननेकी ज़रूरत मेरे कार्यालयमें ही पड़ती है। उस दिन रेलमें वे देहाती सज्जन मिल गये और मिलते ही बोले—"मौसाजी, नमस्ते !" मैं नहीं जानता कि मौसाके जोड़-तोड़ क्या हैं और कौन-कौन किस किसका मौसा होता है, फिर भी कहना पड़ा—नमस्ते भैया !

कहना पड़ा और कह भी दिया, पर बातचीतकी गाड़ी हमारे देशमें यों ही तो नहीं रुक सकती ! वे बोले—"मौसीजी तो अच्छी हैं ?"

अब मैं क्या जवाब दूँ उन्हें, क्योंकि यदि मौसीजीका अर्थ मौसाजी की पत्नी ही है, तो उस सौभाग्यवतीको स्वर्ग सिधारे बरसों बीत चुके, पर स्वयं पत्नी-विहीन होकर भी मैंने उन्हें मौसी-विहीन करना उचित न समझा और कहा—"जी, आपकी कृपासे सब कुशल हैं।"

बोले—"फिर तो आपके दर्शन ही नहीं हुए ! हमारे यहाँ तो आपको हमेशा याद करते रहते हैं !" मैं वह पड़ा था, तो बहना ही था, कहा—"यह सब आपकी कृपा है।"

गाड़ी धीमी पड़ी, वे उठ खड़े हुए। चलते-चलते बोले—"अगली तीजों पर जरूर आना मौसाजी और मौसीजीको भी जरूर साथ लाइयो !"

वे चले गये, पर मैं सोचता रहा कि आज मैं यों किसका मौसाजी बन गया और अगली तीजों पर मुझे किसका आतिथ्य ग्रहण करना है ? पता नहीं वे बेचारे चेहरोंकी वैरायटी शोमें घूम रहे थे या मैं ही नालायक मौसा निकला कि उनके चेहरेकी याद न रख सका !

कुछ भी हो चेहरोंका चक्कर बड़ा विकट है और देखे हुए चेहरोंको याद रखना आसान नहीं, पर यह कैसी बात है कि चेहरोंकी इस भूलभुलैयामें कुछ ऐसे भी चेहरे हमारे सामनेसे गुज़रते हैं कि उन्हें भूलना फिर हमारे बसकी बात नहीं होती—वे आँखोंकी राह शायद हमारे दिलों पर नक्श हो जाते हैं, खुद जाते हैं कि बिना चाहे और बिना कोशिश किये भी हमें याद आते रहते हैं और भले ही हम भुलक्कड़ हों और उन्हें भी भूल जाते हों, जिनके हम नक़द मौसाजी हैं, पर उन्हें भूल नहीं पाते !

ऐसे ही दो चेहरोंकी कहानी मैं आज आपको सुनाना चाहता हूँ। शायद आप भी उन्हें भूल न पायें !

हमारे नगरके हाईस्कूलमें एक प्रधानाध्यापक आये, तो उनका नाम जनताके लिए पड़ गया—बंगाली हेडमास्टर ! बात यह है कि वे बंगालके

निवासी चट्टोपाध्याय थे, पर थोड़े दिनोंमें ही उनका नाम बदल गया और उन्हें सब कहने लगे---झुनझुनेवाला हेडमास्टर !

झुनझुना एक छोटा-सा खेल जो गोदके बच्चोंको चुप करनेके काम आता है क्योंकि हर झुनझुनेमें एक आवाज़ होती है---झुन-झुन-झुन और बच्चोंका मन उसमें उलझ जाता है। झुनझुनेवाला हेडमास्टर, भला यह नाम हमारे उन हेडमास्टर महोदयका क्यों पड़ गया ?

प्रश्न उचित ही है, क्योंकि सभी जानते हैं कि हाईस्कूलमें दूध पीते बच्चे तो पढ़ते नहीं कि प्रधानाध्यापकजीके लिए झुनझुना जेबमें रखना भी एक ज़रूरी जिम्मेदारी समझी जाये कि बालक कुनकुनाया और उन्होंने खनखनाया ! फिर किसी हाईस्कूलके हेडमास्टरका यह लोक-नाम क्यों, कैसे ?

बात यह थी कि हमारे हेडमास्टर साहब ज़रा टिपटॉप आदमी थे ! वे इस बातको बहुत नापसन्द करते थे कि जो चीज़ उन्होंने जहाँ रख रक्खी है, उसे कोई इधर-उधर सरका दे और हमारे यहाँ ऐसे आदमी बहुत कम हैं जो चीज़को देखकर ज्योंकी त्यों रख सकें, तो बस जहाँ किसीने चट्टोपाध्याय जीकी चीज छुई कि वे छछूँदर हुए !

अन्दाज़न ऐसा मालूम होता है कि वर्षों यह प्रयत्न करने पर भी कि लोग उनकी चीजें न छुएँ और छुएँ तो ज्योंकी त्यों रख दें, जब उन्हें सफलता न मिली, तो उन्होंने झुनझुनेका आविष्कार किया।

झुनझुनेका आविष्कार ? हाँ जी, झुनझुनेका आविष्कार ! देखिये, मेरा मतलब यह न समझिये कि मैं यह कह रहा हूँ कि झुनझुना इस देशमें था ही नहीं। [illegible] ही खोज निकाला। मेरा मत-लब यह है कि [illegible] प्रयोग आरम्भ किया !

उन्होंने एक बहुत ख़ूबसूरत प्लास्टिकका बना जापानी झुनझुना खरीद लिया। तीन उसमें घुंघरू और तीन ही रंगीन रिबन ! अब झुनझुना उनकी मेज़की दराजमें और वे काममें लीन। स्कूलके एक बालकका

पिता उनके पास आया कि मेरे लड़केकी फ़ीस माफ़ कर दीजिए। उन्होंने क्लर्कको बुलवाया कि वे स्थिति समझें, इतनेमें वे सज्जन उनकी मेज़ पर रक्खे पेपरवेटको उठाकर यों ही देखने लगे ! पेपरवेट एक पेपरवेट, फिर उसका उठाना क्या, देखना क्या, पर आदत हम लोगोंकी।

बस उन्होंने पेपरवेट उठाया कि चट्टोपाध्यायने दराज़ खींचा, वह झुन-झुना निकालकर उनकी ओर बढ़ाया—"लीजिए, इससे खेलिए, वह तो एक मामूली पेपरवेट है !"

अब एक अजब दृश्य कि मेज़के इधर प्रधानाध्यापक चट्टोपाध्याय और उधर वे सज्जन। चट्टोपाध्याय उनकी ओर अपना झुनझुना अंगुलियों-में निहायत नज़ाकतके साथ थामे कह रहे हैं—"लीजिए, इससे खेलिए !" और वे सज्जन भौंचक और झेंपे हुए, पर हमारे चट्टोपाध्याय अभी नहीं मानेंगे और अपनी बात नये-नये रूपोंमें दोहराये जायेंगे—"हाँ हाँ, लीजिये भी, इसमें शरमानेकी क्या बात ? अरे साहब, आप तो नाहक़ शरमा रहे हैं, लीजिए, ज़रा दिल बहलाइये। हाँ जी, बूढ़े और बालकका दिल एक-सा होता है और झुनझुना दोनोंके कामकी चीज़ है ! लीजिये शौक़ फ़रमाइए। ज़रा बजाइये तो तालके साथ, इसमें खेल और संगीत दोनों हैं।"

चट्टोपाध्याय यह सब बारी-बारीसे कहे जा रहे हैं और नये-नये ढंगसे झुनझुना भी बजाते जाते हैं। वे बढ़ रहे हैं, नये नये तरहका मुँह बना रहे हैं और सामने वाला इस हालतमें है कि न पेपरवेट नीचे रख पा रहा है, न कुछ कह ही—बस झेंपमें डूबा शायद सोच रहा है कि हे भगवान्, आज कहाँ आ फँसा !

बस चट्टोपाध्यायने दो-चारको ही अपने झुनझुनेसे खिलाया था कि वे बंगाली हेडमास्टरसे झुनझुनेवाला हेडमास्टर हो गये। उन्हें हमारे नगरसे गये तीसों वर्ष गुज़र गये, पर जब भी कोई मेरी मेज़की चीज़ोंको ख़ामख़ा छूता या इधर-उधर करता है, उनका चेहरा मुझे याद आ जाता है और मैं अनुभव करता हूँ कि वे इस आदमीको अपना झुनझुना दिखाकर कह रहे

हैं—"हाँ, हाँ, लीजिए शौक़ फ़र्माइये। अरे साहब आप तो नाहक़ शर्मा रहे हैं, लीजिये रा दिल बहलाइये।"

मेरा खयाल है कि देखे विना ही हमारे हेडमास्टरका चेहरा अब आपको भी अक्सर याद आया करेगा।

सचाई यह है कि इस दुनियामें जहाँ हर चेहरेकी रंगत अलग है, चेहरोंको याद रखना बहुत मुश्किल है, पर कुछ चेहरे ऐसे हैं कि हम उन्हें याद रखना चाहें या न चाहें, उन्हें हम भुला ही नहीं सकते। ऐसा मालूम होता है कि आँखोंकी राह हमारे हृदय पर वे अपना शासन जमा लेते हैं। ऐसे एक चेहरेकी कहानी अभी मैं आपको सुना रहा था। लीजिये, इस दूसरी कहानीमें एक और कमाल है कि यह जो दूसरा चेहरा मुझे अक्सर याद आता है और जिसे मैं भुला नहीं पाता, उसे मैंने कभी देखा नहीं है।

"वाह, जो चेहरा आपने देखा ही नहीं वह आपको याद कैसे आता है?" प्रश्न ठीक पर उसका उत्तर मैं दे तो चुका हूँ कि यह एक कमाल है, सचमुच यह एक कमाल है, पर ऐसा कमाल नहीं कि समझ ही न आये। लीजिये, आप यह कहानी सुन तो लीजिये।

मेरे नगरमें एक ढाबा है। कभी-कभी मुझे भी वहाँ रोटी खानेके लिए जाना पड़ता है। पिछली लड़ाईके दिनोंकी बात है—मौसम सर्दीकी थी। मैं एक दिन वहाँ तक गया, तो ढाबे वाले पंडित जी परेशान थे और किसीको लगातार गालियाँ दे रहे थे। उनके हावभावसे मैं जान गया कि जिसे गालियाँ दे रहे हैं, वह इस समय उनके सामने नहीं है। मामलेको समझनेके ख्यालसे मैंने पूछा—"क्या बात है पंडितजी, किस पर नाराज हो रहे हो?" बोले—"तीन चार दिन हुए, एक नौकर रक्खा था, आज चोरी करके भाग गया।" और फिर उसके नाम पर उन्होंने बहुत-सी गालियाँ दे डालीं। मेरे साथ भी बहुत बार ऐसा हुआ है और मैं जानता हूँ कि लोग जिस थालीमें खाते हैं उसीमें छेद करते हैं। मनुष्यका स्वभाव विश्वासी। विश्वास करता है और ठगा जाता है।

घटनाको पूरी तरह जाननेके लिए मैंने पूछा—"कहाँ हो गई चोरी ?" जवाब मिला—"अजी, चोरी क्या हो गई, कमाल हो गया। मैं सुबह शौच गया और कुएँ पर नहाया, बस इतनी देरमें जाने कैसे बदमाशने आलमारी खोल ली और चम्पत हुआ।" इतनेमें कितीने पूछ लिया—"बिस्तर-बिस्तर तो नहीं ले गया भाई ? आज-कल तो कपड़ा मिलता भी नहीं।"

जवाब मिला—"मैंने सुसरेको कपड़े दिये ही कहाँ थे, जो ले जाता। एक बोरी दे रखी थी, उसपर पड़ रहता था और अपनी चादर ऊपर लपेट लेता था।"

जवाब सुनकर मुझे बिजली-सी छू गई। मैंने अपने कपड़े गिने—बनियान, स्वेटर, गर्म कुरता, वण्डी। मैं दिनमें चार कपड़े पहने हुए था और वह लड़का दिसम्बरकी रातमें एक चादर लपेटकर सो जाता था। उसे कैसी मीठी नींद आती होगी !!!

तभी आ गया पंडितका लड़का—वह पुलिसमें रिपोर्ट लिखाने गया था। पंडितजीने उससे पूछा—"अरे भाई, आलमारी खोलकर देख तो, कितने रुपयेकी चपत लगी ?"

लड़केने आलमारी खोली, हिसाबका पर्चा देखा और तब कहा—"बापू, इसमें २६) थे अब १५) हैं। कम्बख्त ग्यारह रुपये ले गया।" यह सुना तो एक नया सवाल खड़ा हो गया कि जब उस लड़केने आलमारी खोल ही ली, तो वह ग्यारह रुपये ही क्यों ले गया ? ये बाक़ी पन्द्रह रुपये लेनेमें उसे क्या दिक़्क़त थी ?

इससे एक दिन पहले ही मैं अपने पास रहते एक लड़केके लिए ११) में कन्ट्रोलका एक कम्बल खरीदकर लाया था। अचानक मेरे मनमें आया कि क्या उस लड़केने कम्बलके लिए ही ग्यारह रुपये निकाले ?

मैं खाना खाकर कन्ट्रोलकी दूकानपर गया, तो पता चला कि आज एक दम सुबह फटे कपड़ोंमें एक लड़का कम्बल खरीदकर ले गया है। मेरा

अनुमान अब विश्वासमें बदल गया और यह घटना मेरे लिए अब एक ग़रीब, अनपढ़ और असहाय भारतवासीके चरित्रका नमूना हो गई।

अब जब भी कहीं किसी चोरी या चोरकी चर्चा चल पड़ती है मुझे उस लड़केका अनदेखा चेहरा याद आ जाता है और आप ही मेरा सिर उसके प्रति सम्मानसे झुक जाता है। क्या आप इस चेहरेको कभी भूल सकेंगे ?

ओह, याद ही न रहा !

मेरे एक मित्र हैं जिन्दल साहब। हाँजी, साहब ही समझिये उन्हें ! आज तो अंगरेज़ चले गये हैं और हर भारतीय उनका उत्तराधिकारी—वारिस है, पर जिन्दल साहब उन दिनों भी अंगरेज़ोंके गोद लिये बेटे थे, जब १५ अगस्तका स्वप्न कुछ पागलोंको छोड़ किसीकी भी आँखमें न था !

"हूँ, हूँ; अंगरेज़ोंने अपने संपर्कसे सचमुच एक ऐसा वर्ग बना लिया था, जो नाम-रूपमें भारतीय होकर भी मानसिक दृष्टिसे अंगरेज़ ही था और अंगरेज़ भी गुणोंमें नहीं, दुर्गुणोंमें और हमारी नज़रसे उसका सबसे बड़ा दुर्गुण यह कि अपने देशके हितोंके विरुद्ध वह अंगरेज़ी राज्यका समर्थक ! उन्हींमें से एक होंगे ये आपके मित्र जिन्दल साहब ?"

ओह हो, बड़ी खराब आदत है आपमें ! मेरी बात पूरी हुई नहीं और जड़ दिया यह प्रश्नका लम्बा पुछल्ला ! अरे साहब, बातचीतका क़ायदा यह है कि दो सुननेके बाद एक कहे, पर आपका क़ायदा शायद यह है कि आधी सुनें और ढाई कहें। तभी तो लोग-बाग आपसे बातें करते कतराते हैं, कन्नी काटते हैं और कहते हैं कि आपसे बात करना तो झाड़ीमें उलझना है !

मेरे मित्र दुर्गुणोंमें नहीं, सद्गुणोंमें अंगरेज़ोंके वारिस हैं। समयके पाबन्द, जीवनमें व्यवस्थाके पूरे हामी। आप उन्हें ७ बजे सभामें बुलायें, तो पौने ७ बजे अपनी मोटरमें बैठे नजर आयेंगे और ड्राइवर मोटरको तेज़ हाँकदे और वह सभाके दरवाज़ेपर दो मिनट कम ७ बजे पहुँच जायें तो मेरे मित्र दो मिनटतक मोटरमें ही बैठे रहेंगे और ज्यों ही बड़ी सुई बारहको छूती-सी दिखाई देगी कि वे अपनी चादर संभालते हुए उतरेंगे और सभा

भवनमें प्रवेश करेंगे। बहुत बार ऐसा होता है कि जब वे सभा-भवनमें प्रवेश करते हैं, तो तबतक वहाँ उन्हें बुलाने वाले मन्त्रीजी भी नहीं पहुँचे होते, पर उन्हें इससे कोई मतलब नहीं—वे कहते हैं कि निमन्त्रणके समयपर पहुँचना हरेक निमन्त्रितका कर्तव्य है। बुलानेवालेकी ज़िम्मेदारी है कि वह समयसे पहले पहुँचकर सभाकी व्यवस्था करे, पर यदि दूसरे लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाते तो मैं देरसे पहुँचनेकी ग़ैर-जिम्मेदारी क्यों करूँ ? और अन्तमें वे अपनी सफ़ेद चादरको चतुरतासे संभालते-संवारते-से कहते हैं अरे भाई, दूसरोंको देखकर मैं अपनी आदत खराब नहीं कर सकता !

समझे आप, ऐसे हैं मेरे मित्र ज़िन्दल साहब, पर मेरी बात अभी पूरी नहीं हुई, आप सुनते रहिए। मुझे डर है कि आप फिर कहीं बीचमें ही न टपक पड़ें। मैं एक दिन उनके घर बैठा बच्चोंसे बातें कर रहा था कि वे कहींसे झपटे-सपटे-से आये। आदत है उनकी यह कि आयेंगे आन्धी-से और जायेंगे हाथीसे। आये, तो श्यामाजीने कहा—आज शामको ६ बजे कहीं न जाइयेगा।

अपने गपोलू चेहरेपर उगी नन्हीं मूछोंतक मुस्कराहटकी रेख खींचते हुए-से बोले—"क्यों क्या बात है ? सिनेमा चलनेका प्रोग्राम मालूम होता है ?"

अपने चुन्नू-मुन्नूकी तरफ़ देखते हुए श्यामाजीने कहा—"यहाँ तो चौबीस घंटे अपना ही सिनेमा नहीं सिमटता, दूसरा सिनेमा देखने कहाँ जायें !"

मैंने बातको नया रंग देते हुए पूछा—"तो इस सिनेमाके डायरेक्टर आप ही मालूम होते हैं ?"

बहुत गंभीर-सा मुँह बनाकर बोले—"जी, पिछले १५ वर्षोंमें तो मैं ही था, पर जिस दिन भारतकी विधान-परिषद्‌ने यह पास किया कि नर-नारीके अधिकार समान होंगे, श्रीमतीजीने झपटकर अगले १५ वर्षोंके लिए यह पद मुझसे ले लिया है !"

हम लोग हँस पड़े, तो मित्रने अपनी पत्नीसे पूछा—"अच्छा, तो शामको घरसे बाहर न निकलनेकी क़ैद क्यों लगाई गई है?"

"क़ैद क्या होती, आज शामको आलूकी पीठीके परांवठे बनानेका प्रोग्राम है। साथमें आलू मटरकी सब्ज़ी, धनियेकी चटनी, गाजरका अचार और बथुवेका रायता रहेगा। गरम गरम खाना। और क्या होता, यही बात है!"

मेरे मित्रने तभी अपनी डायरी देखी और भड़भड़ाये-से एकदम बोले—"ना, ना, आज हम शामको नहीं रह सकते। आज तो हमें सेठजीके यहाँ दावतमें जाना है!"

आलूके परांवठोंका प्रोग्राम समाप्त हो गया और उसके साथ ही हमारी परांवठे खानेकी उम्मीद भी खत्म हुई। हम अपने घर चले आये।

दूसरे दिन प्रातःकाल रामलीला कमेटीके चुनावके सिलसिलेमें हम अपने मित्रके घर पहुँचे, तो छूटते ही श्यामाजी बोलीं—"भाई साहब, कल तो गाड़ी छूट गई और बाबूजी प्लेटफ़ार्मपर खड़े रह गये!"

क्या हुआ भाई, कौनसी गाड़ी छूट गई और कौनसे बाबूजी खड़े रह गये? मैंने पूछा, तो हँसते-हँसते वे बोलीं—"हमारे बाबूजी मटरगश्तीमें कल सेठ साहबजीकी दावतमें जाना भूल गये। मुझे ख़याल था कि वे ६ बजे लौटेंगे, मैं खाना-दाना कर, ताला लगा, एक विवाहमें चली गई। ६ बजे लौटी तो देखा, बाबूजी अपनी चादर संवारे दरवाज़ेके सामने इधरसे उधर और उधर से इधर ऐसे घूम रहे हैं, जैसे जेलके बाहर सन्तरी घूमता रहता है। मालूम हुआ कि पेटमें चूहे कूद रहे हैं। जल्दी जल्दी चूल्हा जोड़ा और तब कहीं १० बजे जाकर आंतोंको ४ गस्से मिले।"

बातचीत खत्म हुई और हम दोनों उठ चले, पर हम दरवाज़के बाहर निकले ही थे कि क्या देखते हैं, सामनेसे अपनी नई मोटरमें बैठे सेठ जी चले आ रहे हैं। मेरे मित्र मोटर देखते ही सुन्न हो गये और बोले—"लो अब आई आफ़त, बेभावके पड़ेंगे। सेठजीने मुझसे पूछकर दावतकी तारीख रक्खी

थी और वहाँ मुझे मान्य अतिथियोंका परिचय नगरके मित्रोंसे कराना था—पता नहीं कल वहाँ कैसी भद्द हुई होगी ?"

मित्रकी बात बीचमें ही थी कि कार उनकी बग़लमें आ लगी और दरवाजा खोल सेठजी नीचे उतरे। मेरे मित्रके काटो, तो खून नहीं, पर संकटकी पराकाष्ठा सूझकी जननी है। मेरे मित्र इन पलोंमें मोर्चेके लिए तैयार थे। सेठजीकी तरफ़ हाथ बढ़ाते हुए बोले—"आपकी उम्र बहुत होगी। मैं अब आपको टेलीफ़ोन कर पूछने ही जा रहा था कि शामकी दावतके लिए किसी चीज़की ज़रूरत हो, तो भेज दूं ?"

सेठजीने विस्मयसे पूछा—"कैसी शामकी दावत मियाँ ?"

मेरे मित्र भी विस्मयकी मुद्रामें ही बोले—"आज शामको आपके यहाँ दावत है न ! क्यों कैंसिल हो गई क्या, पर मुझे तो कोई सूचना नहीं मिली ?"

सेठजी बोले—"जनाब, पी तो नहीं ली; हमारे यहाँ तो दावत कल शाम थी। आपके न आनेसे सब चौपट हो गया। आप थे कहाँ ? हमने मोटर भेजी, तो घरमें ताला लगा था। सारे सिनेमा हाल छान मारे, पर कहीं पता नहीं। आखिर तुम जा कहाँ मरे थे !"

मेरे मित्र जैसे अचानक छतसे गिर पड़े और एकदमसे ऐसे बोले जैसे पैरके नीचे जला कोयला आजाये—"एं ! कल थी आपके यहाँ दावत ?" फिर ज़रा संभलते-से बोले—"नहीं नहीं, दावत आज शामको है, यह आपने खूब बनाया मुझे !"

सेठजी अपने दिलकी दुखनको गलेमें घोलते हुए-से बोले—"आप मज़ाक़ बताते हैं, सचमुच कल मैं बहुत परेशान हुआ !"

मेरे मित्र उस दुखनको अपनेमें लेते हुए-से बोले—"सचमुच यह अजीब ग़लत-फ़हमी हुई।"

सेठजीके दिल दिमाग़पर मुहर-सी लगाते हुए मेरी तरफ़ देखकर मेरे मित्र बोले—"मैं अभी भाई साहबसे कह रहा था कि रामलीला कमेटीके

कामसे आप मुझे जल्दी छुट्टी दे दीजियेगा। शामको सेठजीके यहाँ दावत है और मुझे ३-४ घंटे पहले पहुँचना है वहाँ!"

सेठजीने मेरी तरफ़ देखा। यह बिना कचौरियोंके झूठी गवाही देना था। मुझे जोरसे हँसी आगई, पर मेरे मित्रने गजबका पैंतरा काटा। मेरे कन्धेपर हाथ मारकर बोले—"हाँ भाई साहब, हँसीकी तो यह बात ही है कि मैं १० अप्रैलको ११ अप्रैल समझता रहा।"

मेरे मित्रने अब ऐसा मुँह बनाया कि आज तक शायद ही किसी अभिनेत्रीने विधवाका अभिनय करते समय वैसा बनाया होगा। उस चेहरेसे खिन्न होकर सेठजी बोले—"अरे भाई, दुखी होनेकी इसमें क्या बात है? भूल चूक तो आदमीके साथ ही लगी हुई है।"

मामला निमटा, सेठजी मोटरमें चले और हम आगे बढ़े! मेरे मित्र अब बहुत प्रसन्न थे और मैं उनकी प्रसन्नताका रस ले रहा था।

कुछ आगे बढ़े, तो मेरे मित्र बोले—"कहिये कैसी रही? आपने तो हँसकर चौका ही लगा दिया था, पर मैंने भी वो तरह दी कि गुड़ गोबर होनेसे बच गया या यों कहिए कि गोबर ही गुड़ हो गया!"

मैंने कहा—"गुड़ तो गोबर होनेसे वाक़ई बच गया, पर प्रश्न तो यह है कि इस सब मायाचारीकी जरूरत ही क्या थी, आप साफ़ कह देते कि भाई, भूल गये हम, माफ़ कीजिए।"

मित्र बोले—"आप आजके समाजको नहीं जानते। सच बोलते ही उनका मुँह लटक जाता या भौंहें चढ़ जातीं और उसका हमारे संबंधोंपर भी प्रभाव पड़ता। अब वे भी खुश हैं और हम भी खुश। सबकी खुशीका यह सीधा रास्ता छोड़कर, मैं सबकी नाराजीका बीहड़ पथ क्यों चलूं?"

मैंने कहा—"आपकी बातमें सचाई है, मानता हूँ। फिर भी सत्य इतनी छोटी चीज नहीं है कि हम उसे इस-उसकी नाराजगियोंके मोल बिखेरते फिरें। मेरे सामने यह मसला बहुत बार आ चुका है। आप जानते हैं कि मैं बराबर बीमार रहा हूँ इधर, उससे मेरी स्मृति जरा कमजोर हो गई है।

अपनी कमीको देखते हुए मैंने तो एक नियम बना लिया है कि निमन्त्रणपर जानेकी याद जहाँ भूली कि बस तुरन्त एक पत्र निमन्त्रण भेजनेवालेको खेंचा कि भाई भूल गये थे हम, क्षमा चाहते हैं और जो जगह कहीं आस पास ही हुई, तो स्वयं आ धमके और कहा कि भाई, कल तो दिमाग़ धोखा दे गया और हम गधेके सींगकी तरह नदारद रहे, पर अपना अधिकार हम नहीं छोड़ सकते। लाओ खिलाओ-पिलाओ कुछ बचा-खुचा। बस जम गये और खा-पीकर लौटे। हमारे प्रयोगमें डबल फ़ायदा है। अपना यह कि भूली हुई दावत वसूल हुई और मित्रका यह कि वे खुश हो गये कि हमें उनके निमन्त्रणका मान है। अब बताइये कि आपका मन्त्र अमोघ है या हमारा नुस्खा तीरे बहदत ?

मित्र बोले—"आज आपने हमारा अघोर मन्त्र ही काट दिया और मुझे इससे खुशी हुई। आप जानते हैं कि मैं तो गुलामीके दिनोंमें भी सामाजिक नियमोंकी पूरी पाबन्दीका कायल रहा हूँ, फिर अब तो सौभाग्यसे हमारा देश स्वतन्त्र प्रजातन्त्र है। प्रजातन्त्रकी सफलताका सबसे बड़ा रहस्य ही यह है कि देशका हरेक आदमी अपने निजी लाभके सामने समाजके लाभकी अधिक चिन्ता करे। समाजका लाभ इसमें है कि उसके जीवनमें अधिकसे अधिक सचाई हो और यह सचाई जेलके अनुशासनकी तरह नहीं, आदतकी तरह हमारे हर काममें छाई रहे। इसलिए मैं मानता हूँ कि मित्रोंकी बुराई लेकर भी हमें अपने जीवनमें सत्यकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए।"

मैंने कहा—आपके विचारोंका मैं सम्मान करता हूँ और आपको धन्य-वाद देता हूँ कि किसीका निमन्त्रण स्वीकार करके वहाँ जाना भूल जाना एक इतनी बड़ी कमजोरी है कि हम उसे सामाजिक अपराध कह सकते हैं। बात यह है कि किसी कमजोरीको कमजोरी मानकर उसको जड़से उखाड़ने-के लिए कमर न कसना जिन्दगीकी सबसे बड़ी कमजोरी है। इसलिए निमन्त्रण स्वीकार करके वहाँ ठीक समयपर जाना हम न भूलें, इसलिए भी कुछ उपाय हमें सोचने पड़ेंगे।

मित्र बोले—"मालूम होता है आपने उन उपायोंपर विचार किया है ?"

मैंने कहा—हाँ, विचार ही नहीं, प्रयोग भी किया है और उससे सफलता भी मिली है।

ये सात उपाय मेरे अनुभवमें सर्वश्रेष्ठ हैं—

१—निमन्त्रण मिलते ही यदि वहाँ नहीं जाना है या जानेमें संदेह है, तो तुरन्त इन्कारीका पत्र लिख दो।

२—यदि जाना है, तो घरके सब आदमियोंसे कह दो कि वे याद रखें, और समयपर याद दिला दें।

३—किसी अच्छी याददाश्तके मित्रसे, जो वहाँ निमन्त्रित हों, कह दो कि वे आपको अपने साथ लेते जायें।

४—निमन्त्रण देनेवालेसे कह दो कि वह आपको उस दिन फिरसे याद दिला दें।

५—जहाँ बैठकर आप रोज काम करते हैं, वहाँ एक कागजपर लिख कर ढंगसे लगा दो, जिससे बार-बार याद आता रहे।

६—दावतके दिन जानेके समयका एलार्म लगाकर घड़ीको कहीं अपने निकट रख दो।

७—अपने जीवनके चालू व्यवहारमें कोई ऐसा अस्वाभाविक काम कर दो कि वह बार-बार खटकता रहे। मसलन, कुरसीकी जगह स्टूलपर बैठो, बूटकी जगह खड़ाऊं पहन लो, आज कोट न पहनो, चश्मा न लगाओ, अपने फाउंटेनपैनपर फूल बांध दो, अपने दफ्तरका ताला बन्द कर दो और बरामदेमें बैठकर काम करो। ये चीजें बार-बार खटकेंगी और याद दिलायेंगी।

बात यह है कि निमन्त्रणको मन्जूर या नामन्जूर करनेमें आप स्वतन्त्र हैं, पर स्वीकार करनेके बाद आप बाधित हैं कि समयपर वहाँ पहुँचें। ऐसा न करके आप अपनेको ही विश्वासके अयोग्य सिद्ध नहीं करते, अपने समाजकी सामूहिक सुन्दरताका भी ह्रास करते हैं।

पहाड़ी रिक्शा

यह जा रही है पास हीसे एक रिक्शा; जिसमें बैठी हैं दो परियाँ और उन्हें खींच रहे हैं पाँच जन।

वह जा रही है दूर एक रिक्शा; जिसमें बैठा है एक भैंसा और उसे खींच रहे हैं चार जन !

यह जा रही है नीचेकी ओर स्वयं दौड़ी-सी एक रिक्शा, जिसमें बैठा है एक बूढ़ा और उसे खींच रहे हैं---चार जन !

वह जा रही है ऊपरकी ओर घिसटती-सी एक रिक्शा, जिसमें बैठा है एक बीमार और उसे खींच रहे हैं---चार जन !

रिक्शाको देखते ही आँखोंकी राह दिलमें उतर जाते हैं ये रिक्शा-कुली ! जो पेटके लिए मनुष्य होकर भी बैल या घोड़ोंकी तरह मनुष्यको ही खींचते हैं।

पिछले १०-१२ वर्षोंमें जब भी पहाड़पर आया हूँ, रिक्शाएँ देखी हैं और तभी तब सोचा है---कितने दयनीय हैं ये जन, जो पेटके लिए रिक्शा खींचते हैं !

उस दिन भी एक बेंचपर बैठा, मैं देख रहा था कि रिक्शाओंका एक समूह चला जा रहा है, पर मेरा ध्यान रिक्शाके कुलियोंपर नहीं, रिक्शा पर ही जा टिका है।

कितना बोझ होगा एक रिक्शामें ? ४-५ मन ! और दो सवारियों में ? आसानीसे ढाई तीन मन ! तब पूरा बोझ हुआ ७-८ मन और कभी कभी दस मन। इसका अर्थ हुआ कि रिक्शाका प्रत्येक मजदूर डेढ़ मनसे है भारी !

मैं कुछ सोच रहा हूँ, सोचे जा रहा हूँ, कोई बड़े कामकी बात है, पर

धुन्धली-सी है और पकड़में नहीं आ रही ! तभी देखता हूँ—सामनेकी ऊँची कोठीपर आटेकी पूरी बोरी अपनी कमरपर लिये और सिरपर खिंचे पट्टेके सहारे उसे सँभाले एक मजदूर चढ़ा जा रहा है। उसे देखते ही, मेरे भीतर जो धुंधला विचार घुमड़ रहा है, उसे स्वरूप मिल गया है। अब मैं अपनेसे पूछ रहा हूँ—रिक्शाका मजदूर दो मनका बोझ पहियोंके सहारे खींचता है और यह मजदूर ठीक दो मन बोझ अपनी कमरके सहारे ही लिये जा रहा है, फिर रिक्शाका कुली दयनीय क्यों है ? स्वयं मार्क्स राष्ट्रपति हों या महात्मा गांधी, ऊपर बोझ ले जानेकी जरूरत रहेगी, तो सामान ऊपर जायेगा ही, और कोई न कोई उसे ले जायेगा भी, फिर इसमें दयनीयता क्या है ? कुछ नहीं; तो फिर रिक्शामें ही क्या खास बात है ? एक मजदूर दो मन आटा ले जा रहा है; एक मजदूर एक आदमीको, जिसका बोझा दो मन है, उठाये लिये जा रहा है, इसमें क्या कुछ अन्तर है ? मजदूर आटा उठाये या आलू; कपड़ोंका ट्रंक ले जाये या रातका बिस्तरा और इसी तरह वह ले जाये एक आदमीको, उसे उसकी मजदूरी मिलेगी। मुझे याद आया; अस्पतालमें जो अनाथ लोग मर जाते हैं, उन्हें श्मशान ले जानेका काम भी मजदूर करते हैं और अपनी मजदूरी ले लेते हैं। फिर जब आटा ढोनेमें दयनीयता नहीं, यहाँ तक कि मुर्दा मनुष्य ढोनेमें भी दयनीयता नहीं, तो यह कौन-सी फ़िलासफ़ी है कि जीवित मनुष्यका ढोना ही दयनीयता है !

जो बात पिछले १०—१२ वर्षोंसे मनके लिए साधारण रही है, वह आज असाधारण क्यों बन गई ? रिक्शा देखकर सदैव रिक्शा-कुलीपर जो दया आती रही है, इस प्रथाको बन्द करनेके लिए मनमें करुणा और विद्रोहका जो स्वर उमड़ता रहा है, क्या वह एक सस्ती भावुकता ही थी ? मन यह माननेको तैयार नहीं होता, पर मस्तिष्क, तो आज जैसे अपनी बातपर अड़ ही गया है—वह उस भावुकताकी खिल्ली उड़ाकर पूछता है—जब मुर्दा मनुष्य ढोना दयनीय नहीं, तब जीवित मनुष्यको ढोना दयनीय क्यों है ?

मैं अपनेमें खो गया हूँ, खोया जा रहा हूँ—हाँ, ठीक तो है । मजदूरी-मजदूरी एक ! या तो हम समाज-व्यवस्थाको ऐसा रूप दें कि मजदूरी ही न रहे, उसकी आवश्यकता ही समाप्त हो जाये और जब तक ऐसा न हो मजदूरी-मजदूरी एक । मजदूर आलू ढोये या आटा, जीवित आदमीको ढोये या मुर्दा लाश, एक ही बात है । हाँ, यह जरूरी है कि मजदूरको पूरी मजदूरी मिले । आखिर समाजमें पाखाना ढोना भी एक कार्य है और कोई न कोई उसे करेगा ही । समाजका जो यह काम करे, वह दयनीय क्यों ?

मनमें झिझक अभी बाकी है और तभी मैं अपनेसे पूछ रहा हूँ—तो रिक्शा-कुली दयनीय नहीं है न ? मस्तिष्क चौकन्ना है—वह पूरी दृढ़तासे कहता है, नहीं, भाई नहीं ! पर मन पूछता है, यह दयनीय नहीं है, तो पिछले १०–१२ वर्षोंमें मैं यों ही इससे दुखी रहा हूँ और दूसरे लोग भी खामखाह ही इस भावुकतामें फँसे रहे हैं ? मन चाहता है, कोई तथ्य ऐसा मिले कि इस भावुकताका समर्थन हो, पर मिल नहीं रहा है और तब मैं सोच रहा हूँ—किस मूर्खतामें फँसा रहा मैं १०–१२ साल ! ! !

यों ही ध्यान उचटकर पहुँच गया, उस बड़े अस्पतालमें; जहाँ बहनका बड़ा आपरेशन हुआ था । बहन क्लोरोफार्ममें धुत्त और रोगके आक्रमणसे जर्जर ! आपरेशन रूमसे चार आदमी स्ट्रैचरपर उसे कमरे तक उठाकर लाये । मैं भी साथ-साथ रहा और रास्ते भर सोचता रहा—कितने अच्छे हैं ये लोग ! ये यहाँ न हों, तो रोगियोंको कितना कष्ट हो ? और तब मैंने कृतज्ञ होकर उन्हें दो रुपये पुरस्कार दिये थे ! तब क्या उनका कार्य दयनीय था और मेरे मनमें उनके प्रति कोमलताका जो भाव उगा था, वह एक मूर्खता ही थी ? आज तो यही लगता है कि वह एक मूर्खता ही थी । मनुष्य भी क्या अजूबा है कि इतने वर्षों तक एक मूर्खताको ही अपना गुण समझता रहा !

सोचनेकी शक्ति और उत्साह अब क्षीण हो गया है और मस्तिष्क थक चला है । मन अब कोई नई बात चाहता है । मैं अपनी बेंच परसे

उठकर चल पड़ा हूँ, धीरे-धीरे और सुस्त; मन जैसे मर-सा गया है यह पछाड़ खाकर। चला जा रहा हूँ, चला जा रहा हूँ। कुछ सोच रहा हूँ, कुछ सोच भी नहीं रहा हूँ।

सामनेसे आ रहा है एक मजदूर—कोयलेकी एक कंडी कमरपर लिये, दूसरी ओर जा रहा है एक मजदूर कमरपर ही लकड़ीका भारी गट्ठा लिये। वे जा रहे हैं तीन मजदूर साथ-साथ बड़े-बड़े ट्रंक और बिस्तर लादे।

मैं देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि कितना बोझ उठाते हैं ये पहाड़ी बन्धु और तब याद आया, उस दिन कुलड़ी बाजारमें ढालपर बच्चा बैठ गया और वास्केटवाला भी न मिला, तो मैंने उसे अपनी गोदमें उठा लिया था। हाँ, उठा तो लिया था, पर ऊपर पहुँचाना मुझे मुश्किल हो गया था। ऊपर पहुँचकर जब लम्बे-लम्बे साँसोंके बीच मैंने उसे उतारा, तो मुझे लगा कि मेरी छातीसे भूत उतरा और तब मेरे मुँहसे निकला—कम्बख्तमें कितना बोझ है!

अब मेरे मनमें एक शब्द है बोझ और यह एक गूँजकी तरह मेरे मनके गुम्बदमें भर रहा है।

एक बार किसी गाँवमें जब मैं गया, तो वहाँ एक पिताने अपने निखट्टू पुत्रको 'धरतीका बोझ' कहा था और मेरे नन्हें पुत्रको पत्नीकी मृत्युके बाद किसी आत्मीयने ही 'छातीका बोझ' कहा था।

मनके गुम्बदमें भरी गूँजमें अब ये दो नई ध्वनियाँ आ गई हैं—धरतीका बोझ और छातीका बोझ।

धरतीका बोझ! छातीका बोझ!! दोनोंमें मनकी घोर घृणा है, तो बोझ बनना बुरा है! बोझ बनकर जीना दयनीय है!

मनकी गूँज इस चिन्तनमें तीव्र हो चली है। बोझ बनना बुरा है। बोझका अर्थ है—दूसरेका सहारा। यह स्वावलंबनके विरुद्ध अनाथताका अवलम्बन है।

सामनेसे एक रिक्शा आ रही है। उसमें बैठा है एक सेठ और उसे खींच

रहे हैं चार जन ! कोयलेकी कंडी, लकड़ीका गट्ठा और ट्रंक-बिस्तरा लिये जा रहे वे मजदूर भी दिखाई दे रहे हैं मुझे !

ओह ! कितना बोझ ढोते हैं ये पहाड़ी बन्धु ! फिर वही बोझ ! कोयलेका बोझ, लकड़ीका बोझ, ट्रंकका बोझ ! सोचते-सोचते मैं बह रहा हूँ. . और मनुष्यका बोझ !

मनके भीतर एक रोशनी-सी आ रही है—मनुष्यका बोझ ! तभी एक प्रश्न—जो मनुष्य रिक्शामें बैठता है, वह बोझ है और जीवित, स्वस्थ मनुष्यका बोझ बनना दयनीय है ? बेशक दयनीय है !

मेरी थकान अब दूर हो गई है । मनके साथ देहमें भी स्फुरणा है और एक वाक्य मनकी उस गूंजपर छा गया है—जो रिक्शा खींचते हैं वे पुरुषार्थी हैं—उनका पुरुषार्थ भले ही उनकी विवशता हो, वे हैं पुरुषार्थी और जो उसमें बैठते हैं, वे बोझ हैं । इस बातका फलितार्थ होता है—बोझ बनना दयनीय है, रिक्शामें बैठनेवाले वे सेठ-बाबू दयनीय हैं।

और मैं अब अपनेसे कह रहा हूँ । १०–१२ वर्षोंसे मैं रिक्शा चलाने वालोंको दयाका पात्र समझता रहा हूँ, पर सत्य यह है कि रिक्शामें बैठनेवाले ही दयनीय हैं ।

मन नई दिशामें मुड़ चला है—अहिंसाकी छायामें । एक रोगी भी हमारी दयाका पात्र है और एक डाकू भी । दवा और दण्ड समाजकी दया ही तो है ! तब पेटके लिए बोझ ढोनेको विवश मजदूर और पैसेके मदमें मनुष्यसे बोझ बननेवाला यात्री, दोनों ही दयाके पात्र हैं और हमारी दयाका अनुरोध है कि यह प्रथा बन्द हो ।

बूढ़ों एवं बीमारोंके लिए झपान, बच्चोंके लिए बास्केट और मूच्छितों एवं मृतकोंकी सेवाके लिए स्ट्रेचर रहेंगे ही । रिक्शाएँ भी रहेंगी, पर संग्रहालयोंमें, जहाँ भावी पीढ़ीके बच्चे उन्हें देखेंगे और सोचेंगे—ओह ! यह भी एक युग था, जब मनुष्य भी कुछ पैसोंके लिए मनुष्यों द्वारा ही बोझकी तरह ढोया जाया करता था !

राहत या बोझ ?

आपके कोई मित्र बीमार हैं और आपके संबंधोंका तकाजा है कि आप उन्हें देखने जायें। देहाती कहावत है कि सुखमें चाहे दूर रहे, पर दुखमें दूर न हो! ठीक है, आपको जाना ही चाहिए, पर क्या आप समझते हैं कि आपको जानेसे पहले कुछ भी सोचनेकी जरूरत नहीं है? यदि आप इसपर हाँ कहेंगे, तो भले ही आप नाराज हो जायँ, मैं कहूँगा कि जब ईश्वरके यहाँ अक्ल बट रही थी, आप काफ़ी पिछली क़तारमें थे।

अच्छा, आप अपने मित्रकी बीमारीका समाचार पा, उन्हें देखने क्यों जाना चाहते हैं? बीमारीकी वजहसे वे कुछ तमाशा तो बन ही नहीं गये कि उन्हें देखकर आपको कुछ नया लुत्फ़ आये। वे ज्यों के त्यों हैं, बल्कि कुछ कुम्हलाये हुए, परेशानसे ही होंगे। फिर आप भी एक भले आदमी हैं, उस बादशाह जैसा शौक़ तो आपको न होगा, जो आदमीको भेड़ियोंके झुण्डमें फेंककर तमाशा देखा करता था।

हूँ, आप अपने मित्रसे हमदर्दी प्रकट करने, उनका दुख बटानेके लिए वहाँ जाना चाहते हैं। यह बहुत अच्छी बात है और इसके लिए मैं आपकी प्रशंसा करूँगा, पर इस हालतमें तो यह बहुत जरूरी है, कि आप जानेसे पहले कुछ नहीं, काफ़ी सोचें, समझें और तब वहाँ जायें, क्योंकि बिना सोचे-समझे यदि आप वहाँ जायें, तो बहुत मुमकिन है कि उनका दुख बटानेके बदले बढ़ा दें।

सोचनेकी सबसे पहली बात यह है कि आप वहाँ किस समय जायें?

बीमार आदमियोंको रातमें ठीक नींद न आना मामूली बात है। इसलिए मुमकिन है कि आपके मित्रको भी रात ठीक नींद न आई हो और रात बीतते-न-बीतते ही वे सोये हों। इस हालतमें यदि प्रातः ५ बजे

अपने घूमनेके समयमें आप यह सोचें कि अपने बीमार मित्रसे भी मिलते चलें, तो यक़ीन कीजिए कि यह उनके लिए एक मुसीबत होगी। आपके पहुँचनेपर वे हड़बड़ाकर उठेंगे और ऐसी हड़कलका सामना करनेको मजबूर होंगे, जो उनकी हड्डियोंतकको बींध दे। भरी दुपहरीमें वहाँ जाने-पर और रातमें देरीसे जा-धमकनेपर भी यही खतरा है; इसलिए अपने बीमार मित्रके पास जानेमें आप अपना नहीं, उनका ही सुभीता अपने ध्यानमें रखिये।

दूसरी बात सोचने लायक़ यह है कि आप वहाँ जाकर किस तरहकी बातें करें और किस तरहकी बातें न करें?

हरेक बीमारी किसी न किसी कारणसे होती है और ये कारण मामूली हैं—हरेकके लिए समान। इस हालतमें बीमारपर यह जोर डालना कि वह आपको, यानी हरेक आनेवालेको, अपनी बीमारीका इतिहास सुनाये, बहुत बड़ी ज्यादती है, माफ़ कीजिये बेवक़ूफ़ी भी है।

आपके लिए इतना ही काफ़ी है कि आप यह जान लें कि आपके मित्रको क्या तकलीफ़ है और ज़्यादासे ज्यादा यह भी कि कबसे है? आपका यह जानना मुनासिब है कि इलाज किसका है और उससे क्या लाभ हो रहा है? यह आप स्वयं बीमारसे न पूछकर, घरके दूसरे लोगोंसे ही मालूम कर लें, तो ज्यादा ठीक होगा।

इस सिलसिलेमें अहमकपनकी बात यह होगी कि आप यह जाननेके बाद भी कि किसी वैद्य, डाक्टर या हकीमका इलाज हो रहा है, अपनी दवायें बतायें कि यह इलाज करो, वह इलाज करो! इस मामलेमें ज्यादासे ज्यादा गुंजायश यह है कि यदि मौजूदा इलाजसे लाभ न हो रहा हो, तो आप किसी ऐसे डाक्टर-वैद्यका नाम उन्हें बता दें, जो आपकी रायमें नहीं, अनुभवमें, इस रोगके लिए होशियार हो।

जो रोग आपके मित्रको है, वह आपकी जानकारीमें पहले भी दूसरे लोगोंको हो चुका होगा। यह भी तय है कि उस रोगमें उनमेंसे बहुतसे

मर भी गये होंगे, पर अब क्या आपके लिए यह उचित होगा कि उन मरे हुओंकी कहानियाँ आप अपने बीमार मित्रको सुनाएं? इससे नुक़सानके सिवाय लाभ क्या है।

रोगीका कमज़ोर होना स्वाभाविक है, पर यदि आप बार-बार अपने मित्रकी कमज़ोरी उन्हें याद दिलाएँ, तो यह आपके नादान दोस्त होनेका ही सबूत होगा।

आप अपने बीमार मित्रके पास बैठकर उनके हितका जो सबसे बड़ा काम कर सकते हैं, वह यह कि आप इस तरहकी बातचीत करें कि आपके मित्र हँसें और उतनी देर अपनी बीमारीको भूले रहें। यहाँ एक ख़तरा है और वह यह कि आप इस बातचीतमें इतने लीन हो जायें कि आपके मित्र न भोजन कर सकें, न विश्राम और जब आप वहाँसे उठें, तो वे यह महसूस करें कि रोग अब उन पर और भी छा गया है।

बीमार मनुष्यके घरवालोंपर पहले ही बहुत काम बढ़ा रहता है। अब यदि आप भी चाय, पान, सिगरेट आदिका अपना काम उनपर डाल दें, तो यह क्रूरता ही होगी। हाँ, यदि उतने समयमें बीमारकी सेवाका कार्य अपने ज़िम्मे लेकर, बाजारसे ज़रूरतकी चीज़ें लाकर और दूसरी तरह उन्हें कुछ हल्का कर सकें, तो उनके लिए आपका आना उपयोगी हो सकता है।

इस तरह अपने बीमार मित्रके पास जानेसे पहले ही बहुत कुछ सोचनेकी ज़रूरत नहीं है, वहाँ पहुँचकर भी यह सोचनेकी ज़रूरत है कि आपके जानेसे बीमार और तीमारदारपर किसी तरहका बोझ तो नहीं पड़ा?

जब उन्हें इज़्ज़त मिली !

आपने कभी वंशलोचन देखा है ?

"वंशलोचन ?"

हाँ जी, वंशलोचन, जो गोबिन्द अत्तारके यहाँ भी बिकता है और ज्योती अत्तारके यहाँ भी ।

"बिकता होगा, गोबिन्द अत्तारके यहाँ भी और ज्योती अत्तारके यहाँ भी, मैं भला उसे क्यों देखता फिरता—क्या आपने मुझे कोई अत्तारोंका इन्सपैक्टर समझ लिया है ?"

भाई साहब, इन्सपैक्टर अत्तारोंका हो या आबारोंका, आज कल खास चीज है—पाँचों उँगलियाँ और छटा मूण्ड घीमें रहता है उसका, पर खैर, छोड़िये इस बातको—बातके बढ़ानेमें रक्खा ही क्या है, मैं तो सिर्फ़ आपसे यही पूछ रहा था कि आपने कभी वंशलोचन देखा है ?

"यों ही पूछ रहे थे, तो पूछिये और मैं भी आपकी पूछको लीजिये यों ही बूझ रहा हूँ कि हाँ साहब, मैंने देखा है वंशलोचन; सफ़ेद-सफ़ेद होता है ।

"और संखिया भी देखा है कभी ?"

"संखिया ? क्या पूछ रहे हैं आप—संखिया, जिसे खाकर पिछले साल जग्गू और विशम्भर दोनों ऐसे सो गये कि फिर दूसरोंके कन्धे ही उठे । वही संखिया या कुछ और ?"

जी हाँ, वही संखिया, जिसे खाकर जग्गू और विशम्भर ही नहीं, चाहें तो आप भी इस तरह सो सकते हैं कि दूसरोंके कन्धे तो उठें ही, जलूसके साथ भी उठें ?

"मालूम होता है आज आपने हमारी श्रीमतीजीसे मोर्चा बाँधनेका

फ़ैसला कर लिया है। मियाँ, उन्हें ऐसी-वैसी मत समझना। संखियेका नाम भी सुन लेंगी, तो जानको आ जायेंगी ?"

ख़ैर, भाभी-देवरकी लड़ाईका मोर्चा तो हमेशा ही जिन्दगीकी एक दिलचस्प नियामत है, हम उससे डरते नहीं, पर आप पहले यह बताइये कि आपने कभी संखिया देखा है ?

"हाँ देखा है संखिया सफ़ेद-सफ़ेद होता है, पर आप किसी जाँच कमेटीके मेम्बर तो नहीं हो गये, जो यह सब जाँच-पड़ताल किये जा रहे हैं ?"

अरे भाई, हम किस कमेटीके मेम्बर होते। बात यह हुई कि हम आज एक मैजिस्ट्रेटके यहाँ बैठे थे। उनकी अदालतमें एक मुक़दमा चल रहा है कि एक साहबने संखिया खा लिया, पर मरे नहीं, बच गये और अब पुलिसने आत्म-हत्याका प्रयत्न करनेके अपराधमें उनका चालान कर दिया है। अब वे महाशय कहते हैं कि मैंने बंशलोचनके भुलावेमें संखिया खा लिया था।

"हाँ, बंशलोचन और संखियेका रूप बहुत कुछ मिलता जुलता है और यह भूल आदमी कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं, पर भाई साहब, यह भी अजीब बात है कि आत्म-हत्याका अपराध आदमी करे और सफल हो जाय, तो न गिरफ़्तारी होती है, न चालान, न मुक़दमा, पर आदमी चूक जाये, तो जेलका दरवाज़ा उसके लिए इस तरह खुल जाता है, जैसे नाकूका मुँह।"

तो, यह एक और अजीब बात हुई कि आप इस बंशलोचन और संखियेकी बातमेंसे क़ानून-शास्त्रकी एक पहेली निकाल बैठे। आप भी ख़ूब आदमी हैं, भाई साहब !

"जी हाँ, मैं ख़ूब आदमी हूँ भाई साहब, कि बंशलोचन और संखियेकी बातमेंसे क़ानून-शास्त्रकी एक पहेली निकाल बैठा, पर आप तो ख़ूब आदमी नहीं हैं, तो फरमाईये आप इस बंशलोचन और संखियेकी बातमेंसे कौन-सा नजर-बट्टू निकाल रहे थे ?"

माफ़ कीजिये, सवाल आपका बहुत मुनासिब है। मैं तो बंशलोचन और संखियेकी बातमेंसे जीवन-शास्त्रका एक प्रश्न सोच रहा था।

"वाह, क्या कहने ! कहाँ वंशलोचन और संखिया और कहाँ जीवन-शास्त्र ! मान गये साहब आजसे हम आपको फिलासफर। सचाई यह है कि सुल्हड़ मिश्र आख़िर आपके ही वंशमें तो पैदा हुए थे, जो उपला ले कर आग लेने चले और अपने विचारोंमें उलझे, पहुँच गये ८ कोस दूर एक क़स्बेमें।

अच्छा, तो अब यह बताइये कि जीवन-शास्त्रकी वह कौन-सी बात है, जिसे आप सोच रहे थे। ज़रा हम भी तो आपकी फिलासफी सुन लें।"

वंशलोचन और संखियेकी बात सुनकर मैं यही सोच रहा था कि संसारमें वे इकले ही महाशय नहीं है, जो वंशलोचन समझ संखिया खा गये, बल्कि हममें ज्यादातर आदमी ऐसे हैं, जो वंशलोचनको संखिया समझ रात-दिन खाया करते हैं।

"ज़रा खोल कर समझाइये, तो समझें हम आपकी बात। यों तो हमारे पल्ले कुछ पड़नेसे रहा, क्योंकि आख़िर आप हैं फिलासफर और हम भाई, एक मामूली आदमी।"

समझनेकी इसमें क्या बात है, लीज़िये कुछ नमूने खुद जो देख लीजिये। हमारे पड़ोसी श्रीपालसिंहको तो आप जानते ही हैं। जी हाँ, वे ही ज़ो अभी सर्दियोंमें स्पेशल आनरेरी मैजिस्ट्रेट बनाये गये थे। बेचारे वंशलोचन समझकर संखिया खा गये और वह संखिया अब उनकी आँतोंका गोरख-धन्दा बना रहा है।

"क्या कहा आपने कि बाबू श्रीपालसिंह भी वंशलोचनकी जगह संखिया खा गये और अब वह उनकी आँतोंका गोरखधन्धा बना रहा है ?

यह क्या कह रहे हैं आप, अभी कल तो वे हमें क्लबमें मिले ही थे। वही हट्टे-कट्टे, हँसमुख और ताजे-तर। आप कबकी बात कह रहे हैं यह संखिया खाने की ?"

भाई साहब, आपके दिमागमें उठती हैं क़ानूनी पहेलियाँ और हमारे दिमागमें जीवनके प्रश्न। क़ानून है शब्दोंकी बहस और जीवन है

भावनाओंका उपवन । इस लिए आप संखिये और वंशलोचनमें देखते हैं संखिया और वंशलोचन और मैं देखता हूँ उनका तत्त्वज्ञान !

"ओहो मेरे शेर ! यह तो बहुत दूरकी उड़ान की आपने । अरे भाई, मुझे भला क्या मालूम कि आप वंशलोचन और संखियेका भी तत्त्वज्ञान बना बैठे हैं । यों समझिये कि अब तो आपकी खोपड़ी आचार्य जगदीश चन्द्रकी रसायनशाला हो गई ।

अच्छा जी, तो अब हमें भी वंशलोचनका वह तत्त्वज्ञान दिखाइये जरा ।"

तत्त्वज्ञान क्या था इसमें । वंशलोचन है एक उपयोगी और लाभ-दायक चीज और संखिया है एक मारक विष, पर दोनोंका बाहरी रूप-रंग एक है । इसी तरहकी दुनियामें और बहुत-सी चीजें हैं, जो गुणोंमें भिन्न होकर भी बाहरी रूपमें एक हैं ।

अब यदि कोई भोला या भोंदू मनुष्य किसी उपयोगी चीजकी जगह कोई हानिकारक चीज खा ले या उपयोग कर ले, तो उसे मुहावरेमें कहा जायगा कि भाई, यह तो संखियेका वंशलोचन बना रहा है । हमारे पड़ोसी श्रीपालसिंहने भी यही संखियेका वंशलोचन बना दिया है स्पेशल मैजिस्ट्रेट बनकर ।

"क़ानूनी कहिये या जीवन-शास्त्र की कहिये, है आपकी यह बात एक पहेली ही, इसलिए अच्छा हो कि आप ही इसे बूझ भी दें ।"

पहेली-वहेली कुछ नहीं भाई साहब, बात सीधी है कि दुनियाकी हर चमकदार चीज हीरा नहीं है और जीवनमें क्या शाप है और क्या वरदान, यह जानना बड़े-बड़े विद्वानोंके लिए भी सुगम नहीं है । भाई श्रीपालसिंह भी इसी चक्कर पर चढ़ गये हैं । रात दिन मारे-मारे फिरे, जिनका मुँह नहीं देखना था उनके पाँव देखे, जिनकी नमस्ते नहीं ली जा सकती, उनके सामने सर झुकाया, पिछले २० साल देशका काम करते-करते जिनसे जान-पहचान और दोस्ती हो गई थी, उनकी चौखटें चाटीं और तब कहीं

स्पेशल मैजिस्ट्रेट हुए, पर हुआ क्या; यही कि वंशलोचनका संखिया बन गया।

"वाह, वंशलोचनका संखिया कैसे बन गया। चार आदमियोंमें सिर ऊँचा हुआ, समाजमें पोजीशन निखरी, बड़े आदमियोंमें गिनती होने लगी। इससे पहले बेचारे थे ही क्या? बाप-दादोंके छोड़े चार मकानोंका किराया आता है। सुबह चुपड़ी, तो शामको रूखी खा सोते थे——अब शहरमें वे ही वे हैं।

अभी ५–६ दिन हुए राज्यके बड़े मिनिस्टर साहबकी पार्टी थी उनके यहाँ। देखा नहीं मिनिस्टर साहबसे इस तरह बातें करते थे, जैसे इनके कोई निजी रिश्तेदार हों। कलक्टर और कप्तान साहब भी पार्टीमें आये थे, पर श्रीपाल सिंहसे इस तरह बात करते थे, जैसे वे ही मिनिस्टर हों और आपको वंशलोचनका संखिया ही घुटता दिखाई दे रहा है?"

जी हाँ, यही तो कह रहा हूँ मैं कि आपको मिनिस्टर साहबकी पार्टीका वंशलोचन ही दीख रहा है, पर मुझे दीखता है उनकी पत्नीके आसुओंका संखिया!

"उनकी पत्नीके आँसुओंका संखिया! कैसे आँसू उनकी पत्नीके? आखिर वह रोई क्यों? जी?"

जी हाँ, उनकी पत्नीके आँसू! वह रात हमारे घर आई थी और कह रही थी कि इस मैजिस्ट्रेटीने भैया, हमारा तो नाश कर दिया। पहले सादगीसे सब काम हो जाता था, अब हरेक बातमें साहबी आ गई है। पहले चार घड़ी बाज़ारमें बैठते थे, कभी शक्कर तो कभी तेल, कभी उड़द तो कभी खाण्ड भर लेते थे और इस तरह दस रुपये मिल जाते थे, पर अब वही किरायेके रुपये——उन्हें ओढ़ लो या बिछा लो। अभी परसों मिनिस्टर साहबकी पार्टी थी, मेरा जेवर गिरवी रखकर रुपये लाये, तो काम चला। कल कह रहे थे——दो मकान बेच कर एक मोटर लेना। सबके पास मोटरें हैं, तांगेमें जाते शरम लगती है। मैंने कह दिया, मोटरमें बैठे हवा ही खाया

करना, चूल्हा तो बस निर्जल एकादशी ही रक्खेगा फिर, तो झल्ला पड़े। वे समझते हैं मैं उनकी इज्जत, देखकर जलती हूँ, पर भैया, इज्ज़त, कीर्त्ति, यश और नाम तो पेट भरे पर ही भले लगते हैं।

अब कहिए, भाई श्रीपालसिंहकी मैजिस्ट्रैटीने बंशलोचनका संखिया कर दिया या नहीं ?

और आप तो गये थे उनकी पार्टीमें ? वहाँ आपने जंगबहादुरकी कविता भी सुनी होगी। उनकी कविता भी बंशलोचनका संखिया है!

"उनकी कविता भी बंशलोचनका संखिया है ? वाह साहब वाह! आज तो आपने नया संखिया-शास्त्र ही रच मारा! जी, तो किस तरह ?"

नया संखिया-शास्त्र इसमें कुछ नहीं। बात यह हुई कि जंगबहादुर पहले बहुत सुन्दर कविताएँ लिखा करते थे और हिन्दीके श्रेष्ठ पत्रोंमें उन्हें स्थान मिला करता था, पर एक कवि-सम्मेलनमें गये, तो उन्होंने देखा कि वहाँ गीतसे अधिक संगीतका जोर है। उन्होंने भी गाकर कुछ पढ़ा, तो वाहवाही भी मिली और चाँदीके ५१ सिक्के भी। अब कवि-सम्मेलन ही उनकी दुनिया है। अपने पुराने गीत अलापा करते हैं और तालियाँ सुना करते हैं। एक दिन शानसे कह रहे थे, कलकत्ता परिषद्में गया था भाई साहब, प्रसिद्ध वक्ता देवेन्द्रजीको १५१) दिये गये और मुझे २०१)। गया तो मैं थर्डमें ही था, पर सैकेण्डका किराया मिला और कुछ न पूछिये वहाँ कवि सिन्धु जी भी आये थे, पर कालेजके लड़कोंने 'हूट डाउन' कर दिया और मेरे गीत बार बार सुने।

कहिये, कवि-सम्मेलनकी यह कीर्ति शाप हुई या वरदान ? और फिर वही बात बंशलोचनका संखिया बन गया या नहीं ?

और भाई, क्या श्रीपाल और क्या बेचारे जंगबहादुर, यह तो वह चौराहा है, जिस पर अमरीकाके प्रेसिडेण्ट श्री विल्सनकी चौकड़ी भूल गई। पहले महायुद्धके अन्तमें वे विश्व-शान्तिका मिशन लेकर निकले और अपनी १४ शर्तोंके साथ इंगलैण्ड आये। वहाँ जनता ने स्वागत

हुआ, वो धूमें मचीं कि बस बेचारोंका मिशन एक गैसका गुब्बारा रह गया, जिसमेंसे निकला लीग आफ़ नेशन्स, जिसने सच पूछो, तो दूसरे महायुद्धकी नींव ही रक्खी ।

वहाँके एक दैनिकने विल्सनकी विदाई पर जो अग्रलेख लिखा, उसका शीर्षक था—"हि केम, हि सा एण्ड हि वाज़ कौंकर्ड !" वाह भाई पत्रकार—'वह आया, उसने देखा और बस हमने उसे जीत लिया ।'

तो यह सम्मान-कीर्ति शाप हुई या वरदान ? अरे भाई, कह तो दिया यह सब वंशलोचनका संखिया बनाना है ।

संखिया, संखिया, संखिया, बार बार वही संखिया ! जानता हूँ शब्द कड़वा है और हर वार अपने साथ मौतका सन्देश लाता है, इसलिए कानोंको कुछ अच्छा नहीं लगता, क्योंकि रंग रूपकी एकतामें उलझकर साँपको हार माननेवालोंकी जो गत बनती है, वह इस शब्दको बार-बार दोहरा कर भी मैं पूरी तरह कह नहीं पाता ।

संखिया हो या साँप, वे आदमीको एक बारमें मार डालते हैं, पर कीर्त्तिके कोल्हूमें आदमी इस तरह पिसता है कि न जिये जीता है, न मरे मरता है ।

"अरे भाई, कीर्तिके लिए दुनियाके लोग जान दिये दे रहे हैं और तुम उससे ऐसे भर्राये जा रहे हो कि वह कोई भूत हो । क्या बात है आखिर, कुछ हमें भी तो पता लगे ?"

पता ? पता इसमें क्या लगेगा तुम्हें या मुझे ? कीर्तिका मतलब है दूसरोंकी राय और जिसकी चाल दूसरोंकी राय पर निर्भर, जिसकी पसन्दगी और नापसन्दगी दूसरोंकी आँखके सहारे, भला वह भी कोई आदमी है ? सच यह है कि आदमी कीर्तिके शिकारपर चढ़ा कि फिर उसकी ज़िन्दगी अपनी ज़िन्दगी ही नहीं रहती ।

अभी उस दिन मिले थे बाबू सी० आर० [illegible] । बड़े परेशान थे बेचारे । कह रहे थे साथियोंने अच्छा हमें नामज़द मेम्बर बनवाया, हमारी ज़िन्दगी ही तल्ख़ हो गई । न लिखनेका समय रहा, न पढ़नेका;

जैसे एकान्त अब हमारे लिए कोई जरूरी चीज ही नहीं रही। जब देखिये कोई न कोई आया रहता है और जो आता है यह समझ कर आता है कि मुझे जीवनमें अब अपना कोई काम ही बाकी नहीं रहा।

एक मित्रकी सलाहसे हमने बैठकके बाहर बोर्ड लगा दिया कि मिलनेका समय ३ बजे से ५ बजे तक है। बस फिर क्या था, सब जगह चर्चा हुई कि हमारा दिमाग बहुत भारी हो गया है।

उस दिन रास्तेमें राय बहादुर साहब मिल गये, बुजुर्ग आदमी हैं। मैंने नमस्कार किया, तो बोले—"भाई, अब तो हम ही तुम्हारे आगे हाथ जोड़ेंगे—आखिर बड़े आदमी हो गये हो भैया। टाइम पर मिलते हो, टाइम पर खाते-पीते हो और क्यों न हो आखिर अंगरेज अपना राज तुम्हें ही तो सौंप गये हैं!"

बताइये मैं क्या करता? साइनबोर्ड उतार कर भीतर रख दिया है और मान लिया है कि मेरा घर अब घर नहीं, चौपाल है, जिस पर मेरा ही नहीं, दूसरोंका भी उतना ही अधिकार है।

हमने उनसे कहा—भाई साहब, अभी तो साइनबोर्ड ही उतारा है, अभी क्या। अभी तो घरमें आग देनेके लिए भी तैयार रहिये।

बोले—"यह क्या कह रहे हो?"

मैंने उन्हें 'शेरोशायरी'से उस्ताद नासिखका किस्सा सुनाया। उर्दूके प्रसिद्ध कवि नासिख एक दिन बागके एकान्त बंगलेमें बैठे एक कविताकी तैयारीमें थे। एक सज्जन वहीं आ पहुँचे। कविको परेशानी हुई, मूड बिगड़नेका खतरा हुआ, तो उठकर टहलने लगे कि यह भला मानुष समझ जाये और उठे, पर यह जमे तो बस जमे। वे फिर किसी बहानेसे उठ कर गये पर ये तो जमकर बैठे थे, बैठे रहे।

उस्ताद नासिखने चुपकेसे चिलम [illegible] दी और आप लिखने लगे। आग भड़की, तो वे [illegible] कवि जी-ने उनका हाथ पकड़ लिया और बोले—"कविता [illegible] मिल गई, दिल

जलकर राख हो गया। अब तो तुम्हारे और मेरे ही जलनेका नम्बर है। अब क्या मैं तुम्हें जाने दूँगा।"

संस्मरण सुनकर शुक्लजी हँस पड़े, तो हमने उन्हें उस्ताद नासिख-का दूसरा संस्मरण सुनाया। फिर किसी दिन वे लिखनेकी मूडमें थे कि कोई आ जमे। जब शराफ़तके इशारे बेकार हो गये, तो उस्तादने नौकरसे अपना संदूकचा मँगाया। उसमेंसे अपने मकानकी मिल्कियतका काग़ज निकाला और उनके सामने रख कर नौकरसे बोले—"भाई मज़दूरोंको बुलाओ और घरका असबाब उठा कर ले चलो।"

नौकर भक, तो वे सज्जन अवाक् ! तभी उस्तादने कहा—"देखते क्या हो ? मकान पर तो इन्होंने क़बजा कर ही लिया है, ऐसा न हो कि असबाब भी हाथसे जाता रहे।"

क्या इन संस्मरणोंकी साक्षी नहीं है कि कीर्ति है एक वरदान, जब तक वह सीमामें रहे और कीर्ति है एक शाप, जब वह उचक कर किसीके कन्धों पर आ बैठे।
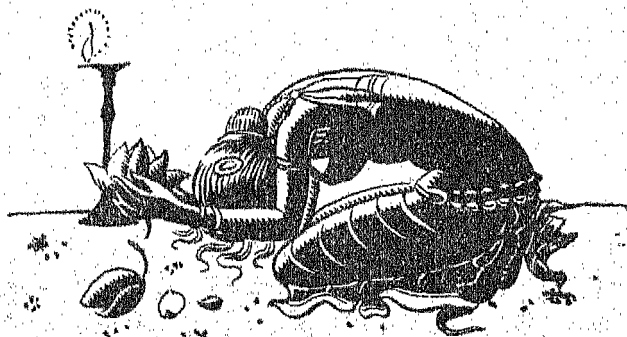
पुस्तक पिशाच : एक मूर्त जीव !

"गान्धीजीके सम्बन्धमें एक नई पुस्तक आई है, लीजिये ?" दिल्लीके एक पुस्तक-विक्रेताने पूछा, तो मैंने अपनी जेब देखी, पर पैसे अब किरायेके ही बाक़ी थे ।

उत्साह ज़रा चौंककर फिर करवट ले चला, तो उसने कहा—"घन-श्यामदास बिड़लाने लिखी है पण्डित जी !" मेरे लिए यह निन्दियायेकी कमरमें आलपीन चुभाना था कि आँख खुले, तो फिर झपकी न ले । बात यह है कि मैं लेखक बिड़लाका वर्षोंसे प्रशंसक रहा हूँ और ऐसा कभी नहीं हुआ कि उनका लेख देखने और पढ़नेके बीच कभी पलभरका भी अन्तर रहा हो ।

पुस्तक-विक्रेता बन्धुके परिचयका लाभ उठाकर पुस्तक मैंने उधार ख़रीद ली और स्टेशन चला आया । अब गाड़ीमें बैठते ही पुस्तक थैलेसे बाहर, पर मैं महादेव भाईकी लिखी भूमिका ही अभी पढ़ पाया हूँ कि आगये एक पुराने सार्वजनिक मित्र उसी कमरेमें । थोड़ी बहुत बातें हुईं कि निकले दो-तीन स्टेशन और तब मुझे जाना पड़ा शौचालयमें !

लौटकर देखता हूँ, तो वे मित्र 'बापू' को बड़े ध्यानसे पढ़ रहे हैं । मैं कहता ही क्या और करता ही क्या; बस उन्हें देखता रहा, पर यह लो आगया उनका नगर मेरठ । वे हड़बड़ाकर उठे और बापूको अपने थैलेमें रख, मैं देख रहा हूँ कि खड़े हो गये । मुझे उनसे कुछ कहना है, पर वे उससे पहले ही कह रहे हैं—"पुस्तक वाक़ई बहुत अच्छी है । चार पन्ने क्या पढ़े कि मन रम गया । अब आज रातमें पूरी पढ़कर ही सोऊँगा !" वे मेरी आँखोंमें उठे प्रश्न देख रहे हैं, पर उन सबका उत्तर है तो—"किसी आते जातेके हाथों आपकी पुस्तक भेज दूँगा; या किसी दिन आप इधर आयें,

तो ले लीजियेगा।" और उतरते-उतरते यह भी—"वाक़ई बहुत अच्छी पुस्तक है भाई साहब !"

मैं कहता ही क्या और करता ही क्या; क्योंकि कहा क्या नहीं और किया क्या नहीं—सिवाय चोर चोर चिल्लानेके ? वे चले गये, तो मनको समझाकर बैठ गया कि चलो कोई बात नहीं, मेरे इन मित्रमें मुझसे भी अधिक उत्सुकता है। मैं उधार लानेमें नहीं झिझका, वे झपट ले जानेमें नहीं चूके !

कहानी दिलचस्प है, पर उसका क्लाईमेक्स अभी नहीं आया, यह याद रखिये। दो सप्ताह बाद एक मित्र मेरठ जा रहे थे, उन्हें पुस्तक ले आनेको कहा। वे उनके घर गये भी, पर वे न मिले—गाँवकी किसी सभामें भाषण देने गये थे ! फिर कुछ दिन बाद दूसरे मित्र गये वे मिले भी, पर पुस्तक न दी। मुस्कराकर बोले—"भाई, पुस्तक तो उन्हें ही मिलेगी, जब वे आयेंगे।" चले आये बेचारे; कहते भी क्या और करते भी क्या ?

कोई तीन महीने बाद मैं स्वयं गया और क़िस्मतकी बुलंदी देखिये कि वे मिल भी गये। देखकर बड़े खुश हुए। आर्य समाज और कांग्रेस दोनोंके समाचार पूछे, पर बातचीतके बाद मैंने पुस्तक मांगी, तो अचकचाकर बोले—"अरे, वो पुस्तक तुम्हें अभी तक याद है ?" और मन मारकर सामनेकी आलमारीसे पुस्तक निकाल लाये।

मैंने देखा—पुस्तककी जिल्द पर एक नम्बर भी चिपका था—२७ ! मुझे देखते देख बुदबुदाये-से बोले—"ख़ैर, ले जाओ, हमने तो इसे अपने मुहल्लेकी लाइब्रेरीमें चढ़ा दिया था !"

पुस्तक हाथमें लिये ताँगेमें आ बैठा, तो मनमें एक झाँझ-सी झन्नाकर रह गई—'पुस्तक पिशाच : एक धूर्त जीव !' और आज जब यह कहानी सुनाने बैठा हूँ, तो सोच रहा हूँ—दो मित्रोंका ऐहसान उठाने और स्वयं आठ आने ताँगेवालेको देनेके बाद इस लेखका जो शीर्षक उस दिन हाथ आया था, वह क्या कुछ महँगा था ?

× × ×

यह कहानी मैंने एक बार अपने एक मित्रको सुनाई, तो वे ज़ोरसे हँसे और बोले—"अरे भाई, पुस्तक उड़ाना तो एक कला है !"

और उन्होंने तब सुनाया फ्रांसके एक महान् लेखकका यह संस्मरण कि उसने अपनी आत्मकथामें पाठकोंको सलाह दी है कि वे कभी किसीको अपनी कोई पुस्तक मांगी न दें। इस सलाहका आधार उनके ही शब्दोंमें स्वयं उनका अनुभव है। वे कहते हैं कि मेरा पुस्तकालय इतना पूर्ण है कि देश भरके विद्वान् उसे देखनेको आते रहे हैं, पर इसकी अधिकांश श्रेष्ठ पुस्तकें वे हैं, जिन्हें मैं अपने मित्रोंसे उधार मांग कर लाया था, पर मैंने लौटानेका फिर कभी ध्यान भी न किया-तक़ाज़े हुए, कहा-सुनी हुई और मनमुटाव भी, पर मैंने हाथ-आई पुस्तकको फिर कभी दूसरेका हाथ न देखने दिया !

× × ×

सर वाल्टर स्काटके एक मित्र उनकी कोई पुस्तक ले गये। मित्र गहरे थे, पुस्तक देनी पड़ी, पर कुछ दिन बाद ही उन्होंने अपने मित्रको एक पत्र लिखा, जिसमें एक दिलचस्प वाक्य यह था—"पुस्तक लौटाना न भूलियेगा। यह इसलिए लिख रहा हूँ कि हमारे मित्र 'बुककीपिंग' (हिसाब-किताब) में कितने ही कमजोर क्यों न हों, 'बुककीपिंग' (पुस्तक रख लेने) में परम पटु होते हैं !"

× × ×

पुस्तक लेकर अपने संग्रहमें सदुपयोगके लिए सुरक्षित रख ली जाती हो, यही नहीं है, यार लोग कुछ और भी करते हैं, यह काका गाडगिलने अपने एक लेखमें हमें बताया है।

उनके पास क़ानूनकी एक क़ीमती पुस्तक थी और एक क़ीमती मित्र उसे मांग ले गये। काका चतुर भी हैं और सतर्क भी, पर मित्र गहरे थे, विद्वान् थे, पुस्तक पकड़े न रख सके, अंगुलियाँ ढीली करनी पड़ीं।

बहुत दिन गए पुस्तक न लौटी। कहलवाया, तक़ाज़े किये, पर पुस्तक

न आई । काका उनसे स्वयं मिले, तो उत्तर मिला—"क्या बताऊँ, आपकी पुस्तक जाने कहाँ रक्खी गई कि मिलती ही नहीं !"

इस मायूसीके कई महीने बाद वही पुस्तक काकाको एक कबाड़ीकी दूकानपर मिली और वे उसे फिरसे ख़रीद लाये । पुस्तकपर पहलेसे लिखा उनका नाम अब भी लिखा था । हाँ, उसे किसीने लाल स्याहीसे काट ज़रूर दिया था ! इस संस्मरणमें काकाके मित्रकी धूर्तताका सम्मान है या उनके नौकरकी चतुरता का ?

× × ×

माँगी हुई पुस्तकें अक्सर अपने घर नहीं लौटतीं, इसका एक कारण है धूर्तता, दूसरा मूर्खता और तीसरा प्रमाद ! धूर्तता और मूर्खताके कुछ उदाहरण ऊपर हैं, डॉ० महादेव साहासे प्रमादका यह सुन लीजिए ।

मेजर बसुका पूरा पुस्तकालय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके प्रधान कार्यालय प्रयागको दानमें मिला है । इस संग्रहमें प्रयागकी पब्लिक लाइब्रेरीकी भी एक पुस्तक है । यह पुस्तक कभी स्वर्गीय बसुने मँगाई होगी, पर लौटा न पाये और अब यह सम्मेलनके क़ैदख़ानेमें जीवनके दिन काट रही है ।

यह प्रमाद, आलस्य और लापरवाहीके अतिरिक्त और क्या है ?

स्वस्थ देशके नागरिकका स्वस्थ स्वरूप इन उदाहरणोंमें है—

अमेरिकाके किसी पुस्तकालयसे किसीने एक पुस्तक ली और चीनमें आ बेची । अमेरिकाके किसी यात्रीने यह पुस्तक शांघाईमें कबाड़ीकी दुकान पर देखी और ख़रीदकर अमेरिकाके उसी पुस्तकालयको अपने ख़र्चेसे भेज दी ।

डाक्टर महादेव साहाने अपने एक मित्रसे पढ़नेको एक पुस्तक ली, पर तभी वे चले गये जेल । पीछे दूसरे साथी वह पुस्तक पढ़ते रहे । डा० साहा जेलसे आये, तो देखा पुस्तक मैली हो गई थी । उन्होंने बाज़ारसे नई पुस्तक ख़रीदी और उस मित्रको लौटा दी !

× × ×

इस प्रश्नका समाधान कहाँ है ? पुस्तक मांगी देनेकी आदत बन्द की जाये या हम दूसरोंकी धूर्तता, मूर्खता और लापरवाहीका सदा शिकार होते रहें ?

संस्कृतके पुराने नीतिकारने इस प्रश्नका दो टूक जवाब दिया है। उनकी साफ़ राय है कि लेखनी, पुस्तक और नारी, दूसरेके हाथों गई कि बस गईं, क्योंकि पहले तो वे लौटती ही नहीं और लौटती भी हैं तो खराब होकर !

पुस्तकोंके सम्बन्धमें एक प्रयोग विश्वविख्यात लेखक स्टीवेंसनका है। वे नई पुस्तक लेते, उसे पढ़ते और जहाँ वह पूरी होती, उसे वहीं छोड़ देते—यह स्थान चाहे ट्रामकी सीट हो या पार्ककी मेज़ !

मित्र कहते—भले आदमी, इतनी अच्छी-अच्छी पुस्तकें यों रास्तेमें डाल देते हो, यह क्या बात है ?

स्टीवेंसनका उत्तर था—ज़िन्दगीमें पहले ही कौन कम बोझ है, जो उस पर और लादूँ और फिर जीवन तो एक यात्रा है। उसमें बोझ बाँधकर चलना तो मूर्खता ही है।

इस सम्बन्धमें दूसरा प्रयोग है महात्मा तिलकका। वे बम्बईसे पूनाको चले, तो उन्होंने प्रभातका दैनिक ख़रीदा। वे उसकी मोटी लाइन भी अभी न देख पाये थे कि एक सज्जन बोले—"ज़रा बीचका पन्ना दीजियेगा।"

तिलक महाराजने इकन्नी जेबसे निकालकर उनकी ओर बढ़ाई—"लीजिए, आप दूसरा ख़रीद लीजिए और मुझे शान्तिसे पढ़ने दीजिए !"

× × ×

आप पुस्तकोंका संग्रह ही न रखिए या ऐसी जगह रखिए कि कोई उन्हें देख ही न पाये !

आप यदि पुस्तक मांगनेवालेको डा० साहा जैसा स्वस्थ समझते हैं, तो पुस्तक दे दीजिए !

आप यदि पुस्तक देते हैं, तो पहलेसे ही यह आशा छोड़ दीजिए कि कोई उसे लौटायेगा और इरादा कर लीजिए कि सर वाल्टर स्काटकी तरह आप उसे याद ही न दिलाते रहेंगे, किन्तु अपने पुरुषार्थसे अपनी पुस्तक लिवा लायेंगे !"

आप तिलक महाराजकी तरह सख्त रहिए और साफ़ इन्कार कर दीजिए !
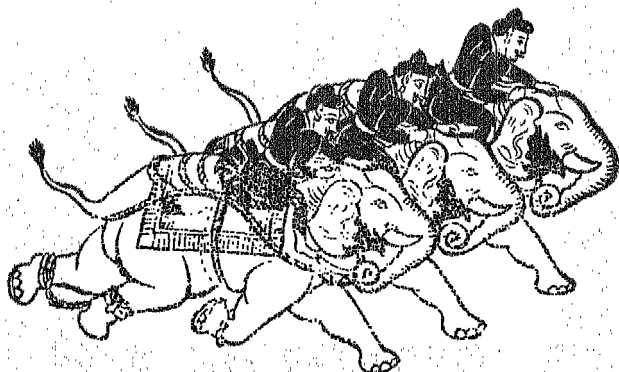
कृपया अपनेसे पूछिये !

महाभारतका युद्ध बहुत-सा बीत चुका था, पर अभी चल रहा था। पाँसा निश्चित रूपसे पांडवोंके पक्षमें था, कौरवोंके बड़े-बड़े महारथी काम आ चुके थे और पांडवोंका झण्डा कौरवोंकी छावनीपर फहराने वाला ही था।

युद्धकी भूमिसे दूर बैठे संजय अपने योगबलसे अन्धे महाराजा धृतराष्ट्र-को युद्धका हाल बता रहे थे। तभी धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा—"क्या अब भी हमारी जीत हो सकती है संजय ?"

बड़ी नाजुक परिस्थिति है। अन्धा राजा कुटुम्बकी लड़ाईसे व्यथित, फिर उसका परिवार पराजयकी और और सर्वनाशकी घड़ियाँ सामने, जिसमें राज्य भी नष्ट और पुत्र-पौत्र भी भस्म और यों आजका राजा कलका भिखारी ! पशु भी इस दशामें करुणासे लथपथ हो उठें, फिर सहृदय संजय क्या उत्तर दें ? गप्प तो वे मार ही नहीं सकते !

चतुरता और मधुरता को मिलाकर वे कहते हैं—

"आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान् ।
हते भीष्मे, हते द्रोणे, कर्णे च विनिपातिते ॥"

राजन्, आशा बड़ी बलवती है कि कहती है—शल्य ही पाण्डवोंको जीत लेगा; हालाँकि महाबली भीष्म मर चुका है, गुरु द्रोणाचार्य भी नहीं रहे और कर्ण भी गिरा दिया गया !

परिस्थितियोंको देखकर उसकी असफलताका हम अनुमान कर सकते हैं। संजयने झूठ नहीं कहा और राजाको एक क्रूर धक्का भी न लगा।

सच सच है, सत्य ही ईश्वर है, पर कोरा सत्य बहुत पैना होता है, इसलिए उसपर मिठासकी पालिशका विधान नीतिने किया है—"सत्यं

ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् !" सत्य कहिये, पर प्रिय कहिये, अप्रिय सत्य, ना ना, मत कहिये !

यहींपर यह प्रश्न-सत्य ईश्वर है, तो हम उसके साथ यह सौदा, यह मेल-मिलाव क्यों करें ?

"अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता सुदुर्लभः !!"

यह मेल-मिलाव हम इसलिए करें कि अप्रिय सत्य कितना भी हितकारक हो, उसका सुननेवाला और कहनेवाला, दोनों ही अत्यंत दुर्लभ हैं !

यहाँ मनोविज्ञानकी शरण लेनी पड़ेगी, नहीं तो एक क्यों खड़ी रह जायगी ?

अप्रिय सत्यका श्रोता अत्यंत दुर्लभ है, क्यों ? यात्री चला जा रहा है, उसके कंधेका अंगोछा गिर गया है पर उसे पता नहीं, वह चला जा रहा है। मैंने देखकर उसे पुकारा—अबे, किस पिनकमें है कि अंगोछा गिर गया, पर नवाबको पता ही नहीं; चले जा रहे हैं, ऊँटकी तरह गर्दन उठाये !

यात्री अंगोछा उठाकर चल पड़ता है, पर धन्यवाद नहीं देता, क्योंकि उसका मन सूचनाकी कृतज्ञतासे नहीं, पिनक, नवाब और ऊँटकी तेज़ीसे भर रहा है।

लड़का पढ़ता ही नहीं, माँने उसे पास बुलाया कि दो चपत जड़े, पर तभी पड़ोसीने कहा—"अरे, पढ़ता नहीं, तो क्या भीख माँगकर खायेगा ? जैसा बाप आवारा है, वैसा ही बेटा बनेगा, और क्या !"

माँ कठोर होकर पड़ोसीको देखती है और पुत्रको पीटनेके बदले, गोदमें चिपटाकर पड़ोसीसे कहती है—"भीख माँगेगा या राज करेगा, तुम्हें क्या ? जब यह तुम्हारे दरवाज़े आये, तो जाना, किवाड़ बन्द कर लेना !"

माँ अचानक यह बदल क्यों गई ? पड़ोसीने बात तो सच्ची कही थी, हितकी कही थी !

वही बात है, जो नीतिकारने कही थी कि अप्रिय सत्यका श्रोता दुर्लभ है, क्योंकि सत्यकी अप्रियता श्रोताके मनकी उस कोमल वृत्तिको कुण्ठित कर देती है, जो सत्यको ग्रहण करती, पचाती है। सत्य कहो, पर वह लिया जा सके, पचाया जा सके, इसलिए उसे प्रिय रूपमें मधुर बनाकर कहो।

"और क्यों जी, अप्रिय सत्यका कहनेवाला अत्यंत दुर्लभ क्यों है ?"

सच है कि यह प्रश्न पहलेसे ज्यादा गहरा है। कहनेवाला जब सत्यको अप्रिय रूपमें कहता है, तो उसके स्वरमें एक कड़बाहट वाणीतक ही नहीं रुकती, भीतर मनको भी स्पर्श करती है और जिस कहनेवालेका मन कड़वा है, वहाँ हित-चिंता दुर्भावना हो जाती है, क्योंकि दुर्भावनाका मूल पिता है क्रोध, तो यह बात हरेकके वसकी नहीं कि कड़वी बात कहे और क्रोधसे अछूता रहे, इसीलिए अन्तर्द्रष्टा कविने कहा कि अप्रिय और हितकारक सत्यका वक्ता और श्रोता दोनों अत्यंत दुर्लभ हैं।

सिद्धांत यह बना कि सच कहो, पर मीठे होकर, झूठ न बोलो, पर कड़वाहटसे दूर रहो।

कृपाकर अपनेसे पूछिये कि किसीकी भूल आप सुधार रहे हों या उसे नया परामर्श दे रहे हों, आपका मन, आपकी वाणी और आपका लहजा कड़वा तो नहीं होता ?

[२]

यह कोई अद्भुत अनुभव नहीं है कि हम अपने ही घर या किसी दूसरेके मेहमान हों तब बाल बाहनेके लिए कंघा उठायें और पायें कि कंघा किसीके बालोंसे भरा है—साफ़ है जो सज्जन पहले बाल बाह गये हैं, वे उसे साफ़ करके नहीं रख गये !

यह कोई खास बात है, यह कभी मुझे नहीं लगा था, पर उस दिन जब मैं एक बहुत बड़े घरमें मेहमान था, तो यों ही यह बात मेरे लिए ख़ास बात हो गई !

मैं गैलरीमें बैठा उनसे बात कर रहा था। मेरी कुरसी कुछ इस तरह थी कि वहाँसे पासके कमरेकी श्रृंगार-मेज़ साफ़ दिखाई देती थी। सबसे पहले एक सात वर्षकी लड़की बाल बाहने आई। उसने कंघा उठाया, तो बालोंसे भरा। कंघा साफ़ कर उसने बाल ठीक किये और बिना कंघा ठीक किये वह चली गई। तब आईं उसकी माताजी, तब आईं बड़ी बहन, तब भाभी, दूसरी भाभी और फिर बड़ी बहन, पर हाल सबका वही कि आये, कंघा उठाया, साफ़ किया, बाल बाहे और ज्यों का त्यों कंघा छोड़कर चल दिये।

मैं बहुत ग़ौरसे यह सब देखता रहा। शामको जब सब लोग बाहर बग़ीचेमें बैठे, तो मैंने पूछा——क्योंजी, अगर ऐसा क़ानून बन जाये कि हरेक आदमीको एक कमरा ज़रूर साफ़ करना पड़ेगा, तो आप लोग अपना-अपना कमरा साफ़ किया करेंगे या एक दूसरेका?

सबका एक ही उत्तर था——अपना, पर वे आश्चर्यमें थे कि यह क्या प्रश्न यहाँ उठ गया। तब मैंने नया प्रश्न पूछा——क्यों जी, झाड़ू लगानेके संबंधमें यदि अपने अपने कमरेका नियम ठीक है, तो कंघेके बारेमें आप लोग इसी नियमका पालन क्यों नहीं करते कि हरेक अपना कंघा साफ़ करे?

अब वे सब हँस पड़े, पर इस हँसीका अर्थ टालना नहीं था। दूसरे दिनसे मैंने देखा हरेकने अपना कंघा साफ़ किया। बात भी ठीक है कि कंघा तो साफ़ करना ही है। बस फ़र्क़ इतना है कि पहले करें या बादमें और अपना मैल साफ़ करें या दूसरेका। मतलब साफ़ है कि हरेक अपना कंघा खुद साफ़ करे; क्योंकि उसे दूसरेपर छोड़नेका अर्थ ही है——दूसरेका मैल साफ़ करनेको तैयार होना!

कृपया अपनेसे पूछिये कि आप अपना मैल साफ़ करते हैं या दूसरेका?

[३]

उन्हें खानेका बहुत शौक़ था। वे मेरे पड़ोसमें ही रहते थे। मैं देखता कि वह अक्सर अपनी पत्नीको चौकेसे उठा देते और खुद सब्ज़ियाँ बनाते।

सचमुच उनकी सब्जियाँ बहुत स्वादु होतीं और जो कोई खाता, उंगलियाँ चाटता रह जाता।

उनकी पत्नी मर गई और लड़केकी बहू आई। बहू भी खाना बनानेमें मास्टर थी। वे उसके भोजनकी सबसे प्रशंसा करते। आदमी मैशीन नहीं है कि बराबर एक-सा रहे। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बहूका खाना उन्हें पसन्द न आता। जिस दिन ऐसा होता, वे बहूके मुँह पर उसकी बहुत तारीफ़ करते और मिठाई खानेके लिए एक रुपया बहूको देकर बिना उसके भोजनकी निन्दा किये, कहते---बेटा नमक-मिर्च-मसाला ही सब्जीकी जान नहीं है। ठीक छौंक, ठीक आँच, बस आगमें बाग लग जाता है।

× × × ×

एक भाई हमारे पड़ौसमें रहते हैं और एक बाहर अपनी नौकरीपर। वे एक बार अपने भाईसे मिलनेको आये, तो सब्जियोंमें नमक ज्यादा था। वे चुप रहे। कुछ दिन बाद फिर आये! समयकी बात, नमक उस दिन भी ज्यादा। भाईकी बहूसे बोले---अरे भई, तुमने न दालमें नमक डाला और न सब्जीमें। ख़ैर, मैंने तो खा लिया, पर औरोंके लिए तो डाल दो। बहूने दोनोंमें फिरसे पूरा नमक डाल दिया। अब सब्जी गिलोय और दाल चिरायता!

× × × ×

एक और पड़ौसी हैं हमारे। बापका कमाया धन बैंकोंमें है। मज़ेसे गुजर रही है। करते कुछ नहीं, चरते बहुत हैं। उस दिन खाना खाने बैठे, तो सब्जीमें नमक कम और दालमें ज्यादा। अंगूठा और एक अंगुलीसे थालका किनारा साधकर एक झटका और बस थाल, कटोरियाँ और चम्मच, झनझनके साथ रसोईके फ़र्शपर। रसोईका वातावरण अब ऐसा कि जैसे अचानक दो रेलगाड़ियाँ लड़ गई हों!

× × × ×

ये हैं हमारे तीन पड़ौसी और उनके तीन ही तरहके तक़ाज़े। तक़ाज़े; यानी तक़ाज़ा करनेके, अपनी बात कहनेके तरीक़े ! हमारा ख़याल है कि आप पहलेको नं० एक, दूसरेको नं० दो और तीसरेको नं० तीन मानेंगे, पर कृपया अपनेसे पूछिये कि जब आपके घरमें कोई बात आपके मन-माफ़िक़ नहीं होती, तो आप कौनसा तरीक़ा काममें लाते हैं ?

[४]

लाला श्यामसुन्दर लाल खाते-पीते आदमी हैं। कमाना जानते हैं, तो खर्चना भी। दफ़्तरमें हमेशा शानदार मेज़ रहती है, जो हर साल रंगी जाती है। कमरेमें क़लई सालमें दो बार कराते हैं और दीवारोंमें तस्वीरें भी जड़ी रहती हैं—

पर उनका क़लमदान कभी साफ़ नहीं रहता। कभी उसमें स्याही नहीं होती, तो कभी पानी नहीं और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि श्यामसुन्दर-लाल दरिद्री हैं।

× × ×

भाई हफ़ीज़ सुबह उठकर चाय मिले या न मिले, पर हजामत ज़रूर बनाते हैं। शौक़ीन आदमी हैं, लाख काम हों, दिनमें दो बार कपड़े बदलते हैं और इत्रके बारेमें उनका ज्ञान एक रिसर्च स्कालरका है कि किस ऋतुमें कौनसा इत्र लगाना ठीक है—

पर उनके नाकके बाल और उंगलियोंके नाख़ून हमेशा बढ़े रहते हैं। कभी वे उन बालोंको चूँटते होते हैं, तो कभी उन नाख़ूनोंको दाँतसे काटते रहते हैं और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि भाई हफ़ीज़ दरिद्री हैं।

× × ×

सरदार ज्ञानसिंह बड़े लायक़ आदमी हैं। एक बड़े कारख़ानेके मालिक हैं और उसका ऐसा प्रबन्ध करते हैं कि हर सालका मुनाफ़ा पहले सालसे

कुछ बढ़ा ही होता है। खास बात यह है कि वे अपने साथियों और मातहतोंमें उदार प्रसिद्ध हैं। उनका व्यवहार सभीके साथ साफ़-स्वच्छ है—

पर वे लेटनेको अपने पलंगपर जायें या सोनेको, नीचे रक्खे पा-पोश पर, पैर नहीं पोंछते और इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि ज्ञानसिंहजी दरिद्री हैं।

× × ×

दरिद्रता एक भावना है और वह बाहरकी समृद्धि होते भी हममें रह सकती है।

श्यामा घरके फ़र्शको माँजकर धोती है, पर छतमें जाले नहीं देखती और बलदेवसिंह जब पान खाते हैं होठोंसे बाहर आध-आध इंच गाल भी लाल किये रहते हैं। रामचन्द्रजी जहाँ देखते हैं, पानकी पीक थूक देते हैं और रहीम दोस्तोंकी चिट्ठियोंका जवाब नहीं दे पाते! मैं इन सबको दरिद्री कहता हूँ, क्योंकि ये लोग एक बातको ठीक समझते हैं, पर करते नहीं।

कृपया अपनेसे पूछिये कि आप भी तो कहीं दरिद्री नहीं हैं?

[५]

कहीं बाहरसे या अपने ही चौकसे आकर जब मैं अपने पलंगपर बैठता हूँ, तो जूता नीचे निकाल देता हूँ, जैसा कि सभी करते हैं। इस बारेमें भी किसी सोच-विचारकी जरूरत है, यह कोई नहीं मानता, जैसा कि मैं भी नहीं मानता था, पर अभी कुछ दिन हुए मेरे मनमें यह सोच-विचार उठा और मुझे लगा कि यह जीवनका एक जरूरी प्रश्न है।

हम बाहरसे पलंगके पास आते हैं, तो जूतेका—चप्पलका मुँह पलंगकी ओर होता है, पर इस हालतमें जब हम [illegible] डालते हैं, तो हमारे पैर और जूतेका मुँ[illegible] और हमें पहले जूता सीधा करना पड़ता है, तब हम उसे पहन पाते हैं। तो फिर क्या किया जाए?

चप्पल-जूता निकालनेका सही रुख़ यह है कि हम बाहरसे आकर पलंगपर नीचे पैर लटकाये हुए बैठ जायें और तब जूता निकालें। इससे जूतोंका मुँह बाहरकी तरफ़ रहेगा और फिरसे पहनते समय वे हमें सीधे रुख़ मिलेंगे।

इससे एक फ़ायदा यह है कि जूता निकालनेके बाद हम पैरसे पैर मलकर या किसी कपड़ेसे पैर साफ़ कर सकते हैं, जिससे कपड़े गन्दे न हों।

कृपया अपनेसे पूछिये कि क्या आप मेरे प्रयोगको पसन्द कर इसकी आदत डालनेको तैयार हैं ?

[६]

हमारे एक साथी हैं। जीवन भर कहीं न कहीं आर्य समाजके मन्त्री रहे और खद्दर पहना। वायुमण्डलकी शुद्धिके लिए वे रोज़ हवन ही नहीं करते, देह-शुद्धिके लिए साबुनकी टिकियाके साथ स्नानगृहमें काफ़ी गहरा संघर्ष भी करते हैं।

एक दिन आर्यसमाजके साप्ताहिक सतसंगमें मिले। हवन-यज्ञ और कीर्तन-कथाके बाद हलवा-प्रसाद मिला। खाकर हाथ धोये, तो देखा कि हमारे वे साथी अपनी लहराती खादीकी धोतीसे हाथ पोंछ रहे हैं। हमने समझा बेचारोंके पास रूमाल नहीं, तो हमने अपना रूमाल बढ़ाया। बड़ी बेफ़िकरीसे बोले—"नहीं, बस काम हो गया है !" काम तो हो ही गया, पर हमने देखा कि उनकी चमचमाती धोतीका निचला हिस्सा चिकना हो गया था। बादमें एक दिन हमने उनकी धोती उसी जगहसे पीली हुई देखी और उनकी पत्नीसे जाना कि घरमें चाहे १०० तौलिये हों, पर मन्त्री जी हाथ धोतीसे ही पोंछते हैं !

× × ×

हमारे एक साथी हैं। बाप-दादाकी दौलत भोगते हैं और शानसे जी रहे हैं। उनकी कोठीमें कई बार गया, तो देखा कि और तो सब ठीक है, पर

दरवाज़ोंके परदे गन्दे हो रहे हैं और खास बात यह कि हर परदा एक खास जगहसे और खास ढंगसे मैला हो रहा है।

एक दिन हमने उनके ही घर भोजन किया, तो देखा कि हमारे मित्र और उनके बच्चे परदोंसे ही हाथ पोंछते हैं।

× × ×

हमारे एक और मित्र हैं। साहित्यिक रुचिके आदमी हैं और टिपटाप रहते हैं। उनका उनकी श्रीमतीजीसे अक्सर इस बातपर झगड़ा होता है कि श्रीमतीजी पलंगकी चादरके कोनेसे हाथ पोंछ लेती हैं—भले ही हाथ पानीसे भीगे हों या छौंकके मसालेसे सने हों; बहुतसे बच्चोंको अपने कुरतेसे हाथ पोंछनेकी आदत होती है और उनके कुरते सदा रंगे रहते हैं।

× × ×

यह सब अलग-अलग नमूने होकर भी भीतरसे एक ही हैं, क्योंकि इन सबकी जड़में मानसिक आलस्य और प्रमादका यह भाव है—"अरे चलो, अब तौलिया कहाँ देखें, जो सामने है उसीसे हाथ पोंछ लें!"

जो लोग धोती, परदे और चादरसे हाथ न पोंछकर सदा तौलियेसे ही हाथ पोंछते हैं, उनमें यह आलस्य और प्रमाद न हो, ऐसी बात नहीं। घीमें डूबी सब्ज़ियाँ खाकर उठे हैं और हाथ धोकर तौलियेसे पोंछा है। तौलिया पीला हो गया है—साफ़ सुथरा तौलिया एकदम गन्दा; क्योंकि हाथकी चिकनाई साबुन या मिट्टीकी रगड़ाई चाहती थी, पर वही बात—"अरे चलो, कौन रगड़े, तौलिया खराब होगा, हो जायेगा।"

× × ×

हाथ पोंछनेके लिए हमेशा तौलिये-अंगोछेका ही उपयोग कीजिए, पर हाथ पोंछनेसे पहले हाथोंको साफ़ करना न भूलिए, क्योंकि तौलियेका काम आपके गीले हाथोंको पोंछ डालना है, [illegible] नहीं।
कृपया अपनेसे पूछिए कि आप तौलियेका सही उपयोग करते हैं या नहीं?

[७]

राधेश्याम रात-दिन पढ़ता है। पुस्तकको देखते ही वह उसपर भूखे बाघ-सा टूट पड़ता है। जहाँतक बने, मोल लाता है, माँग भी लेता है और दाव बैठे, तो उड़ा लानेमें भी नहीं चूकता।

वह पुस्तकमें डूबा रहता है और उसकी पत्नी खाना खानेका तक़ाजा किये जाती है। वह कहता है आ रहा हूँ तुम परसो, पर उठता नहीं। कभी-कभी इस बातपर बोल-चाल भी हो जाती है और पत्नी खाना ज्यों-का-त्यों छोड़कर तकियेमें मुँह दिये जा लेटती है।

रातमें तो बिना पढ़े, वह सो नहीं सकता और कई बार राह चलते समय भी पुस्तकमें आँख गड़ाये, वह तगड़ी ठोकरें खा गया है।

राधेश्याम एक पठनशील युवक है, पर वह अपनी पढ़ी हुई पुस्तकोंके ज्ञानका जीवनमें व्यवहार तो दूर, बातचीतमें भी कभी उसका उपयोग नहीं करता। वह कहता है—पुस्तक सामने आई पढ़ ली, आनन्द ले लिया। अब यह क्या जरूरी है कि उसे रटे फिरूँ। यह कोई गीता तो नहीं कि उसका पाठ किये, पुण्य मिले। दिमाग़ कोई कबाड़ीकी दुकान तो नहीं कि उसमें हर चीज भरी रह सके; जो मिला सो ठूँस लिया। रेलमें, जल्सोंमें, सिनेमामें, बाजारमें, हजारों आदमी मिला करते हैं। अब किस किसकी सूरत, नाम और पते याद रक्खे जायें?

राधेश्याम पढ़ी हुई पुस्तकोंको देखकर कुछ दिन बाद यह भी नहीं बता सकता कि यह उसने पढ़ी है या नहीं, पर बिना पढ़े उसे चैन नहीं पड़ती।

× × ×

बिलिमोरिया भी पठनशील है। क़मीज भले ही फटी पहने, पर पुस्तक देखकर पसन्द आ जाये, तो बिना खरीदे नहीं रह सकता। कई पुस्तकालयोंका भी वह सदस्य है और उनसे पुस्तकें मंगाता रहता है।

बिलिमोरियाकी पसन्दके अपने लेखक हैं और अपने विषय। वह पुस्तक

पढ़ता है और उनके फिर नोट लेता है। नोट भी विषयवार होते हैं और बही-खातेकी तरह वह उन्हें इस तरह रखता है कि जरूरत पड़नेपर तुरन्त निकाल सके।

विश्वविद्यालयकी बड़ी श्रेणियोंके विद्यार्थी अक्सर उसके पास आते हैं और उसके नोटोंका लाभ उठाते हैं। वह उन्हें इस सरलतासे सबको समझा देता है कि उन्हें सुख भी मिलता है और सुभीता भी। बहस तो उसकी कभी रुकती ही नहीं।

जब-तब सभा-सम्मेलनों और पत्र-पत्रिकाओंमें उसकी प्रशंसा होती है। उसे पढ़-सुनकर उसकी पत्नी कहा करती है—"इन प्रशंसकोंको क्या पता कि यहाँ पढ़ाई ही पढ़ाई है, सिखाई खाक नहीं। जो बुरी आदतें १५ साल पहले थीं, वे ही अब भी हैं—आखिर ऐसे पढ़नेसे क्या लाभ?"

× × ×

रहमानकी भी जान हैं किताबें। कोई उसकी अंगूठी माँगे, तो दे देगा, पर किताब माँगे, तो उसकी जान सूख जायगी। सुबह उठते ही वह २-३ घंटे पढ़ता है और फिर डायरी लिखता है। वह साल भरमें एक-दो ही नई किताबें खरीदता है और बार-बार अपनी उन्हीं किताबोंको पढ़ता रहता है।

पहले वह पूरा शैतान था, अब फ़रिश्ता हो गया है, यह उसकी माँ, पत्नी और पड़ोसियोंकी राय है। वह कहा करता है—"ये किताबें मेरी साथी हैं, जो मुझे बहकनेसे बचाती हैं।"

× × ×

राधेश्याम बहुत पढ़ता है, पर कुछ नहीं जानता। पढ़ना उसके लिए आदत है, व्यसन है। वह मूर्ख है—बुद्धिका फ़िज़ूलख़र्च!

बिलिमोरिया ख़ूब पढ़ता है और बहुत जानता है। पढ़ना उसके लिए शौक़ है। वह विद्वान् है—ज्ञानका भंडारी कंजूस!

रहमान कम पढ़ता है और बहुत सीखता है। पढ़ना उसके लिए पढ़ना है। वह जीवनका साधक है।

× × ×

कृपया अपनेसे पूछिये कि आप राधेश्याम, बिलिमोरिया और रहमान, इन तीनोंमेंसे किसकी श्रेणीमें हैं और यदि पहले दोमें आप हैं, तो क्या अब तीसरीमें आनेका प्रयत्न आरंभ कर रहे हैं ?

[८]

श्री पाटिल बहुत होनहार युवक हैं। विश्वविद्यालयमें उनका मान है—हमेशा फ़र्स्ट आते हैं। उनमें एक कमी है कि सिगरेट बहुत पीते हैं। इसका उनके स्वास्थ्यपर बुरा प्रभाव पड़ता है। वे इसे छोड़ना चाहते हैं, पर छोड़ नहीं पाते।

उस दिन किसी पत्रमें उन्होंने पढ़ा कि सिगरेटका जहर फेफड़ेको काटता है, तो निर्णय किया कि वे अब न पियेंगे। उन्होंने तीन दिनतक सिगरेट छुई भी नहीं, पर चौथे दिन पिकनिकमें यार-दोस्त लिपट गये और वे फिर सिगरेट पीने लगे।

पाटिल विवाहित हैं। उस दिन कह रहे थे—पत्नी ऐसी जिद्दी है कि मेरी कोई बात मानती ही नहीं। सौ बार कहा कि हर चीज़ कमरेमें व्यवस्थासे रहनी चाहिए, पर वह उसे कबाड़ीकी दुकान बनाये रखती है। कई बार मैं उससे बोलना छोड़ चुका, नाराज़ हुआ, पर वह सुनती ही नहीं।

× × ×

शमशुद्दीन बड़ी उम्रके आदमी हैं—खाते-पीते और भले मानुष। एक बड़ी संस्थाके वे संचालक हैं, उसका सब काम उनके हाथोंमें है। संस्थाका काम करनेमें उन्हें कोई दिक्क़त नहीं होती, करते-करते काम उन्हें रवाँ हो गया है, पर सालके अन्तमें जब हिसाब बनता है, तो यह परेशानी आती है कि बहुतसे वाऊचर नहीं मिलते और बहुत जगह ऐसा होता है

कि बिलपर लिखा रहता है कि रक़म सात तारीख़को आ गई, तो कैशबुकमें वह जमा होती है बाईस तारीख़को ।

औडीटर इसपर एतराज़ करता है, परेशान करता है और शमशुद्दीनपर बुरी तरह झाड़ पड़ती है । यह सब रोज़का हिसाब रोज़ न लिखने और तुरन्त वाऊचर न बनानेकी लापरवाहीका फल है ।

हर बार शमशुद्दीन साहब कान पकड़ते हैं, तौबा करते हैं, क़समें खाते हैं । दो चार दिन इसका असर भी पड़ता है, काम ठीक चलता है, फिर इरादे हार जाते हैं, आदत जीत जाती है, और वही ढर्रा चलने लगता है ।

शमशुद्दीन साहबका कुनबा बड़ा है । बेटे हैं, पोते हैं, बेटियाँ हैं, बहुएँ हैं । सब तरहका सुख है, पर वे सुखी नहीं हैं । उन्हें दुख है कि कुनबेमें कोई उनकी नहीं सुनता । वे चिल्लाते हैं, रूठते हैं, खाना छोड़ देते हैं, पर पतनाला वहीं पड़ता रहता है ।

× × ×

प्रिंसिपल डेविडकी उम्र ६० से कम नहीं, पर वे जवानोंसे अधिक फुरतीले हैं । पहले बहुत बीमार रहा करते थे, पर अब बीमारी उन्हें देख कर दूर भागती है । बात यह हुई कि वे पहले बहुत शराब पीते थे । एक दिन किसी डाक्टरने कहा—"या तो शराब छोड़ दो, या जीनेकी उम्मीद !"

बस वे चौकन्ना हो गये और उसी दिन उन्होंने शराबकी सब बोतलें फोड़ दीं । आज तक इसके बाद उन्होंने शराब नहीं पी । एक पुस्तकमें उन्होंने पढ़ा कि प्रातःकाल उठकर घूमना स्वास्थ्यके लिए उपयोगी है । वे सुबह देर तक सोया करते थे । उसी दिनसे ४ बजे उठने लगे । फिर एक दिन भी कभी लेट नहीं हुए ।

उनके कालेजमें कोई साढ़े सात सौ लड़के हैं—सबसे बड़ा कालेज नगरमें उन्हींका है और वही सर्वश्रेष्ठ है । दूसरे सब कालेजोंमें हड़तालें होती हैं, हल्ला मचता है, पर उनके यहाँ तो जो डेविडने कह दिया, हो गया,

यह हाल है । न उनकी बात टालनेकी ताक़त विद्यार्थियोंमें है, न प्रोफ़ेसरोंमें—कालेजका वातावरण उन्हींके चारों तरफ़ घूमता-सा रहता है :

× × ×

ये तीन मनुष्योंके तीन चित्र हैं, पर असलमें ये दो ही चित्र हैं । श्री पाटिल और श्री शमशुद्दीन दो होकर भी एक हैं । वे अपनी सब कमियोंको जानते हैं, मानते हैं उन्हें दूर करना चाहते हैं । उसके लिए निर्णय करते हैं, पर उस पर टिक नहीं पाते । श्री डेविड अपनी कमियोंको जानते हैं, मानते हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं, उसके लिए निर्णय करते हैं और उस निर्णय पर अटल रहते हैं ।

कृपया अपनेसे पूछिये कि आप श्री पाटिल और श्री शमशुद्दीनकी श्रेणीमें हैं या डेविड की ? और यदि अभी तक पहली श्रेणीमें हैं, तो क्या आजसे दूसरी श्रेणीमें आनेका दृढ़ निश्चय करेंगे ? इस निश्चयसे पहले यह समझ लीजिये कि जो अपना निश्चय स्वयं नहीं मानता, उस पर अटल नहीं रहता, अपने भी उसका निश्चय-निर्देश नहीं मानते । श्री पाटिल, श्री शमशुद्दीन और श्री डेविडकी असफलता एवं सफलताका यही रहस्य है ।

[६]

अभी उस दिन हमारे एक सहृदय बन्धुका टेलीफ़ोन आया कि जरा आ जाओ, तो मैं पैदल ही उठकर चल दिया । रास्तेमें पड़ा कचहरीका पुल—ऊपरसे सड़क और नीचेसे रेल जा रही है ।

पुल पर आया, तो देखा कुछ लोग साइकिल-रिक्शामें बैठे जा रहे हैं । चढ़ाईपर रिक्शा पैरोंसे तो खिंच नहीं सकती, इसलिए रिक्शा वाला स्वयं पैदल चल हाथोंसे रिक्शा खींचता है । रिक्शाको हाथों खिंचती देख मेरा मन गहराईमें उतर गया और मैंने सोचा [illegible] मनुष्योंका एक नया श्रेणी, विभाग भी हो सकता है ।

वह चली आ रही है एक रिक्शा । एक आदमी रिक्शामें सवार है

और ज्योंही ढालपर रिक्शावाला उतरा कि वह रिक्शामें बैठा यात्री भी उतर पड़ा। अब यात्री भी पैदल और रिक्शा वाला भी। ४—५ मिनटमें दोनों पुल पर पहुँच गये और यात्री फिर रिक्शामें बैठ गया। रिक्शा ढालपर सपाटेसे रपट चली। मैंने सोचा—यह यात्री मनुष्य है; क्योंकि इसे दूसरे-का दुख अनुभव होता है और यह दूसरेके दुखके लिए अपना सुख छोड़ सकता है।

वह चली आ रही है दूसरी रिक्शा। इसमें भी एक यात्री बैठा है। रिक्शा वाला पैदल रिक्शा खींच रहा है और यात्री भी उसके साथ ही खिंच रहा है। रिक्शा पुल पर आई तो यात्री बोला—"भाई, बड़ी मेहनतकी कमाई है तुम्हारी!"

मैंने सोचा—यह यात्री भैंसा है, जो दूसरेका दुख अनुभव तो करता है, पर उसके लिए त्याग करनेको तैयार नहीं।

तीसरी रिक्शा भी सामने ही है। इसमें भी बैठा है एक यात्री काफी मोटा ताजा। रिक्शावाला एक लड़का है कच्ची उम्रका। रिक्शा उससे खिंचती नहीं, पसीना उसे छूट रहा है। थककर उसने कहा—"लाला जी, जरा उतर जाओ।" गुर्राकर यात्रीने कहा—"क्यों पैसे नहीं लेगा, जो उतर जाऊँ।" और वह अकड़कर बैठा ही न रहा, हँसी भी करता रहा—"अबे खींच; लगा जोर!"

मैंने सोचा यह यात्री भेड़िया है, जिसके लिए दूसरेका दर्द, दूसरेकी तड़पन भी रास-रंग है।

आगे बढ़ते-बढ़ते मैंने सोचा—मनुष्योंमें मनुष्य भी हैं, भैंसे भी और भेड़िये भी। कृपया अपनेसे पूछिये कि इस कसौटी पर कसनेके बाद आप मनुष्य हैं, भैंसे हैं या भेड़िये हैं और आखिरी दोमें आप आते हैं, तो क्या आजसे पहली श्रेणीमें आनेका प्रयत्न आरम्भ करेंगे?

कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ

जीवन, मनुष्यकी ज़िन्दगी, एक सरल सीधी राह है। पक्की सड़क-सी सीधी और साफ़, पर सड़कमें चौराहे आते हैं, तो आदमी उलझ जाता है कि इधर जाए या उधर और उसकी चाल रुक जाती है। अब वह होता है एक कठपुतली कि जिधर कोई चला दे, वह चले और कोई चलानेवाला न हो, तो बस झाँका करे घिरे हुए बन्दर-सा, कभी इधर और कभी उधर। इस मनुष्यकी ज़िन्दगीमें भी उस सड़क जैसे कुछ चौराहे ऐसे हैं कि वहाँ आकर आदमी उलझ जाता है कि यह ठीक या वह ठीक और यह करे या वह करे।

"अरे साहब, आप जाने किन लोगोंकी बात करते हैं यह सब, हर बातमें तर्क, हर बातमें प्रश्नोंकी झड़ी और हर बातमें सत्य-अहिंसाके झमेले; हम भी बीसियों वर्षोंसे इसी धरती पर जी रहे हैं। हमारी ज़िन्दगीमें तो न कभी सड़क आई, न चौराहा। बस खाते हैं, पीते हैं, मौज करते हैं।" लो, ये आ गये महेन्द्र साहब और मेरी बातके बीचमें ही टपक पड़े।

हूँ हूँ; ठीक कहते हैं आप। सचमुच मैं आप जैसोंकी बात नहीं कहता, मैं तो अपने ही जैसोंकी बात कह रहा था, जिन्हें पग-पग पर सोचना पड़ता है और सोचकर ही हर पग चलना पड़ता है। आप जैसोंकी बात तो हमारे महात्मा तुलसीदास सदियों पहले कह गये हैं।

"यह क्या कह रहे हैं आप कि हमारे जैसोंकी बात महात्मा तुलसीदास कह गये हैं। तो क्या कह गये हैं वे, जरा बताइये तो!"

जी, वे कह गये हैं कि **"सबसे भले हैं मूढ़, जिन्हें न व्यापै जगत गति"**; तो भाई साहब, आप तो उन लोगोंमें हैं जिन्हें जगत्की कोई बात छूती नहीं,

पर हमें तो जीवनके हर चौराहे पर चौकन्ना होकर सोचना पड़ता है कि कहीं उलझ न जायें ।

"आखिर वे उलझनें क्या हैं ?"

उलझनें ? चारों तरफ उलझनें ही उलझनें हैं, सोचनेवालेके लिए आज हमारे हजारों साथी जिस उलझनमें उलझे हुए हैं, उनमें एक है कोशिश और दूसरी कामयाबी ।

"आपकी इन्हीं बातोंको तो मैं झक कहता हूँ । वाह, क्या छौंक लगाते हैं आप भी । दुनियामें दो उलझनें हैं एक है कोशिश और एक है कामयाबी । मालूम होता है लाल बुझक्कड़ मरते समय अपनी खोपड़ी आपके यहाँ धरोहर रख गया है कि कभी स्वर्गसे वापस लौटा, तो उसे ले लेगा और आपकी बातचीतसे पता चलता है कि आप अब उस बेचारेके लौटने से एक दम निश्चिन्त हैं और उस खोपड़ीको रात-दिन रगड़ रहे हैं ।"

हमने जीवन-दर्शनकी इतनी गहरी बात आपके सामने रखी और आप उसे लाल बुझक्कड़की खोपड़ीकी रगड़ ही बता रहे हैं । वाह, वाह, बात भी कहें तो बस आप जैसे-से कहें कि कहें अंगूर और समझें लंगूर !

"जी, जी, यही बात है । आपने कही जीवन-दर्शनकी इतनी गहरी बात और हमने उसे लाल बुझक्कड़की खोपड़ीकी रगड़ ही बता दी, पर खैर, बता दी सो बता दी, अब आप हमारी गुरु-गीताकी भी एक बात सुन लें । कोशिश और कामयाबी ये जीवनकी उलझनें नहीं हैं जैसा कि आप अभी कह रहे थे । इन दोनोंके मिलनेमें एक ऐसी दवा छुपी है कि जिन्दगीकी सब उलझनें उससे अपने आप सुलझ जाती हैं ।"

आज तो आप सचमुच बड़ी दूरकी कौड़ियाँ ला रहे हैं [illegible] साहब! अच्छा बताइये तो सही कि वह क्या दवा है, जिससे जिन्दगीकी सब उलझनें सुलझ जाती हैं ?

"दवा ? आप तो इस तरह चमक कर पूछ रहे हैं कि जैसे मेरी दवा हकीम [illegible], वैद्य [illegible]

या विलायती डाक्टरकी निगोडीन हो । मेरी दवा एक विचार है, एक युक्ति है, एक तरकीब है, जो उलझनोंको सुलझाती है और उलझिये मत लीजिये वह दवा है—कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ !"

वाह भाई, यह क्या खाक दवा है, यह तो एक पुराना बहाना है ।

"यह बहाना है या क्या है, इसे समझनेके लिए जब तक मैं जीवित हूँ आपको बुद्धिका व्यायाम करनेकी जरूरत नहीं । आप सरलताके साथ मेरे अनुभवोंसे लाभ उठा सकते हैं । मैं अपने मुहल्लेमें सबसे बड़ा आदमी समझा जाता हूँ और मुश्किल यह कि धन-दौलतमें ही नहीं, मनुष्यतामें भी । सब लोग मेरे ऊँचे मकानसे ही प्रभावित नहीं हैं, मेरी सज्जनताके कृतज्ञ भी हैं । आप मुझे बहुत भाग्यशील कहेंगे कि मेरे हिस्सेमें दाम भी आया और नाम भी, पर मैं बड़ा ही बदनसीब सिद्ध होता, अगर कोशिश और कामयाबीकी यह दवा मेरे पास न होती ।"

यह कैसे ? आज तो महेन्द्र साहब, सचमुच आपकी बातें गुड़-गीतासे दूर जीवनकी फ़िलासफ़ीके घेरेमें घूम रही हैं और आप तो अनुभवोंके आचार्य हुए जा रहे हैं । हाँ, तो कैसे आप इस दवासे बदनसीबीको खुशनसीबीमें बदल देते हैं । बताइये तो ?

"अच्छा यह आपका सवाल है, पर मुझे इससे कोई उलझन नहीं, क्योंकि मेरे पास तो इसका उत्तर तैयार ही है । यह उत्तर भी कोई उत्तर नहीं, एक अनुभव है ।

एक दिन मैं सुबह सोकर उठा और चायकी पहली घूँट गलेसे उतारी कि लाला नन्दराम आ पहुँचे । कभी बहुत अच्छे हालमें थे, अब दिन काट रहे हैं । घरमें ये हैं, इनकी बुढ़िया है और जवान पोती है । बेटा और बहू पिछली प्लेगकी भेंट हो गये । लम्बी बातचीतके बाद बोले—"अब इन लड़कीके हाथ पीले करने हैं । यह अपने घरकी हो जाये, तो मैं गंगा नहा जाऊँ और यह काम आपकी मददके बिना हो नहीं सकता । इसलिए मेरा इन्तज़ाम कर दीजिये कि दशहरे तक मुझे एक हज़ार रुपये मिल

जायें। यह आप यक़ीन रखिये कि धीरे-धीरे मैं आपकी पाई-पाई चुका दूंगा।"

मैंने उनकी बात बड़े ध्यानसे सुनी और आदरके साथ उन्हें चायका एक प्याला पिला देनेके बाद कहा---आप कोई चिन्ता न करें, मैं पूरी कोशिश करूँगा कि आपकी सेवा कर सकूँ। हज़ार रुपयेकी बात ही क्या है। मैं तो आपको इसी समय रुपये उठा देता, पर आज कल ज़रा खुश्की है। वैसे कोई बात नहीं, कई जगहसे रुपये वापस आनेवाले हैं। भगवान्‌की दया होगी, तो सब काम हो ही जायगा।

लाला नन्दराम प्रसन्न होकर चले गये। मैंने अपने मनमें सोचा कि नन्दराम उम्रमें बूढ़ा और साधनोंसे हीन; फिर किस बैंकसे इसका ड्राफ़्ट आने वाला है, जो मुझे यह रुपये लौटा देगा!

मैं सोच ही रहा था कि चौधरी साहब आये। पुराने देशभक्त हैं। देहातोंमें धुआँधार लेक्चर देते हैं और कलमका सिर दवातमें डुबाना भी जानते हैं। इधर-उधरकी बातोंके बाद बोले---एक बड़ा अच्छा चांस है कि आपके बड़े दालानमें एक प्रेस लगालें। चुनाव ऊपरसे आ रहा है, एक छोटा-सा अखबार भी निकाल देंगे। बस चाँदी ही चाँदी है। प्रेस-में ज्यादासे ज्यादा ४,५ हजार रुपये लगेंगे और यह चुनाव कम से कम १० हज़ार रुपये दे जायेगा। प्रेस मुफ़्तमें पड़ेगा। बाद में भी तीन सौ रुपये महीनेकी गोली है। इस समय रुपये आप लगा दें, मेहनत मैं कर लूंगा, बस आधे-आधेकी पत्ती!"

मैंने कहा---हाँ, चांस तो बुरा नहीं दीखता। आप बातचीत करें, मैं भी कोशिश करूँगा। भगवान्‌की दया होगी, तो सब काम हो ही जायेगा। चौधरी साहब खुशी-खुशी चले गये, तो मैं सोचने लगा---५,००० रुपये मैं लगा दूं और प्रेस चौधरी साहब लगा लें। आधे-आधेकी पत्ती रही; यहाँ तक तो ठीक है, पर यह पत्ती लौटेकी होगी या [illegible] फिर इसके पीछेसे ही सूखी पत्ती रह जायेगी, यह किस ज्योतिषीसे पूछूं?

आइये, बाबू साहब आइये, आज तो आपने बहुत दिनमें दर्शन दिये। अरे भाई, कहाँ थे आख़िर कश्यप साहब !

टिपटाप श्री चन्द्रभान कश्यप आ धमके, तो मैंने उनसे पूछा। बोले—"भाई साहब, मैं इधर बराबर बम्बई, कलकत्ता, इन्दौर और दिल्ली के चक्कर पर रहा। ५० लाख रुपयेंसे एक कम्पनी लिमिटेड की है। यह उसका मेमोरेंडम है, यह प्रौसपैक्ट्स। कई राजा लोग इसके डायरेक्टर हैं। ३५ लाख रुपयेके शेयर्स आलरेडी बिक गये हैं। जमींदारी ख़त्म हो रही है, उसके मावजेसे जो रुपया यू० पी० के बड़े बड़े जमींदारोंको मिलेगा, वह सब वे इसी कम्पनीमें लगायेंगे। पहले हम फ़िल्म बनानेका काम करेंगे और बादमें मकान बनानेका। दोनों काम बड़े पेयिंग हैं। पहले ही सालमें २५,३० लाख रुपये हम कमा लेंगे।"

मैं आश्चर्यसे कश्यपकी तरफ़ देख ही रहा था कि वह बोला—"बस अब मुझे मैनेजिंग एजेंसी बनानी है। दसियों बड़े-बड़े आदमी पीछे पड़ रहे हैं, पर मैंने सबको मना कर दिया है। मैंने अपने साथ मैनेजिंग एजेंसीमें आपका नाम रखा है। यह देखिये, छप भी गया है। मैं जानता था कि आप मना न करेंगे। ज्यादा नहीं कोई २५ हज़ार रुपये शुरूमें दिखाने पड़ेंगे। बादमें तो रुपया ही रुपया है। आप चाहें, तो चुपचाप कम्पनीके रुपयेसे कोई दूसरा बिजनेस करके फ़ायदा उठाते रहें। महेन्द्र साहब, इस कम्पनीके बिजनेसमें यही तो लुत्फ़ है कि रुपया पब्लिकका और मज़ा यारोंका।"

मैंने कहा—मिस्टर कश्यप, निशाना तो तुमने ख़ूब लगाया है, पर मेरे पास रुपया कहाँ है ! मैं तो ग़रीब आदमी हूँ, फिर भी कोशिश करूँगा। भगवान्‌की दया होगी तो सब काम हो ही जायेगा।

कश्यप साहब भी ख़ुशी-ख़ुशी चले गये और संक्षेपमें यों समझ लो कि शाम तक कोई २५ आदमी इसी तरहसे आये और इसी तरह ख़ुशी-ख़ुशी गये। इन २५ में एक कोढ़ी भी था। उसे मैंने एक

आना दे दिया और बाकीको अपनी दवाकी आधी खुराक कि—"कोशिश करूँगा।"

—लेकिन महेन्द्र साहब, आखिर ये लोग फिर भी तो आपके पास आयेंगे ही, उस समय आप इन्हें क्या जवाब देंगे ? मैंने पूछा तो महेन्द्र साहब बोले—"आप भी सारी उम्र चुकन्दर ही रहे। अरे साहब, दवाकी आधी खुराक जो रखी है कि कामयाब न हुआ। बात साफ़ है कि कोशिश तो की, पर कामयाब न हुआ; यानी अब आप कोई दूसरा दरवाजा झाँकिये।

ठीक है, पर महेन्द्र साहब, इससे वे लोग सन्तुष्ट तो हो नहीं सकते; क्योंकि उन्हें आपकी दवाकी नहीं, रुपयोंकी जरूरत है ? मैंने पूछा, तो महेन्द्र साहब बोले—"इस दवाके खिलानेमें कला ही यह है कि भूख न मिटे और तृप्ति हो जाये।"

अपनी इस कलाके सम्बन्धमें कुछ अधिक बताइये तो सही, मैंने पूछा, तो महेन्द्र साहब एक विशेषज्ञकी तरह बोले—"कलाका ज्ञान साधना चाहता है। यह वर्षोंमें सीखनेकी बात है। फिर भी दो बातें आप सदा याद रखिये। पहली यह कि कोशिश करनेका वादा अधिक-से-अधिक उत्साहमें भरकर कीजिये और कामयाब न होनेकी घोषणा अधिक-से-अधिक दुखमें डूब कर। दूसरी बात यह कि इस कलाकी सफलताका सारा रहस्य इस बातमें है कि उसे आप यह विश्वास दिला सकें कि सचमुच आपने कोशिश की, पर वाकई आप कामयाब न हुए। यह काम आप एक ही तरह हर जगह नहीं कर सकते। इसके लिए मनुष्योंकी प्रकृतिका ज्ञान आवश्यक है। कोई किसी तरह सन्तुष्ट होता है, कोई किसी तरह, पर रहस्यका मंत्र यही है कि उसे यह विश्वास हो कि आपने वाकई बहुत कोशिश की, पर आप कामयाब न हुए।"

महेन्द्र साहब, कुछ भी हो आखिर यह अन्याय ही है उस आदमीके साथ, जिसे पहले विश्वास दिलाया जाये और बादमें अंगूठा दिखा दिया जाये; मैंने कहा, तो महेन्द्र साहब बोले—"यह अन्याय है ? वाह-वाह, अरे भाई !

इसमें अन्याय नहीं है । इसमें तो बुद्धकी करुणा है और गांधीकी ममता है। सुनो, तुम्हें इसका इतिहास सुनाता हूँ । मेरे पिता बहुत सहृदय मनुष्य थे, पर पूरे सत्यवादी भी । एक दिन उनके पास एक सज्जन पधारे और कहा कि मुझे आज शाम तक १०० रुपये चाहियें । पिता जीके पास रुपये नहीं थे और न वे उनका किसी तरह उस समय तक प्रबन्ध ही कर सकते थे, उन्होंने साफ़ मना कर दिया । वे सज्जन लौट गये और रास्तेके एक कुएँमें कूदकर उन्होंने आत्म-हत्या करली ।

बात यह थी कि उन सज्जनने काबुली पठानोंसे १०० रु० उधार लिये थे और कल सुबह तक लौटानेकी शर्त थी । इस शर्तमें यह भी था कि अगर वे रुपये न दे सके, तो पठान उनकी स्त्रीको पकड़ ले जायेंगे । इसी घबराहटमें उन्होंने अपनी जान देदी, पर समयकी बात, उनकी स्त्रीने अपने भाईको भी यह ख़बर भेज दी थी । इसलिए शामको वह रुपये लेकर आ पहुँचा, पर उनके पहुँचनेसे पहले ही उनकी बहन विधवा हो गई थी। इस घटनाका मेरे पिता पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने यह नियम बना लिया कि किसीको एक दम निराशाकी बात न कही जाये । संकटके समय प्रकृति छप्पर फाड़कर सहायता करती है और मनुष्यके हाथ पैर भी लम्बे हो जाते हैं । एक द्वार पर मनुष्यको आशाका इशारा भी मिल जाये, तो वह पूरे उत्साहसे दूसरे द्वारेको खोजनेकी शक्ति पा जाता है । बताइये क्या आप अब भी मेरे व्यवहारको अन्याय कहेंगे और उसे करुणा और ममताका स्रोत न मानेंगे ?"

बीमारी; एक राहत

एक हमारी भाभीजी हैं। चलती हैं, तो कोठीके टाइल तीन सूत जमीनमें धंस जाते हैं और काममें उनके हाथ इस तरह चलते हैं कि जैसे वे किसी आदमीके हाथ न होकर किसी बिजलीकी मशीनके पुर्जे हों। ये पुर्जे, जिनके चुप रहनेसे जंग लगनेका खतरा सामने होता है। हाँ, तो वे कभी अपने हाथ-पैरोंको चैनसे बैठने नहीं देतीं और बराबर कुछ-न-कुछ किये ही जाती हैं।

वेदमें भी कर्मका महत्त्व बताया है और कुरानमें भी, बाइबिलमें भी और गुरु ग्रन्थसाहबमें भी, पर उन्हें प्रेरणा मिलती है भारतके एक पुराने होकर भी नये सन्तके वचनसे।

"कौनसा वचन ?"

ठीक है, वह वचन आप सुनना चाहते हैं और मुझे तो वह आपको सुनाना ही था; बात जो आगे नहीं बढ़ती बिना आपको सुनाये, तो सुनिए वह वचन यह है—

"खाली बैठे कुछ किया कर,
कुछ नहीं, तो कपड़े फाड़ा कर और सिया कर !"

"वाह साहब वाह ! यह अच्छा सन्त-वचन आपने सुनाया कि जब और कोई काम न हो, तो खाली मत बैठो। नये कपड़ोंको फाड़ो और उन्हें सियो। भला यह भी कोई अक्लकी बात हुई !!"

मैं पहले ही जानता था कि आप यह वचन सुनकर भड़केंगे, पर मैं जानता हूँ कि मेरी पूरी बात सुनकर आप यह मान लेंगे कि कर्मके महत्त्वपर इससे बड़ी बात न संसारके किसी साहित्यिकने कही और न सन्तने।

"तो सुनाइए आप अपनी पूरी बात !"

"जी हाँ, सुना रहा हूँ और सुना क्या रहा हूँ कुछ यों ही राज़ी-ख़ुशी, सुनानी पड़ रही है; क्योंकि न सुनाऊँ, तो आप देखते रहें बस मेरी तरफ़ और मेरी बढ़ती बात जाये थम---जैसे घन-घोर सरदीमें पानी बरफ़ बनकर जम जाता है।

बात यह है कि आदमीके भीतर काम करनेकी शक्ति है, उसकी एक हद है, एक सीमा है। उससे हम ज्यादा बोझ उस पर लादें, तो वह टूट जाती है और उसे कम काममें लें, तो बिना चलते पहियेकी तरह वह ज़ंग खा जाती है---कमज़ोर हो जाती है। इसलिए ज़रूरी है कि हम अपनी शक्तिभर काम करते रहें। यह ज़रूरी इतना ज़रूरी है कि हमारे पास कभी काम न हो, कामकी कमी हो, तो हम काम निकालें, काम करें; भले ही यह निकाला हुआ काम कपड़े फाड़कर सीनेका हो!

जिसने यह बात कही, वह कमसे कम हमसे ज़्यादा नहीं, तो कम होशियार तो न था। वह मनुष्यके शरीरकी बनावटसे नहीं, मनकी बनावटसे भी परिचित था। वह जानता था कि कपड़ा तो मरम्मत किया हुआ भी काम दे सकता है, पर मनुष्यके भीतर अठखेलियाँ करती काम करनेकी शक्ति कमज़ोर हो जाय तो फिर वह पूरी नहीं हो सकती। 'ख़ाली बैठे बेगार भली' इस कहावतमें यही तो सत्य छिपा है!

और लीजिए, एक और बात बताऊँ आपको कि जब मैं बीमार पड़ता हूँ, तो मुझे एक अन्दरूनी राहत मिलती है।"

"वाह-वाह! अभी तक तो कपड़ोंको फाड़कर सीनेका विज्ञान ही आप बता रहे थे, अब बीमारीमें भी एक अन्दरूनी राहत आपको दिखने लगी; यानी सेर पर सवा सेर!"

"आपमें यह बड़ी ख़राब आदत है कि न तो पूरी बात सुनते हैं, न समझते हैं, हाँ भड़क उठते हैं। पूरी बात सुन लीजिए और फिर देखिए कि कपड़ोंको फाड़कर सीनेकी तरह आपको बीमारीमें भी कोई राहत दिखाई देती है या नहीं।"

मैंने कहा नहीं आपसे अभी कि जब हम अपने शरीरको उसकी शक्तिसे ज़्यादा या कम काम देते हैं, तो वह एक झटका खाता है, और बीमारी इस झटकेके खिलाफ़ एक बग़ावत है ।

बग़ावतके नामसे आप चौंक क्यों पड़े ? हमारे देशमें १८५७ से १९४२ तक बग़ावतोंका ही दौर-दौरा रहा, पर हाँ, आपने तो उनमें कोई हिस्सा लिया नहीं, फिर क्या जानें आप, भला बग़ावतकी राहत !

हमारे देशके एक यशस्वी धनपति हैं,—श्री घनश्यामदास बिड़ला, धनपति और विद्वान् ! वे एक बार अँगरेज सरकारके किसी कमीशनका मेम्बर बनकर वियेना गये । वहाँ उन्होंने सरकारी कामके साथ एक काम यह किया कि डाक्टरोंको अपना मेदा दिखाया । उनकी रायमें उनका मेदा कमज़ोर था, पर डाक्टरोंने कहा—आपका मेदा तो सेठ साहब, बिल्कुल ठीक है ।

सेठ साहबकी अक़्ल परेशान कि यहाँ तो खट्टी डकारों, हुँकारों और अफारोंसे नाकमें दम है और ये भले आदमी कहते हैं कि मेदा आपका ठीक है । अजीब विशेषज्ञ हैं ये ! सेठजीने लाख अपनी डकारोंके नारे लगाये, पर डाक्टरोंने एक न सुनी ।

अन्तमें उन्होंने कहा—"आप अगर एक मन बोझा उठा सकते हैं और आप पर लाद दिया जाये दो मन, तो क्या आप चल सकेंगे ?"

सेठजी बोले—"ना, मैं तो गिर पड़ूँगा !"

विशेषज्ञ बोले—"यह गिर पड़ना कोई बीमारी थोड़े ही है । यही हाल आपके मेदेका है । उसमें जितना खाना हज़म करनेकी ताक़त है, आप उससे ज़्यादा खा लेते हैं, बस पेट उसे बर्दाश्त नहीं करता और डकारों और अफारोंके रूपमें बग़ावत कर देता है !" बिड़ला जी यह बात मान गये ।

"अच्छा, आप जानते हैं कि मरना क्या होता है ?"

मैं जानता हूँ कि आप इस प्रश्न पर भी भड़केंगे और कहेंगे बड़े लपाक-से कि वाह साहब, यह भी कोई प्रश्न है कि मरना क्या होता है ? इसे तो

बच्चे भी जानते हैं कि मरना होता है मर जाना। हमारे बाप-दादा, परदादा सब मर गये कि नहीं ?

जी हाँ, आपके बाप, दादा, परदादा मर गये और आपने भक्तिपूर्वक उन्हें ठिकाने लगा दिया, यह भी मैं जानता हूँ, पर इससे मेरे प्रश्नका तो हल हुआ नहीं। मेरे प्रश्नमें यह कहाँ था कि आपके कुनबेकी मरण-रिपोर्ट क्या है ? मैं तो सिर्फ़ यह पूछ रहा हूँ कि मरना आखिर होता क्या है ?

सुनिये, आप क्या बतायेंगे इस सवालका जवाब; मरनेका मतलब है शरीरमें बग़ावत करनेकी ताक़त न रहना !

आपकी समझ ज़रा सूक्ष्म है, इसलिए मैं अपनी बातको यों कहना चाहता हूँ कि आपका पैर काँटेपर पड़े, तो आप उछल पड़ते हैं। यह उछलना आपके शरीरकी बग़ावत है। अब अगर काँटा चुभे और शरीर न उछले तो समझिये कि आप मर गये या मर रहे हैं। तो मेरी सारी बातका सार यह है कि बीमारी शरीरपर होनेवाले बाहर-भीतरके आक्रमणोंके विरुद्ध एक बग़ावत है और इसीलिए मैं कह रहा हूँ कि बीमारीमें भी एक राहत है; यानी यह विश्वास कि मैं बीमार हूँ, तो अभी जीवित हूँ, युद्ध कर रहा हूँ, मर नहीं रहा हूँ। जीवनके विश्वाससे बढ़कर भी क्या कोई और राहत हो सकती है !

कभी-कभी तो जीवनका विश्वास मनुष्यके लिए एक नये जीवनका मार्ग खोल देता है। आप तो जानते ही हैं भगत नन्दलालको। कौन है, जो आज उनका भगत नहीं। सभी उन्हें सिर आँखों लेते हैं, पर मालूम है आपको कि १५ साल पहले वे नम्बर एकके दुष्ट थे !

जाने कितनोंको जालसाज़ीमें फाँस कर उन्होंने लूट लिया, कितनोंकी इज़्ज़त ली और कितनोंकी जानें। पूरे ख़ूनी थे ख़ूनी, पर अब पूरे भगत हैं। भगत भी बगुला भगत नहीं, सच्चे भगत। वाक़ई ज़िन्दगी बदल गई उनकी और वो भेड़ियेसे गाय बन गये। अपाहिज-आश्रम तो उनका मशहूर है ही। सेवाके और भी बहुत-से काम उनके हाथों चल रहे हैं।

यह इतना बड़ा परिवर्तन, तबदीली, उनमें कहाँसे आ गई ? बात यह हुई कि वे एक बार बीमार पड़े और बीमार क्या पड़े, उनका तमाम शरीर फूट आया। कहीं सींक रखनेको भी जगह नहीं। फुंसी ही फुंसी; यों समझिये कि फुंसियोंसे घिरे वे खुद एक फोड़ा बन गये। न करवटें ले सकें, न बैठ सकें। चारों ओर बदबू ही बदबू; फिर ऐसी हालतमें तो कोई लोकप्रिय आदमी भी परेशान हो जाता है; अपनी दुष्टताके कारण, वे तो सबके दुश्मन ही थे। कौन आता फिर उनके पास ?

मनुष्यके मनकी यह बनावट है कि जब बाहरसे निराश हो जाता है, तो अपने भीतर झाँकता है। नन्दलालने भी बाहरसे निराश होकर भीतर झाँका और भीतर क्या झाँका उन्होंने एक नई दुनिया देखी। उसने जीवन भर जिन्हें सताया था, वे ही सब वहाँ खड़े दिखाई दिये और दिखाई क्या दिये, नन्दलालको लगा कि हर एक फुंसीके रूपमें उनका पहले सताया हुआ कोई आदमी आज उनकी छातीपर सवार है। वे काँप उठे और अपने ऊपर उन्हें गहरी घृणा हो गई।

उन्होंने चाहा कि वे मर जायें, पर चाहनेके पास मौत कहाँ आती है। मौत उन्हें छोड़ गई और वे अच्छे हो गये। अच्छे क्या हुए, बस अच्छे ही हो गये। अब वे बीमारीसे पहलेके नन्दलाल न थे, नये नन्दलाल थे। अपना धन लगाकर उन्होंने एक अपाहिज-आश्रम खोल लिया था। वे उसके मालिक नहीं, सेवक थे। उनका चेहरा अब और तरहका हो गया था। उस पर क्रूरताकी जगह कोमलता आ गई थी और गलेकी कड़क मिठासमें बदल गई थी। अब वे राक्षस नन्दलाल नहीं, देवता नन्दलाल थे। कोई समझे तो क्या समझे ? अब बताइये आप ही कि आज उन्हें जो राहत नसीब थी, वह बीमारीकी राहत ही तो थी !

विश्वविख्यात लेखक श्री एच० जी० वेल्सका निर्माण भी तो बीमारी ही ने किया था। वे पतले-दुबले बालक थे। अपने बचपनमें एक दिन उनके साथियोंने गेंदकी तरह उन्हें उछाल दिया। उत्साहमें उछाल तो दिया,

पर वे बोच न सके। नतीजा यह कि उनकी हड्डी टूट गई और वे एक साल पलंग पर पड़े रहे। पड़े-पड़े और तो कुछ कर ही न सकते थे, पुस्तकें पढ़ते रहे और इस शान्त अध्ययनने ही उन्हें लिखनेकी ताजगी दी।

एक बार वे फिर बीमार पड़े और इस बार तो ऐसे पड़े कि जीवनकी उम्मीद ही जाती रही। बात यह हुई कि वे फुटबाल खेल रहे थे और गिर पड़े। इस बीमारीसे उभरनेमें उन्हें बारह वर्ष लगे। उन बारह वर्षोंमें वे पड़े-पड़े पुस्तकें पढ़ते रहे और वे खुद कहा करते थे कि मेरी बीमारियोंने ही मुझे विश्वविख्यात बनाया।

यों कहो तो यह एक बात है और ज़रा ग़ौर करो, तो इस बातमें एक बहुत बड़ी बात है। बड़ी बात यह है कि मनुष्य अपनेसे बाहर भटकता फिरता है, पर राहत, चैन और शान्ति स्वयं उसके भीतर है। अब इस मसलेपर मैं आपको गीताकी गम्भीरतामें उतारूँ या फिर योगवासिष्ठ या योगदर्शनमें ले चलूँ, तो शायद आप घबड़ा उठें; क्योंकि बात यह है कि आप इस वक्त दिलचस्प बातचीतकी मूडमें हैं और बहुत हो, तो डाक्टरकी चीनी-चढ़ी कुनैन भी ले सकते हैं—हकीम साहबका काढ़ा नहीं।

तो खैर, रहने दीजिये, आज गीता और योगकी गहराइयाँ, पर पागलोंमें तो आपकी काफ़ी दिलचस्पी है। मुझे याद है उस दिन हम लोग बैठे बातें कर रहे थे, तो वह हैट-कोट पतलूनधारी पागल आपके बैठकखानेमें घुस आया था।

हाँ-हाँ, आपने उसमें काफ़ी दिलचस्पी ली थी और उसके साथ गप्पोंके गुब्बारे खूब उड़ाये थे।

"कहाँ गीता और योगकी गहराइयाँ और कहाँ पागलकी बात? आप भी ख़ूब बेपर की उड़ाते हैं।"

जी, मैं खूब बेपरकी उड़ाता हूँ। यह परवाली आपने खूब उड़ाई, पर न आपसे बात कर रहा हूँ मैं गीताकी और न पागलोंकी, मैं बात कर

रहा हूँ बीमारीकी राहतपर और यक़ीन कीजिये कि इस पागलकी बातका भी उस बातसे एक सिलसिला है ही।

भारतके एक मनोवैज्ञानिकने पागलोंके सम्बन्धमें जो नई खोज की है, उसमें उसने एक बड़ी मजेदार बात कही है कि जिन परिवारोंमें पागल होते हैं, उनमें ही ऊँचे दरजेकी विभूतियाँ भी पैदा होती हैं। वैज्ञानिकने इसकी छान-बीन करते हुए कहा है कि हमारे दैनिक जीवनकी कठोरताएँ जीवनमें इस तरहकी दुश्चिन्ताओंको जन्म दे देती हैं कि जीना एक बोझ हो जाता है। इस हालतमें पागलपन राहतकी एक महान् औषधि सिद्ध होती है, जो जीवनकी तमाम दुश्चिन्ताओं और असफलताओंको हर लेकर आदमीको बिना मुकुटका राजा बना देती है।

"बिना मुकुटका राजा ?"

अजी, राजा क्या, राजाओंका भी राजा! लीजिए दो पागलोंका एक दिलचस्प संवाद सुनिये—एक पागलने अपनी मस्तीमें झूमकर दूसरे पागलसे कहा—"ऐ दुनियाके लोगो, मैं तुम्हें खुदाके क़हरसे बचानेके लिए ही धरती पर भेजा गया हूँ। आओ, मेरे दामनके सायेमें आकर खड़े हो जाओ। मैं क़यामतके दिन तुम्हारे सब गुनाह बख्शवा दूँगा।"

एक दूसरा पागल कुछ दूर घासपर पड़ा इन हज़रतकी बातें सुन रहा था। उसने अधउठे होकर, इनकी तरफ़ देखा और बहुत गम्भीरतासे कहा—"ऐ दुनियाके लोगो, यह झूठ बोलता है। मैंने इसे दुनियामें नहीं भेजा और न इसके कहनेसे मैं क़यामतके दिन एक भी आदमीको बख्शूंगा।"

मतलब साफ़ कि पहले महाशय अपनी आँखोंमें पैग़म्बर थे, तो दूसरे महाशय उनसे भी ऊपर साक्षात् खुदा ही थे। कहिये यह राहत, यह सन्तोष और मस्ती [illegible] सिवाय आपको या मुझे और कौन दे सकता [illegible]। उस वैज्ञानिकके कहनेके अनुसार उन परिवारोंमें महापुरुषोंका जन्म होता है, जिनमें अक्सर लोग पागल होते हैं।

"अच्छा आपने हमें एक बार लड़ाईका व्याकरण बताया था। हमारे

मित्रोंतकने उस व्याकरणमें बहुत रस लिया। क्या बीमारीकी राहतका भी कोई व्याकरण आप हमें बता सकते हैं ?"

तो यों कहिये कि सवाल पूछ कर आप मेरा मज़ाक़ उड़ा रहे हैं, पर हज़रत याद रखिये कि यह मज़ाक़ कुछ जमेगा नहीं, क्योंकि बीमारीकी राहतका एक व्याकरण सचमुच है।

"क्या कहा आपने कि बीमारीकी राहतका सचमुच एक व्याकरण है ? कहाँ है वह व्याकरण; हमने तो कभी पढ़ा नहीं उसे !"

जी, आपने उसे सैकड़ों बार पढ़ा है, पर पढ़नेसे क्या होता है, समझा नहीं आपने। बीमारीकी राहतका व्याकरण उर्दूमें है और बरसों हुए छप भी चुका है।

"उर्दूमें बरसों हुए बीमारीकी राहतका व्याकरण छप चुका है, यह क्या कह रहे हैं आप !"

जी, मैं ठीक कह रहा हूँ। लीजिये, आप भी देख लीजिये बीमारीकी राहतके व्याकरणका पहला सूत्र यह है कि आदमी मौतसे न डरे और उसे ज़िन्दगीकी ही एक क़िस्त समझता रहे। देखिये, किस सफ़ाई और सादगी-से यह बात कही है—

"जिस पै एहबाब बहुत रोये,
फ़क़त इतना था—
घरको वीरान किया,
क़ब्रको आबाद किया।"

अरे भाई, मौत इतनी ही बात तो है कि एक ज़िन्दगी छोड़ दी और दूसरी शुरू की। फिर इसमें परेशानी क्या, हाय हाय क्यों; यह भी जीवन है वह भी जीवन ! मनुष्य अपने अमर जीवनकी एक लम्बी यात्रा पर चला जा रहा है, यह आजका जीवन इस यात्राका एक स्टेशन है। स्टेशन पर भला, कब कौन बसा है। तो फिर स्टेशनसे

उठनेका रंज क्या, बेचैनी कैसी ? सामान उठाया और उठ चले, देखिये न, यह बात इस व्याकरणमें किस सफ़ाईसे कही गई है—

"हिर्सो हविसो ताबो तवाँ
दाग़ जा चुके !
अब हम भी जानेवाले हैं
सामान तो गया।"

भावनाएँ, वासनाएँ और आवेग चले गये। इंसानी जिन्दगीके यही तो असली सामान हैं। अनुभवी दाग़ कहते हैं, बस इस सामानके बाद हम भी जाने ही वाले हैं। ठीक भी है, सामान उठकर नई गाड़ीमें रक्खा गया, तो कौन है, जो फिर भी स्टेशन पर ही जमा बैठा रहे ?

यह शान्ति, यह स्थिरता मनुष्यमें रहे, इसके लिए उसमें विश्वासकी जरूरत है। यह विश्वास या तो मृत्युकी अनिवार्यताका विश्वास हो, जैसा कि अभी मैंने कहा और या फिर जीवनकी अनिवार्यताका—

"मसरूफ़ कर लिया मुझे उसके ख़यालने
जा ऐ अजल कि मरनेकी फ़ुरसत नहीं मुझे।"

आप कितने भले हैं ?

हर मनुष्य भला आदमी, सज्जन पुरुष बनना चाहता है। न कोई दुर्जन होना चाहता है, न अपनेको दुर्जन कहलाना चाहता है, पर सज्जन वह हो सकता है, जो अपने हर कामको अपनी आँखकी तराजूमें तोलकर चले।

क्या आपने कभी ऐसा किया है ? क्या कभी एकान्तमें बैठकर गहराईसे सोचा है कि आप सज्जन हैं या दुर्जन ? और यदि सज्जन हैं, तो कितने सज्जन ? मेरा विचार है कि ऐसा आपने कभी नहीं किया और आप भी उन्हीं लोगोंमें हैं, जो बिना यह जाने कि किधर जा रहे हैं, चले जा रहे हैं !

आप अपने कामोंमें स्वतन्त्र हैं, पर मुझे इतना कहनेका तो अधिकार है ही कि जीवनकी यात्रा कोई अंधोंकी रैली नहीं है। यह तो एक सुव्यवस्थित यात्रा है। अधिकांश लोगोंके दुखी होनेका कारण यही है कि उन्हें जो मिल गया, वे उसे ही ढोये चल रहे हैं और जो उन्हें मिलना चाहिए, उसे पानेका, अपने लिए उसके नव-निर्माणका, वे प्रयत्न नहीं करते।

जीवनमें हर घड़ी ऐसे अवसर आते रहते हैं, जिनमें मनुष्य कुछ सीखे, कुछ पाये और अपनेको आजसे कल श्रेष्ठ बनाये, पर हम जीवनको आँख खोलकर नहीं देखते, अपने सामने अनायास आ पड़े रत्नोंको नहीं बटोरते ! उर्दूके कविने दुखी होकर एक दिन कहा था—

"य' इबरतकी जा है, तमाशा नहीं है !"

अरे भाई, यह दुनिया, यह जिन्दगी, इबरतकी, सीखनेकी जगह है, कोई तमाशा नहीं है कि बस देख लिया, देख लिया, पर इबरतके लिए, सीखनेके लिए, तो साधनाकी, श्रमकी आवश्यकता है !

आप भी चाहें, तो एक नई लगन, एक नई शिक्षा ले सकते हैं और अपनेको भला आदमी, सत्पुरुष और श्रेष्ठ नागरिक बना सकते हैं। सुविधाके

लिए कुछ प्रश्न ये हैं। अपनेसे पूछिये और उत्तर दीजिये, तुरन्त परिणाम आपके सामने आजायेगा।

१---आपके नोकरोंके वस्त्र, निवास और भोजनकी व्यवस्था कैसी है ?

२---क्या उनके गन्दे और फटे वस्त्रोंको देखकर आप विह्वल हो उठते हैं और उनके लिए अपेक्षाकृत अच्छे वस्त्रोंकी व्यवस्था किये बिना आपके मनको चैन नहीं पड़ती ?

३---जब वे कामसे निमटकर दोपहरको सोते हैं, तो उन्हें देखकर आपको संतोष मिलता है या झुंझलाहट आती है ?

४---क्या आप ध्यान रखते हैं कि जो कुछ आप खायें, वह उन्हें भी अवश्य मिले ?

५---क्या आप उनमें पढ़ने-लिखनेकी प्रवृत्ति जगानेका प्रयत्न करते हैं ? संक्षेपमें क्या आपको इस बातकी चिंता है कि वे आजसे कल श्रेष्ठ हों ?

६---क्या रेलमें बैठनेपर आपको इस बातसे प्रसन्नता होती है कि दूसरे यात्री भी उस डिब्बेमें चढ़ें ?

७---क्या स्त्रियों और बूढ़ोंको खड़ा देखकर आप अपना स्थान उन्हें देकर कभी स्वयं खड़े रहे हैं ?

८---जब कोई संकटग्रस्त सहायताके लिए आपके पास आता है, तो आप अपने बुरे दिनोंको यादकर उसका हाथ बटाते हैं, या झंझटोंसे बचनेके लिए उसे टाल देते हैं ?

९---जब आप अपने बच्चोंके साथ बैठे कोई बढ़िया चीज़ खाते हैं, तो पड़ोसियोंके बच्चे यदि उस समय वहाँ आ जायें, तो आपके मनपर क्या प्रभाव पड़ता है ?

१०---आप अपने साथ अपने मालिकों, अफ़सरों या बुजुर्गोंका जो व्यवहार चाहते हैं, क्या उसमें और आपका आपके नौकरों, मातहतों और छोटोंसे जो व्यवहार है, उसमें समानता है ?

११—जो बातें आप पूरी तरह नहीं जानते, क्या आप उनपर भी राय देते हैं और जिन मामलोंको आप पूरी तरह नहीं समझते, उनपर भी बहस करते हैं ?

१२—आप दूसरोंसे, समाजसे, शासनसे अपने लिए बहुत कुछ चाहते हैं, पर क्या कभी आपने सोचा है कि दूसरे लोग, समाज और शासन भी आपसे कुछ चाहते हैं ?

१३—आप उन सुखोंपर अधिक विचार करते हैं, जो आपको प्राप्त हैं या उन पर जो आपको प्राप्त नहीं हैं ?

१४—क्या आपके जीवनमें एकान्तके लिए स्थान है ?

१५—यदि आपके दो मित्रोंमें मतभेद हो, तो आप एकका पक्ष लेते हैं या दोनोंको मिलानेका प्रयत्न करते हैं ?

१६—आप सजावट-श्रृंगारकी चीज़ोंपर कितना खर्च करते हैं और स्वास्थ्यकी चीज़ोंपर कितना ?

१७—आपमें कुछ साल पहले जो बुरी आदतें थीं, वे घटी हैं, बढ़ी हैं या उतनी ही हैं ?

१८—आप अपने घरवालों, पड़ौसियों और मित्रोंके गुणोंपर ध्यान देते हैं या दोषोंपर ?

१९—क्या आपको अपनेमें अधिक दोष और दूसरोंमें अधिक गुण दिखाई देते हैं ?

२०—आप दोषोंसे घृणा करते हैं या दोषीसे ?

२१—आप ऐसे कितने काम करते हैं, जिनका आपके निजी या पारिवारिक स्वार्थोंसे कुछ भी संबंध नहीं ?

ये २१ प्रश्न हैं। यदि आप इनपर चिंतन करें, तो २१ मिनटमें इनका उत्तर पा सकते हैं, पर बार-बार ये आपके सामने आने लगें, तो इसे आप अपनी [illegible] मानसिक उन्नतिका ही मान-दंड मान लें।

जब वे मशायरेके कन्वीनर थे !

हमारा देश कभी राजाओंका देश था और उनके मुकुटोंमें जगमगाती मणियोंके मापदंडसे हमारे देशके वैभव और गौरवकी नाप हुआ करती थी ।

इन राजतन्त्रोंका फल देशको गुलामीके रूपमें मिला और लगभग एक शताब्दीके संघर्षके फलस्वरूप हमारे देशमें उस महान् प्रजातन्त्रकी स्थापना हुई, जिस में कोई राजा राजा नहीं रहा और जनता ही राजा हो गई।

यह स्थिति ऐतिहासिक है और इसमें सन्देहकी गुंजाइश नहीं, पर यह कितने आश्चर्यकी बात है कि आज भी हमारे देशमें इतने राजा हैं कि हम जब चाहें, उन्हें किसी भी नगरमें, क़स्बेमें और यहाँ तक कि छोटे-से गाँवमें भी पा सकते हैं ।

"आज कल हमारे देशके हर नगर, क़स्बे और यहाँ तक कि गाँवमें भी राजा पाये जा सकते हैं, यह कह क्या रहे हैं आप ? अरे भाई, राजा तो राजा अब तो ताल्लुक़ेदार और जमींदारोंका भी पता मिलना मुश्किल हो रहा है इस देशमें, यह सब आप कहीं नींदमें तो नहीं बड़बड़ा रहे हैं ?"

जी हाँ, ठीक है---**'चोरको चोर, सतीको सती और साधु-जतीको जती पहचाने'**---जैसे आप खुद निन्दैल हैं, वैसा ही दूसरोंको समझते हैं । गर-मियोंकी उस रातमें मकानकी ऊँची छत पर सोते-सोते उठे और जाने किधर को चल दिये । आँखें जनाबकी तब खुलीं, जब छतपरसे गलीमें अपने ही गिर पड़नेका धमाका खुद आपके कानोंने सुना । घरके लोग उठाकर लाये, डाक्टर दौड़े, हफ़्तों अस्पतालमें झूला झूलकर उठे भी, तो अब इस तरह ठुमकेके साथ चलते हैं, जैसे पहाड़ी लोग बिना बाजोंके नाचमें ताल दिया करते हैं ।

आप शायद दूसरोंको भी ऐसा ही समझते हैं । अरे भाई मेरे, यह

ऐतिहासिक सत्य है कि अब इस देशमें कोई राजा नहीं रहा और यह एक व्यावहारिक तथ्य है कि इस देशकी गली-गलीमें राजा बसे हुए हैं। आपने वह पुराने ज़मानेकी कहानी तो सुनी ही होगी ?

"पुराने ज़मानेकी कौन-सी कहानी ? हज़ार कहानियाँ हैं आखिर पुराने ज़मानेकी तो !"

लीजिये, मैं सुनाता हूँ आपको वह कहानी---एक बुढ़िया थी। उसका एक बेटा था। वह बेटा भौंदू था। काम-धाम न करनेकी वजहसे गाँवमें सब उसे भौंदू ही कहा करते थे। उसकी माँका नाम भी भौंदूकी माँ पड़ गया था। एक दिन किसी बात पर गाँवके लोगोंने उसका बहुत मजाक़ उड़ाया। भौंदूने अपनी माँसे कहा---"मैं परदेश जाऊँगा माँ।" माँने कहा---"परदेश जाकर तू क्या करेगा मेरे बेटे ?"भौंदू बोला---"माँ, मैं रोज़गार करूँगा, धन कमाऊँगा।" हँसकर माँ बोली---"तू क्या रोजगार करेगा मेरे लाल ?" भौंदूने कहा---"जो क़िस्मतमें होगा।"

भौंदू दूसरे दिन परदेशको चल पड़ा। चलते समय भी गाँव वालोंने उसकी हँसी उड़ाई। किसीने कहा---"भौंदू राजा बनेगा।" किसीने कहा ---"महल बनायेगा भौंदू।"

भौंदूने किसीको जवाब नहीं दिया और चल पड़ा। चलम-चल, चलम चल, वह एक बड़े नगरमें पहुँचा। यह राजाका नगर था। उसमें आज बड़ी चहल-पहल हो रही थी। भौंदूने एक आदमीसे पूछा---"भाई, आज क्या बात है ?"

उसने कहा---"इस नगरका राजा मर गया है। आज दूसरा राजा बनेगा। दोपहरको एक कबूतर राजमहलसे छोड़ा जायगा। वह उड़ता-उड़ता जिसके सिर पर बैठ जायेगा, उससे राजाकी बेटी ब्याह कर लेगी और वही राजा बनेगा।"

भौंदूको कहीं कुछ काम तो था नहीं। वह भी एक चौराहे पर खड़ा होकर यह तमाशा देखने लगा। ठीक वक़्त पर राजमहलसे वह

कबूतर छोड़ा गया। सब उसे देखने लगे। कबूतर उड़ता रहा और अचानक जब नीचे उतरा, तो उस भौंदूके ही सिर पर बैठ गया।

बस फिर क्या था, वजीरोंने उसे हाथों-हाथ उठा लिया और बाजे-गाजेके साथ महलमें ले गये। राजाकी बेटीने उसके गलेमें माला डाली और पंडितोंने वेद-मंत्र पढ़कर उसे गद्दी पर बैठाया। भौंदूकी सूरत ही नहीं बदली, अक़्ल भी पैनी हो गई। बड़ी चतुरतासे वह राज-काज करने लगा। एक दिन वह अपनी रानीको लेकर अपने गाँवको चला। फ़ौज-फ़र्रा, वजीर-उमरा, नौकर-चाकर, बाजे-गाजे, सब साथ थे। गाँवमें पहले ही अफ़सर पहुँच गये थे और सारा गाँव सजा हुआ था।

जब राजा हाथीसे उतरा, तो गाँवके लोगोंने कानाफूसी करी—"अरे भाई, ये तो हमारा भौंदू है।" उसकी माँ ने कहा—"जैसी भगवान्‌ने हमारी क़िस्मत बदली, ऐसी सबकी बदले।"

तो भाई साहब, जिस तरह कबूतरके सिर पर बैठनेसे भौंदू राजा हो गया था, वैसे ही ये राजा हैं, जो हमारे महान् देशकी गली-गलीमें फैले हुए हैं। बस इनमें और भौंदूमें एक ही फ़र्क़ है कि भौंदू तो हो गया था क़िस्मतसे सारी उमरका राजा और ये बेचारे अपने पुरुषार्थसे बस चार घड़ीके ही राजा हैं।

"तो भैया, ऐसे किसी राजासे हमारी भी मुलाक़ात कराओ। जरा हम भी तो देखें कि इन राजाओंमें क्या अदायें हैं?"

वाह, भाई वाह! यह आपने भी एक ही कही। अरे भाई, आपसे इनकी मुलाक़ात करानेके लिए ही तो ये इतनी खरपंचकें इकट्ठी कर रहा हूँ।

हमारे ही नगरके एक सज्जन हैं बाबू नानक राम। बाप-दादा शहरमें चार मकान बना गये थे, आरामसे बैठे उनका किराया खाते हैं। किरायेदार भी सब नौकरी पेशा हैं। बस, दूसरी तारीखको गये, नोट गिन लाये, फिर तीस दिनकी छुट्टी, पान चाबिए और बातें छौंकिए।

उनकी ज़िन्दगीका एक दृश्य मैंने देखा है और जब भी वे राह चलते कहीं मिल जाते हैं, तो और कुछ याद आये न-आये, वह दृश्य जरूर आंखोंमें घूम जाता है ।

दूसरा युद्ध चल रहा था और ब्रिटिश सरकार हार-पर-हार खा रही थी । हमारे ज़िलेके अँगरेज़ कलक्टरने जनताका ध्यान बटानेके लिए एक मुशायरा कराया । वह चाहता था कि जनताको यह मालूम न पड़े कि इसमें सरकारका हाथ है, इसलिए उसने कमेटीमें रख दिये कुछ शौक़ीन रईस और संयोजक बना दिया बाबू नानकरामको । यह खानबहादुर नज़ीरखांकी सिफ़ारिशका नतीजा था, क्योंकि नानक बाबू हमेशा ही उनके अंगूठा-छाप रहे हैं ।

उसी दिन बाबू नानकराम मेरे पास आये । देखते ही मुझे लगा कि आज कोई खास बात है । बात यह हुई कि रोज उनका हुलिया एक फटीचरका तामझाम रहता है । पैरोंमें ऐसा सैंडिल, जिसके तस्मे नदारद या फिर मुड़कर पंजोंमें दबे हुए, जो हर क़दम पर सैंडिलकी सपरसट ध्वनिके साथ मंजीरेकी टुनक-सा ताल देते चलें । पैरोंमें एक पाजामा, जो साइकिलमें उलझनेके कारण पाँवचों पर फटा हुआ और, जिसमें कभी तो आलपीनसे जोड़ लगाया हुआ, कभी गाँठ बाँधकर और कभी यों ही लपर-सप्प; रास्तेकी मिट्टीसे हर हालतमें कृष्णमूर्ति । गलेमें एक क़मीज, जिसमें पूरे बटन एक ही तरहके कभी किसीने नहीं देखे, इस बारेमें मैं क़सम खा सकता हूँ । उनके सिर पर चाहे उनके ही पड़बाबाकी खरीदी फ़ैल्ट कैप रहे या बीबीके घरसे भेंटमें मिली दूसरेकी आई गांधी कैप, उसके चारों ओर तेलकी चिकनाईका काला घेरा आवश्यक है । बात यह है कि सरसोंके तेलकी उपयोगितामें बाबू नानकरामका अखंड विश्वास है ।

इसलिए मैं कहता हूँ कि उस दिन बाबू नानकराम मेरे पास आये, तो मुझे लगा कि आज जरूर कोई खास बात है । पैरोंमें उन ऐतिहासिक

यानी अजायबघरी सैंडिलोंकी जगह नया टेनिश शू, ऊपर सरजकी धारीदार पतलून, जिसकी क्रीज़ लैश-लब्बैक, ऊपर उसी सरजका कोट, जिसपर ताज़ी इस्त्री बिना बोले ही बोल रही, जेबमें रूमाल, उसी रंगका, उसी रंग-की टाई और सिर पर क़रीनेसे वाहे गये बाल !

कहिए, क्या बात है बाबू नानकराम ! आज तो यार पूरे छैला हो रहे हो । आखिर बात क्या है ? मैंने उन्हें देखते ही पूछा, तो बोले—"कलक्टर साहबने बुलाया था, उनके बंगलेसे आ रहा हूँ ।"

क्यों क्या बात है, किसी चोरी-डकैतीकी तफ़तीशमें तुम्हें टटोला जा रहा है क्या ? आजकल डी० आई० आर० (डिफ़ेंस आफ़ इण्डिया रूल्स) का जोर है, जिसे देखा धांग दिया ! मैंने उनसे सहानुभूति प्रकट की, तो गर्वसे बोले—"नहीं भाई साहब, जिलेमें किसकी हिम्मत है, जो हमसे आँख मिलाये । सब जानते हैं कि कलक्टर साहबसे हमारे खास ताल्लुक़ात हैं । आज सुबह ही उनका आदमी आया था, शानसे गये और मुलाक़ात की । एक मुशायरा हो रहा है । कहने लगे—वैल नानक राम, हमने तुम्हें उसका कन्वीनर बनाया है । हमारे पास और बहुतसा नाम था, पर खान बहादुरने भी तुम्हारा तारीफ़ किया और हमारा भी यही राय था । बस तुम कमेटीके मेम्बरोंसे मिलकर चन्दा करा लो और ऐसा मशायरा करो कि पहले कभी न हुआ हो । भाई साहब, यह आपका आशीर्वाद है कि बराबर साहब मेरी तारीफ़ें ही करते रहे ।"

बाबू नानकराम उठकर चल पड़े और फिर लौट कर आये । कुछ याद करते-से बोले—"हाँ भाई साहब, इस मशायरेकी खबर जरा अखबारमें निकलवा देना और हाँ, उसमें यह भी निकलवा दीजिये कि आपका ख़ादिम उसका कन्वीनर—बनाया गया है ।"

इतना कहकर दीनताकी सीमा तक पहुँची नम्रतासे अभिभूत होकर वे हँसते-से बोले—"भाई साहब, कोई बात हो और दुनिया न जाने, तो उसका होना ही क्या, जंगलमें मोर नाचा, न नाचा !"

मैंने कहा—वाह, सारी उम्रमें तो एक बार आप संयोजक हुए हैं और उसकी भी खबर न निकले, यह कैसे हो सकता है ?

बहुत खुश हुये और चले गये । शामको फिर आये, उसी ठाठमें थे । बोले—"सुबहसे अब तक घर नहीं गया । कमेटीके सब मेम्बरोंसे मिलकर आया हूँ । भाई साहब, मेम्बर बननेको तो हरेकका दिल उछलता है, पर काम करनेको बाबू नानकराम । और तो और, कलक्टर साहब भी कह रहे थे कि बाबू नानकराम सब ठीक-ठाक कर लेगा । ठीक है, मैं कन्वीनर हूँ, तो सब काम करूँगा ही, आखिर अपनी नाक तो नहीं कटवा सकता ।"

कुछ ठहर कर धीरेसे बाबू नानकराम बोले—"भाई साहब, एक नोटिस तो लिख दीजिये कि इस तरह एक शानदार मुशायरा होने वाला है, सब लोग तशरीफ़ लायें ।"

मैंने कहा—अभी तो तारीख़ दूर है, तीन दिन पहले छपाइयेगा नोटिस । सुनकर बोले—"अजी, तीन दिन पहले दूसरा छप जाएगा । एक तो आप आज ही लिख दें ।"

मैंने पूछा—छपाईका खर्चा तो पहले कमेटीसे पास करा लो, तभी तो छपाओगे नोटिस ?

सुनकर बोले—"अजी, कमेटीके सिरमें मारो झाड़ू ! मैं इसलिए तो कन्वीनर नहीं बना कि हरेक बात उनसे पूछ कर करूँ और हरेक बात उनसे ही पूछनी पड़े तो मैं कन्वीनर ही काहेका; मैं जो चाहूँगा, सो करूँगा ।"

दूसरे दिन नोटिस छप गया, पर बाबू नानकराम नाराज़ थे । बात यह हुई कि नोटिस छपा था खानबहादुरकी देख-रेखमें, इसलिए कमेटीके प्रेजीडेंटकी हैसियतसे उनका नाम तो छपा शानसे मोटे-मोटे अक्षरोंमें और बाबू नानकराम एक कोनेमें निपका दिये गये—इस तरह कि जैसे, मकड़ीने कोई मक्खी फांस ली हो ।

फिर भी वह नोटिस बाबू नानकराम घर-घर देते फिरे । कुछ भी हो, उस पर उनका नाम तो था ही ।

खानबहादुर इस अखाड़ेके पुराने खिलाड़ी थे, इसलिए कोई भी संयोजक हो, उनका चपरासी रहेगा, यह वे जानते थे। उन्होंने सब शायरोंको खत लिख दिये और सबने आना भी मंजूर कर लिया, पर बाबू नानकराम भी चूकनेवाले न थे। खत डालने डाकघर तो वे ही गये थे, सबके पते उतार लाये और उन्हें बहाने-बेबहाने खत लिखते रहे। किसीसे आनेकी गाड़ी पूछी, तो किसीसे कुछ और; सब तक अपना संयोजक पद और नाम उन्होंने पहुँचा ही दिया।

"हिन्दीमें एक पोस्टर छपा दीजिए, जिसमें मेरा नाम और संयोजक-पद छपा हुआ हो।" बाबू नानकरामने मशायरेसे दो दिन पहले आकर कहा, तो मैंने आश्चर्यसे पूछा—मशायरेका पोस्टर हिन्दीमें क्यों छपा रहे हो भाई? बोले—"खानबहादुरकी अपनी दुनिया है, उसमें उनके पोस्टर काम करेंगे, पर मेरी दुनिया तो हिन्दी वालोंकी है, उसमें मेरे पोस्टर काम करेंगे। आप छपा दीजिये और भाई साहब, नीचे मेरा नाम और ओहदा जरा मोटे हरूफ़ोंमें लिख दीजियेगा।"

मैंने कहा—कमेटी इसका खर्चा न देगी तो उभर कर बोले—"आपके चरणोंकी कृपासे मैं भी भूखा-नंगा नहीं हूँ।" खैर पोस्टर छपा और बाबू नानकरामने रात भर सड़कोंकी सैर करके खुद वे पोस्टर चिपकवाये।

मशायरेके दिन वे हरेक गाड़ीपर खुद गये और छाती परसे पल भरको भी उन्होंने संयोजकका बिल्ला नहीं उतारा। मंच पर उन्होंने अपना प्रभाव प्रदर्शित करनेमें कोई कमी नहीं रक्खी। हालाँकि वहाँ खानबहादुर ही सब कुछ थे, पर माइकसे मुँह लगानेका कोई मौक़ा नानकरामने नहीं छोड़ा।

दूसरे दिन जाने क्या-क्या बघारते मुझे मिले। मैंने पूछा—आपने भी कोई नज़्म पढ़ी या नहीं, तो सम्पूर्ण गौरव अपनेमें समाये बोले—वहाँ जो दूसरे लोग पढ़ रहे थे, वह मैं ही पढ़ रहा था। भाईसाहब! नज़्म पढ़ना आसान है, मशायरेका इन्तज़ाम करना मुश्किल है।"

इस बातको बीते वर्षों हो गये, पर आज भी वह हैंडबिल, पोस्टर और निमंत्रण पत्र उनकी फ़ायलमें लगा है और अक्सर वे उसका ज़िक्र किया करते हैं। जब जब मेरे सामने वे अपने मुशायरेका घुमा फिरा कर ज़िक्र करते हैं मैं सोचा करता हूँ कि कौन आदमी असलमें कितना ऊँचा और कितना नीचा है, इसकी एक कसौटी यह भी है कि जो जितनी छोटी बातको, जितना अधिक महत्त्व देता है, वह उतना ही छोटा है और जो जितनी बड़ी बातको, जितना कम महत्त्व देता है, वह उतना ही ऊँचा है।

बात यह है कि जो कुछ आपने किया है, उसकी क़ीमत दुनिया जानती है। अब आप यदि अपनी इकन्नीको गिन्नी बताएँ, तो लोगों की निगाहमें गिन्नीवाले तो आप हो ही नहीं सकते, इकन्नीवाले भी न रहेंगे।

चार घड़ीके राजा जल्सेके संयोजकका संक्षेपमें सन्देश यह है कि डींग न मारो, क्योंकि उससे किसीपर नया प्रभाव तो पड़ता नहीं, पहलेसे पड़ा हुआ भी उखड़ जाता है।

मांगी हुई चीज़ें !

'कल्याण' के सम्पादक श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार बहुत ही सात्त्विक और उदार विचारोंके सहृदय सज्जन हैं। उन्हें दूसरोंका दुःख प्रभावित करता है और उसे दूर करनेमें अपना हिस्सा बटाकर वे सुखी होते हैं। संक्षेपमें **'वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड़ पराई जाणे रे !'** के वे श्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं। मुझे बहुत वर्षोंसे उनका स्नेह भी प्राप्त है और 'नया जीवन' को वे पसन्द करते हैं, यह भी मैं जानता हूँ।

इस पृष्ठभूमिमें मैंने उन्हें 'कल्याण' के कुछ ब्लाक भेजनेके लिए लिखा। उनका जो उत्तर आया, उसे पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि मैं बहुत ऊपरसे गिर गया हूँ और मेरी पसलियाँ, टूटीं नहीं, तो दचक जरूर गई हैं। उन्होंने लिखा था—"कल्याणके ब्लाक बाहर किसीको न देनेका संचालकोंने नियम बना लिया है। इसका कारण यह है कि इधर दो-तीन वर्षमें कई जगहोंसे ब्लाक लौटकर नहीं आये, खो गये और टूट-फूट गये। आशा है कि आप इसके लिए क्षमा करेंगे।"

क्या मेरे मनको इस उत्तरसे इसलिए धक्का लगा कि मुझे ब्लाक नहीं मिले ? या इसलिए कि मैंने मान लिया कि श्री पोद्दार जी बड़े कृपण निकले कि ब्लाक देनेसे इन्कार कर दिया ? दोनों प्रश्नोंपर मैं हाँ नहीं कह सकता; क्योंकि मेरा मन इतना छोटा कभी नहीं हुआ कि किसी चीजके न मिलने पर धक्का खा जाऊँ और पोद्दारजीके सम्बन्धमें मेरी निष्ठा इतनी हल्की नहीं कि इस उत्तरसे उन्हें कृपण [illegible]।

फिर बात क्या है ? इस उत्तरके दर्पणमें मुझे अपने [illegible] राष्ट्रकी एक हीनवृत्तिका एक ऐसा प्रचण्ड प्रदर्शन [illegible] कि मैं [illegible]। वह हीनवृत्ति है—दूसरेसे मांगी हुई चीजके प्रति ईमानदारीकी [illegible]।

ऐसे बहुत कम लोग होंगे, जिन्हें कभी किसी दूसरेसे कोई चीज़ मांगनी न पड़ी हो और दूसरेसे समय पर चीज़ मांगना कुछ बुरा भी नहीं है; क्योंकि इस मांगनेमें ही यह भी है कि हम दूसरोंकी ज़रूरतके समय अपनी चीज़ भी दें, पर हममेंसे ऐसे बहुत कम लोग हैं, जो उस मांगी हुई चीजके प्रति ईमानदार हों। यह ईमानदारी दो तरहकी है। पहली यह कि हम मांगी हुई चीजको अपनी चीजसे भी ज़्यादा सावधानीसे बरतें-रक्खें और दूसरी यह कि काम होते ही, सब काम छोड़कर पहले उसे लौटाएँ! फिर यह ईमानदारी मांगी हुई चीजके साथ ही नहीं, हर वादेके साथ नत्थी है।

स्वर्गीय बाबू प्रेमचन्दजीके साथ मेरा सम्बन्ध पिता-पुत्र जैसा था। एक बार मैंने उनसे अपने एक विशेषांकके लिए कहानी मांगी। उत्तरमें उन्होंने लिखा——कई सम्पादकोंने मुझसे कहानी मंगाई और पारिश्रमिकके रुपये भेजनेका वचन दिया। मैंने उस वचनके भरोसेपर उतने ही रुपयोंका प्रोग्राम बना लिया, पर रुपये नहीं आये; बार बार लिखने पर भी नहीं मिले और बहुत तकलीफ़ हुई। इसीलिए अब मैंने रुपये लेकर कहानी भेजनेका नियम बना लिया है।

वही दूसरेके प्रति ईमानदारी बरतनेकी बात! बालकोंकी तरह भोले और विश्वासी प्रेमचन्द जीमें यह काइयाँपन कहाँसे आया? कौन ज़िम्मेदार है इसके लिए?

कई वर्ष हुए——पिछले युद्धके दिनोंमें——एक बार मैं आचार्य चतुरसेन शास्त्रीसे मिला। बातों-बातोंमें मैंने उनसे पूछा——आपकी 'अक्षत' के बादकी कहानियाँ कहाँ हैं? बोले——"कटिंगसके रूपमें एक फ़ाइलमें पड़ी हैं, काग़ज़का मिलना सुगम हो, तो किसी प्रकाशकको दूंगा।"

मैंने कहा——"आपकी कहानी-कलाका अध्ययन करनेके लिए मैं एक बार उन्हें पढ़ना चाहता हूँ।"

ज़रा रूखे-से होकर बोले——"आप यहीं पढ़ सकते हैं उन्हें। लेजानेके लिए तो मैं दूँगा नहीं!"

उसी दिन मैंने अपनी डायरीमें लिखा था—"शास्त्रीजीकी इस रुखाईके पीछे जाने कितने गैर जिम्मेदार मित्रोंके विश्वासघातोंकी कहानियाँ छिपी बैठी हैं।" बात यह है कि मनुष्यका सहज स्वभाव है विश्वास। इस विश्वासकी माता है सरलता और विश्वासका पुत्र है बन्धुत्व, जो जीवनकी सामूहिकताका सूत्र है। सरलता पर कहीं आघात होता है, तो विश्वास चौंकता है। चौंक है सन्देहकी माता। यह सन्देह अविश्वासका शक्ति-दाता बन्धु है और यों अविश्वास है खरा, जो जीवनके शालकी समग्रताको काटकर उसे छिद्रोंसे भर देता है। जहाँ छिद्र हैं, अपूर्णता है और अपूर्णता जीवनकी निर्बलता ही है, यह साफ़ है।

सहृदय श्री पोद्दारजी, सरल-शिरोमणि श्री प्रेमचन्द जी और चतुर-सुजान श्री चतुरसेन जीके उदार सरलता पर आघात होनेके कारण उनके खण्डित हुए विश्वासके चिन्ह ही तो हैं!!

विवाह हो या उत्सव दूसरोंकी चीजें माँगी आती हैं। काम हो जाता है, वे पड़ी भिनका करती हैं। चीज देनेवालोंको उन्हें उठाकर लानेकी भी जिम्मेदारी लेनी पड़ती है और कई बार उनकी सफ़ाई भी स्वयं करानी पड़ती है। हमारे द्वारा जब यह होता है, हम यह अनुभव नहीं कर पाते कि हम अपने समाजके विश्वास और उदारता पर डाका डाल रहे हैं, पर जाने-अनजाने यह होता है डाका ही!

माँगी हुई चीजके प्रति ईमानदारी बरतनेमें थोड़ी-सी सावधानी रखकर हम उस महापापसे बच सकते हैं, जो हमें ही नहीं लगता, हमसे समाजमें भी फैलता है। पहली बात तो, कभी किसीसे कोई चीज माँगिए न लीजिए। लेनी ही पड़े, तो उसे अपनी ईमानदारीकी तरह बरतिये और काम होते ही, साफ-सुथरे रूपमें उसे लौटा दीजिए। दूसरी बात यह ध्यान रखिये कि वह चीज वहीं और उसी तरह रखी जावे, जहाँ और जिस तरह [illegible] आप लाये थे।

ध्यान रखा कीजिये कि किसीसे माँगी हुई चीज आप किसी तीसरेको कभी माँगे न दें; वह तीसरा चाहे आपका मित्र हो, सम्बन्धी हो, रिश्तेदार हो!

जमालो दूर खड़ी

संसारने उस दिन सभ्यताकी ओर एक बड़ा पग उठाया जिस दिन उसे आग जलानेकी विद्याका पता लगा। आग न जलती, तो चूल्हा न होता, चूल्हा न होता, तो भाप न बनती। भाप न होती, तो इंजन न बनता, इंजन न बनता, तो मशीन न बन पाती। मशीनें न बन पातीं, तो बिजलीका आविष्कार न होता और बिजलीका आविष्कार न होता, तो संसार हमें आज जैसा दिखाई देता है, वैसा दिखाई न देता।

इस सत्यकी छायामें हम कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि आग हमारी सभ्यताकी मां है और हमारे देशमें ही नहीं, संसार भरमें मां पवित्रताका सर्वोत्तम प्रतीक है।

ठीक है यह आग जलानेकी बात है और मुझे कहनी है आग लगानेकी बात, पर यह भी तो ठीक है कि बीज हो, तो पेड़ उगे। आज आग न जलती, तो यह लगती कैसे? कह तो रहा हूँ आपसे कि आग जली, चूल्हे बने, चूल्हे बने कि परिवार आये और परिवार आये कि समाज बना। बस समाज बना कि कलाओंने जन्म लिया और भाई साहब, इन्हीं कलाओंमें एक है आग लगाना।

अरे, यह क्या? आप यह नाक भौं क्यों सकोड़ रहे हैं। अच्छा, मैंने जो आग लगानेको कलाओंमें सम्मिलित कर लिया, तो आप गरमा गये, पर यह क्षेत्र है विवेचनाका और आरम्भमें ही समझ लीजिये कि विवेचना इस गरमीसे पिघल नहीं सकती। मैं फिरसे कहता हूँ: हाँ, हाँ, निश्चय ही आपको चिढ़ानेके लिए नहीं, सत्यकी घोषणाको बल देनेके लिए कि आग लगाना भी एक कला है और अत्यन्त पवित्र कला है।

यह लीजिये, आप फिर भड़कनेको हो रहे हैं कि मैं आग लगानेको कला

ही नहीं, बहुत पवित्र कला कह रहा हूँ । मालूम होता है आप यों न मानेंगे और मुझे आपको प्राचीन साहित्यमें उतारना पड़ेगा ।

पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इस कलाका आविष्कार किसी मामूली मनुष्यने नहीं, एक ऋषिने किया है ।

"ऋषिने ?"

जी हाँ, ऋषिने और उनका नाम है नारद । महर्षि नारदने इस कलाका आविष्कार करके इसे राम भरोसे छोड़ ही नहीं दिया, बरसों इसका पालन-पोषण भी स्वयं ही किया । उन्होंने इस कलाके सम्बन्धमें जो परीक्षण किये, उनके पात्र इस धरतीके मरते-जीते मनुष्योंको ही नहीं, अजर-अमर देवताओं तक को बनाया और कभी-कभी तो उन्होंने देवताओं और मनुष्यों दोनोंको एक ही चक्के पर रख कर घुमा दिया ।

महाराजा भीमकी कन्या दमयन्तीका स्वयंवर होनेको था । स्वयंवर तो नामका ही था; क्योंकि वह नलको अपना पति बनानेका बहुत पहले निश्चय कर चुकी थी । दमयन्ती रूपका लच्छा, गुणोंका समुद्र और ज्ञानका स्तूप । अब महर्षि नारद बेचैन कि ऐसी असाधारण कन्याका स्वयंवर और इतनी साधारणताके साथ ? साधारणता, सरलता, इस कलाके उद्धारकके लिए असह्य । जप-तप छोड़ नारद बाबाने अपना इकतारा उठाया और पहुँचे स्वर्गपति इन्द्रके पास ।

इन्द्र पूछने लगे कुशल-मंगल, पर नारद बाबाको कुशल-मंगलसे चिढ़ । सोचने लगे दुनियासे दौड़े स्वर्गमें आये कि चलो यहीं कुछ चहल-पहल मिलेगी, पर यहाँ तो राख भी ठंडी है । अब क्या करें ? जिसे समय पर सूझ न हो, वह ऋषि क्या ? सूझ गई तुरन्त [illegible] और स्वर्गपति इन्द्र पर ही लगाया ऋषिने अपना निशाना, पर निशाना लगाते ही किसीने ताड़ लिया, तो निशाना क्या, बजरबट्टू है ।

हजारों कोस घुमा कर बोले—महाराज, आपके स्वर्गमें आजकल बड़ी बेरौनकी है । बात यह है कि संसारमें [illegible]

प्राप्त हो और वे स्वर्गमें पहुँचें, पर आजकल संसारमें एक ऐसी घटना घटित हो रही है कि सब क्षत्रिय राजा उसमें उलझे हुए हैं। उन्हें लड़नेकी आजकल फ़ुरसत ही नहीं है।

इन्द्रके मनमें उस घटनाके सम्बन्धमें एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई और नारदने जिज्ञासाकी उस आगको भड़का दिया अपनी चतुरतासे। उपसंहार यह कि इन्द्र अब स्वयंवरमें जानेको तैयार और नारद बाबाका काम सिद्ध। इन्द्र तीन अन्य देवताओंके साथ स्वयंवरमें गये और वहाँ नलको दूत बनानेमें जो गुल खिले, वह सब प्राचीन साहित्यमें आज भी सुरक्षित है।

इस कलाका कलाकार होना बहुत बड़ी बात है। इसमें यदि मनुष्य सफल हो, तो पूरी ऊँचाई पर पहुँचता है और असफल हो, तो बुरी तरह पिटता है। इस पिटाईका भी सबसे ऊँचा मानदंड (रिकार्ड) महर्षि नारद ही स्थापित कर गये हैं। बात यह हुई कि देवता और ऋषि दोनों नारदसे तंग थे और नारद अपनी सफलताओंसे इतराये, किसीको कुछ समझते ही न थे। तय हुआ कि नारदको एक पाठ पढ़ाया जाय।

एक स्वयंवरकी रचना की गई और नारदको बहलाकर उधर ले जाया गया। नारद उस कन्याको देखकर मुग्ध हो गये और दौड़े-दौड़े विष्णुके पास गये कि मेरा मुँह आप अपने वरदानसे ऐसा कर दें कि मेरा मंगल हो। विष्णु मन ही मन मुसकराये और उन्होंने नारदका मुँह बन्दरका बना दिया। अब नारद बाबा अपनेको संसारका सबसे सुन्दर जीव समझे हुए स्वयंवर पहुँचे और बार-बार उस लड़कीके सामने उचकने लगे। लड़की उन्हें देखती और डरकर पीछे हट जाती, पर नारद बाबा मानते कि लज्जाके कारण उसने अभी ठीक-ठीक हमें देखा नहीं है। उनका विश्वास था कि देखनेके बाद तो यह असम्भव ही है कि कन्या उन्हें वरमाला न पहनाये।

उन्हें बार-बार उचकते देख किसीने कहा कि अरे बन्दर, अपना मुँह तो देख। नारद बाबाने जाकर कुएँमें झांका, तो तबियत झक हो गई। इस तरह महर्षि नारद इस कन्याका उद्धार ही नहीं कर गये, अपने जीवन भर-

के संस्मरणोंका इतिहास भी हमारे लिए छोड़ गये हैं। और ये नारदबाबा इस धरती पर कब खिले थे इसे कम से कम मैं नहीं जानता; हाँ, इतना जानता हूँ कि दो हजार वर्ष पहले जब मेरे वंशके पुण्य प्रवर्तक इस संसारमें थे, तब भी नारद चिर अतीतके काव्यका ही वैभव थे। इससे दो बातें स्पष्ट हैं कि यह कला जमा-जथा आठ दिनकी पैदा हुई कोई टुटपूँजिया चीज नहीं है और इसके प्रवर्तक भी कोई ऐसे वैसे नहीं, स्वयं महामहिम महर्षि नारद हैं। इस दशामें यदि इस कलाको बहुत पवित्र कहूँ, तो कुछ न दफा चवालीस तोड़ता हूँ, न कोई वैसा काम करता हूँ, जैसा अक्सर लोग रेलके टिकटकी खिड़की पर कर दिया करते हैं।

विश्वके कई विख्यात समालोचकोंका मत है कि कवि बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं। कविताके सम्बन्धमें संसारमें हजारों ग्रन्थ हैं, इसलिए उसके बारेमें यह कहा जा सके या न कहा जा सके, पर इस कलाके सम्बन्धमें तो कहा ही जा सकता है कि इसके कलाकार बनते नहीं, जन्म लेते हैं; क्योंकि अभी तक इसका न कोई व्याकरण ही बना, न छन्द शास्त्र, न परिभाषा शास्त्र, इसलिए इस कलामें निष्णात होना पूर्व जन्मके पुण्यका फल है।

कविता जीवनकी बहुत बड़ी निधि है, पर संसारमें बहुत कम लोग जानते हैं कि कविताका जन्म आग लगानेकी कलासे ही हुआ था। एक तरहसे काव्य कला इस महान् कलाकी पुत्री है।

यह लीजिये, आप फिर भुनाये जा रहे हैं, जैसे मैंने कोई शेखचिल्लीकी झक झोंक दी हो, या जूता पहने वेदमन्त्र पढ़ दिया हो। अरे साहब, मैं पढ़ा लिखा आदमी हूँ और पढ़े लिखोंसे ही बात कर रहा हूँ। किसी दृढ़ आधारके [illegible] कह सकता हूँ। देखिये, आदि कवि हैं वाल्मीकि जो प्रख्यात हुए राम-चरित्र लिखकर, पर यह भी तो सोचिए कि रामको इस लायक किसने बनाया कि कोई कवि उनका चरित्र लिखे ! नारदने। [illegible] भी मेरे [illegible] है। न होती [illegible], जो इस कलाको [illegible] अपनी कलाका

प्रभाव डालती, न रामके सिरसे रखा-रखाया मुकुट उतरता, न वे वन जाते, न रावणको मारते, न काव्यका विषय बनते। अब आया आपकी समझमें कि कैसे यह कला काव्य-कलाकी जननी है।

इस कलाकी एक विशेषता यह है कि इसकी सफलता भूमिया माईके प्रसादकी तरह है कि जिसे मिल गया, मिल गया, जिसे न मिला, नहीं ही मिला——हजार सिर पटका, लाख मिन्नतें कीं, नहीं मिला, नहीं मिला।

जीवनका चमत्कार देखिये कि मामूली नौकरानी मन्थरा इस कलामें पारंगत हो गई और ज्ञानी, अनुभव-वृद्ध महाराजाधिराज दशरथ इसकी बारहखड़ी न पढ़ पाये।

जी, क्या पूछ रहे हैं आप कि जब यह कला आर्ष यानी ऋषि-प्रणीत है, पवित्र है, तो इसे संसारके लोग हल्की दृष्टिसे क्यों देखते हैं! प्रश्न ठीक है और मालूम होता है अब आप उसे गहराईसे समझनेके लिए चिन्तनके चौराहे पर आ गये हैं। विश्वास रखिये, आप अब उसकी बारीकियोंको समझ लेंगे।

संसारमें भले-बुरेकी बहुत चर्चा है, पर ज्ञानकी बात यह है कि न कुछ भला है, न बुरा है; यह सब सापेक्ष्य है। कविता बहुत पवित्र वस्तु है, पर यदि कोई पापका प्रचार करनेके लिए उसका उपयोग करे, तो वह घृणित हो जायगी। एक बात और समझने लायक है कि ज्ञानी लोग इस दुनियाको अंधी मानते हैं, पर मेरा विचार है कि इन ज्ञानियोंको सत्यके किनारे पहुंचकर भ्रम हो गया है और ये भटक गये हैं। मैंने अपने होश-हवासमें बार-बार देखा है कि यह दुनिया अन्धी नहीं, कानी है। यह प्रत्येक तथ्य और तत्त्वको एक ही नज़रसे देखती है: कानी, जी हाँ, कानी; यानी एकाक्षी! कैसे? आइये समझ लीजिये।

आज ज़मानेकी भाषामें आचार्या श्रीमती विदुषीरत्न मन्थरादेवीके कारनामों ही देखिये। यह महाभागा नारी इस देशमें जन्म न लेती, तो न आदिकवि होते, न तुलसीदास, पर यह दुनिया उसके कार्यमें रामकी माताके

आँसू और रामकी पत्नीके पैरोंमें पड़े मामूली छालोंका ही दर्शन करती है। अच्छा कहिये, यह कानेपनकी बात है या सुआँखेपनकी ? नई बात है, पर भाई साहब, मान लीजिये कि दुनिया कानी है। इस कानी दुनियाने ही इस कलाको बदनाम कर दिया है।

क्या अब भी आप इस कलाके सामने सिर न झुकायेंगे। ठीक है इसका दुरुपयोग किया गया है, पर भाई साहब, दुरुपयोग करनेमें तो यह दुनिया ईश्वरका भी नहीं चूकी। मेरे एक मित्र हैं। वे रेलमें यदि भीड़ हो, तो इस कलाका उपयोग करते हैं और लोगोंको बहसमें उलझा कर जगह ले लेते हैं। संस्कृतके विश्व-विख्यात ग्रन्थ पंचतंत्रमें एक भंगीकी कथा है। उसका एक राजमन्त्रीने जब अपमान कर दिया, तो उसने इस कलाका एक अद्‌भुत उपयोग किया। राजा और मंत्रीकी मैत्रीको पल भरमें छिन्न-भिन्न कर दिया। इस कलाके ऐसे चमत्कारोंकी अनन्त कथाओंसे हमारा साहित्य भरा पड़ा है।

"यह तो हृदयोंमें आग लगानेकी बातें हैं। आप इसे भुसमें आग लगानेकी कला क्यों कहते हैं ?" खूब प्रश्न है आपका। सचमुच अब तो आप इस कलाकी गहराइयोंमें उतर रहे हैं। जी, बात यह है कि भुस एक मुलायम चीज़ है और उसके ढेरमें यदि एक तरफ़ आप ज़रा-सी चिनगारी रख दें, तो क्षण भरमें वह सारे ढेरमें फैल जाती है। यही बात इस कलाकी है। इसमें मशालें नहीं जलाई जातीं, सिर्फ़ एक दियासलाई खर्च की जाती है।

क्या समझे आप ! आख़िर यह कला है। सभी कलाओंमें कलाकार-की अदृश्यताको महत्त्व दिया गया है। कवितामें कविके अतिरिक्त क्या होता है, पर यदि कवि उसमें दिखाई दे, तो कविता अपने आसनसे गिर कर प्रचार बन जाती है। चित्रमें चित्रकार न हो, तो क्या रखता है ? केवल रंग और काग़ज़, पर चित्र उसमें दिखाई कहाँ देता है। कलाकार भी ईश्वरकी तरह रहे और दिखाई न दे, यही कलाका चरम विकास है।

भुसमें आग लगानेकी कलामें इस चरम विकासका भी चरम विकास हुआ है, इसलिए यह कला कलाओंकी महारानी है।

जन-भाषामें इस कलाकी प्रतीक है जमालो, जिसका चरित्र संक्षेपमें इस प्रकार घर कर गया है कि भुसमें आग लगा, जमालो दूर खड़ी। इस दूर खड़ी होनेमें, इस अदृश्यतामें ही जमालोकी आचार्यता है। जमालोको अपना आदर्श मानकर आप मनोरंजन ही नहीं कर सकते, समाजसुधार भी कर सकते हैं।

कैसे? अजी वाह, यह मोटी बात भी आप नहीं समझे? मान लीजिये, कोई बूढ़ा आदमी किसी षोड़शीसे विवाह करना चाहता है। अब आप उससे मिलिये और कहिये कि आप यह विवाह अवश्य करें। जीवन बिना साथी-के नहीं कटता। वह आपको अपना हमदर्द समझेगा। अब विवाहसे एक दिन पहले घबराये, परेशानसे आप उसके पास जाइये और कहिए कि मुझे अभी पता चला है कि उस लड़कीके पिताने लड़कीको यह समझाया है कि आपको किसी दिन ज़हर दे दे, जिससे सारे माल पर उसका क़ब्ज़ा हो जाये। पता नहीं इसमें कितना सत्य है, पर वह आदमी अच्छा नहीं है इसलिए ऐसा हो तो सकता है। ख़ैर, आप अच्छी तरह जाँच पड़ताल कर लीजिये और तब सिर पर मौड़ रखिये।

यक़ीन कीजिये, वह आदमी अब चौकी नहीं चढ़ सकता। यह है इस कलाका चमत्कार! भाई साहब, आख़िर यह महर्षि नारदका आविष्कार है, किसी ऐरे-ग़ैरे अनाड़ी कुम्हारकी बनाई हंडिया नहीं।

आप कितने विश्वसनीय हैं ?

कहानी एक ऐसी दिलचस्प चीज है कि बालक हो या बूढ़ा; सबको भली लगती है। जीवनमें ऐसी भी घड़ियाँ आती हैं, जब किसी कामको जी नहीं चाहता! कौन जाने इस समय आप भी ऐसी ही घड़ियोंसे गुजर रहे हों, पर हाँ, आप यह पूछना चाहेंगे कि हम चाहे ऐसी घड़ियोंसे गुजर रहे हों, जब किसी कामको जी नहीं चाहता और चाहे ऐसी घड़ियोंसे कि जिनमें हरेक काम वार्षिक परीक्षाकी तरह आवश्यक दिखाई देता है; आप हमारी यह ग़ैर सरकारी सर्वे क्यों कर रहे हैं?

विश्वास कीजिए मुझे आपके इस प्रश्नसे खुशी होगी, क्योंकि मैं ऐसा तुनकमिजाज नहीं हूँ कि आपके प्रश्नसे कुछ इस तरह भड़क उठूँ, जैसे लाल कपड़ेसे हमारी गौशालाका बिजार भड़क उठता है। प्रश्न पूछनेका अर्थ होता है कि आप मेरी बात सुन तो रहे ही हैं, उसमें दिलचस्पी भी ले रहे हैं।

जी, तो मैं यह कह रहा था कि जब कोई आदमी ऐसी घड़ियोंसे गुजर रहा हो कि उसका किसी काममें जी न लगे और उससे पूछनी हो कोई जरूरी बात, तो उसका तरीक़ा यह है कि उसे पहले कोई कहानी सुनाओ और फिर उससे वह बात पूछो। कहा नहीं अभी मैंने आपसे कि कहानी एक ऐसी दिलचस्प चीज है कि बालक हो या बूढ़ा, सबको भली लगती है। अब क्योंकि मुझे भी आपसे एक बातचीत करनी है, इसलिए मैं आपको पहले एक कहानी सुनाता हूँ और कहानी क्या सुनाता हूँ यों कहिये कि कहानीसे ही अपनी बातचीत आरंभ करता हूँ।

एक थे ठाकुर साहब। देहातके खाते-पीते चौधरी, घोड़ा रखनेका उन्हें शौक़ था और घोड़ा भी ऐसा कि उसके जोड़का गाँव-गवाँडमें न निकले।

सचमुच उनके घोड़ेकी धूम थी—लोग उसके बारेमें हुई-अनहुई बातें कहा करते थे। यह बात तो आँखों देखी-सी कही जाती थी कि ठाकुर साहब उसपर पानी भरा कटोरा हाथपर धरे बैठ जाते हैं और वह ऐसी दुलकी नापता है कि हवा हो जाता है, पर कटोरेका पानी नहीं छलकता! एक दिन ठाकुर साहब अपने इसी घोड़ेपर चढ़े चले जा रहे थे कि एक लंगड़ाता, दीन-हीन साधु उन्हें रास्तेमें बैठा मिला। ठाकुर साहबको देखकर उसने कहा—मुझे अगले चौराहेतक अपने घोड़ेपर बिठा लीजिये। वहाँ मुझे कोई आती-जाती सवारी मिल जायगी; नहीं तो यहीं पड़ा-पड़ा मैं मर जाऊँगा। ठाकुर साहबको दया आ गई और वे घोड़ेकी पीठसे नीचे उतर आये। सहारा देकर उन्होंने बूढ़ेको घोड़ेपर बिठाया, पर यह क्या? उन्होंने आश्चर्यसे देखा कि वह मरता-जीता बूढ़ा घोड़ेपर बैठते ही तगड़ा नौजवान हो गया और ठाकुर साहबको झटका दे, घोड़ा ले उड़ा—यह जा, वह जा!

उड़ते-उड़ते उसने कहा—"मैं आपका दोस्त विक्रम डाकू हूँ ठाकुर साहब!"

ठाकुर साहबने जोरसे पुकारकर कहा—"विक्रम, मैं राजपूत हूँ और राजपूत अपनी जान दे देता है, पर बातसे नहीं हटता। मैं कह रहा हूँ कि घोड़ा तेरा हो चुका, पर मेरी एक बात सुनता जा!"

रासके इशारेपर घोड़ा खड़ा हो गया। ठाकुर साहबने शान्त भावसे कहा—"बात बस इतनी ही है कि यह बात तुम किसीसे कहना मत!" और ठाकुर साहब बिना विक्रमकी तरफ़ देखे गाँवकी ओर लौट पड़े। विक्रम अपनेमें खो-सा गया और तब जरा बढ़कर उसने कहा—"क्यों ठाकुर साहब, मैं यह बात किसीसे क्यों न कहूँ? इसमें आपका क्या फ़ायदा है?"

ठाकुर साहबने कहा—"अगर यह बात कहीं फैल गई तो लोग फिर ग़रीबोंका विश्वास नहीं करेंगे!" और ठाकुर साहब फिर अपनी राह चल पड़े। विक्रम भी घोड़ा दौड़ाता किसी ओर को चला गया, पर दूसरे दिन

प्रातःकाल ठाकुर साहबके साईसने उनसे कहा—"जाने कौन कब हमारा घोड़ा हमारे अस्तबलमें बांध गया है !"

आप मेरी तरफ़ मुंह बाये क्या देख रहे हैं, मेरी कहानी पूरी हो गई।

"कहानी पूरी हो गई ?" हाँ जी, कहानी पूरी हो गई, पर उसका मतलब अभी बाक़ी है और मतलब यह है कि यदि समाजमें यह बात फैल जाये कि एक साधु, फ़क़ीर, दीन बनकर ठाकुर साहबका घोड़ा उड़ाकर ले गया, तो आज साधुताके प्रति, फ़क़ीरीके प्रति, दीनताके प्रति जो निष्कारण करुणाका भाव और विश्वास समाजमें है, उसका स्थान सन्देह यानी अविश्वास ले लेगा और इस तरह साधुता, फ़क़ीरी और दीनता समाजकी उन्मुक्त सेवाओंसे वंचित हो जायेंगी।

कहानी भी पूरी हो गई और उसका मतलब भी, पर इस मतलबका भी एक मतलब है और वह अभी बाक़ी है। मतलबका मतलब यह है कि किसी वर्गका, किसी श्रेणीका, किसी गिरोहका, एक आदमी भी यदि अविश्वसनीय हो, तो वह समाजमें अपने सारे वर्ग, पूरी श्रेणी और गिरोहके प्रति अविश्वासका भाव पैदा कर सकता है।

आप कहते हैं कि मेरी बात अभी साफ़ नहीं हुई। मैं एक नई कहानी सुनाकर उसे साफ़ कर दूंगा और वह कहानी भी क्या है, इसी शताब्दीके आरंभिक दिनोंकी एक घटना है। एक ग़ुलाम देशका विद्यार्थी जापानमें पढ़ने गया। एक दिन किसी म्यूजियमसे वह विद्यार्थी एक चीज चुरा लाया। यह बात किसी तरह खुल गई। बस फिर क्या था। लाइब्रेरीके बाहर नोटिस लगा दिया गया कि उस ग़ुलाम देशका कोई भी मनुष्य अब म्यूजियम नहीं देख सकता !

अब समझे आप, इस एक विद्यार्थीने अपनी अविश्वसनीयतासे, अपने सारे देशको अविश्वसनीय बना दिया। तभी तो मैं कहता हूँ कि किसी

समाजकी, संगठनकी, विश्वसनीयताके लिए यह आवश्यक है कि उसका हर सदस्य भी विश्वसनीय हो।

हमारे भीतर लाख गुण हों, पर यदि हम विश्वसनीय नहीं हैं, तो वे लाख गुण राख हैं। प्रसिद्ध समालोचक कार्लाइलने कहा है कि जिस आदमीके बारेमें आप यह कह सकते हैं कि वह विश्वसनीय नहीं है, उसके विरुद्ध और कुछ मत कहिये। दूसरे शब्दोंमें अविश्वसनीयतासे बढ़कर चरित्रका और कोई धब्बा हो ही नहीं सकता; क्योंकि कह तो रहा हूँ इतनी देरसे कि हमारी अविश्वसनीयता हमारी ही अविश्वसनीयता नहीं है, वह हमारे समाज और राष्ट्रकी भी अविश्वसनीयता है।

इस इतनी बड़ी भूमिकाकी छायामें मैं आपसे पूछता हूं कि आपने कभी सोचा है कि आप कितने विश्वसनीय हैं ?

"अपने लोग किसे दिखाई देते हैं ?" यह ठीक कह रहे हैं आप और आपकी यह बात भी मुझे जंचती है कि "आखिर अपनी विश्वसनीयताको कसौटीपर रखनेके नियम क्या हैं ?" विश्वसनीयता जीवनका, हमारे चरित्र-का, एक ऐसा गुण है कि हम उसे हिमालयसे भारी कह सकते हैं और समुद्रसे गहरा, पर वह इतना हल्का भी है कि हम उसे इशारोंमें ही तोल लें।

महाराजा भर्तृहरिके जीवनमें एक घटना घटी और उनके मनमें बैठ गया कि यह दुनिया कुछ नहीं है। उन्हें ज्ञान हुआ, वैराग्य भावना प्रबल हुई और अपना राज-पाट छोड़, वे वनोंकी ओर चल पड़े। वे जा रहे थे कि राहमें उन्होंने देखा—एक मिश्री पड़ी है। उन्होंने सोचा, इसे उठा लें, किसी गरीब-को ही दे देंगे। हाथ बढ़ाया तो उंगलियाँ लाल हो गईं; क्योंकि वह मिश्री नहीं, पानकी पीक थी।

घटना साधारण है, पर इसने महाराजको अपनी विश्वसनीयता कसौटीपर लगानेका एक गम्भीर अवसर दिया। मिश्री राहमें पड़ी है या तिजोरीमें रक्खी है, जो आदमी अपना राजपाट छोड़े जा रहा है, उसे उधर ध्यान देनेसे मतलब ?

हजरत मुहम्मदके संस्मरण संग्रह किये जा रहे थे। सुना गया कि अमुक आदमीके पास एक अच्छा संस्मरण है। संग्रहकर्ता लोग उसके पास गये, तो उन्होंने देखा कि वह मनुष्य अपने कुरतेके पल्लेमें खाली हाथ छिपाये, दूर खड़ी अपनी बकरीको बुला रहा है। संग्रहकर्ता विद्वानोंने यह देखा और उससे बिना मिले ही वे लौट आये।

"क्यों भला?" ठीक जगहपर भी है और ठीक भी है आपका यह प्रश्न। उन्होंने स्वयं इस प्रश्नका यह उत्तर दिया था कि जो आदमी खाली हाथको झूठ-मूठ बकरीके सामने भरा हाथ दिखा सकता है, वह मूल संस्मरणमें भी मिलावट कर सकता है, यह फिर प्रमादसे हो या स्वार्थसे!

वही बात कि इस छोटी-सी बातपर इस मनुष्यकी विश्वसनीयता कसी गई और खोटी उतरी। इसलिए यही आवश्यक नहीं है कि आप यह सोचें कि आप कितने विश्वसनीय हैं, यह भी जरूरी है कि आप यह जानें कि आपकी विश्वसनीयता इतनी सुकुमार और नाजुक है कि जरा-सी ठेस पाकर ही टूट सकती है।

मैं मानता हूँ कि आप बहुत होशियार हैं, मुझे यह स्वीकार करनेमें भी कोई एतराज नहीं कि आप अपने विषयके पंडित हैं, पर धीरेसे सुनिये। एक रहस्यकी बात आपको सुनाता हूँ कि आप अपनी तमाम होशियारी और पूरा पांडित्य खर्च करके भी मनचाही विश्वसनीयता धारण नहीं कर सकते।

"क्यों?" आपकी जिज्ञासा ठीक है और मैं उसे शान्त करनेमें सुख अनुभव करूँगा। बात यह है कि विश्वसनीयता पुस्तकोंका ज्ञान नहीं है, मुकदमोंकी मिसल नहीं है और राजनीतिक ऐग्रीमेण्ट नहीं है, जीवनका सत्य है और यह सत्य तब सत्य होता है, जब वह हमारे जीवनमें हो, आचरणमें हो, स्वभावमें हो, कार्यमें हो!

हमारे देशकी एक लोकगाथामें यह सत्य बड़ा जानदार रूपमें प्रकट हुआ है—एक बुढ़िया अपने जेवर और दूसरे कीमती सामानकी पोटली कन्धेपर रक्खे चली जा रही थी। रास्तेमें उसे एक घुड़सवार

मिला। बुढ़ियाने सरल भावसे कहा—"भैया, मैं थक गई हूँ। तू मेरी यह पोटली अपने घोड़ेपर रख ले। मैं शामको पड़ावपर पहुँच, तुझसे ले लूंगी!"

"क्या है इसमें बुढ़िया माँ?" घुड़सवारने पूछा।

"इसमें मेरा जेवर और ऐसा ही दूसरा सामान है बेटा!" बुढ़ियाने सरलतासे कहा।

"ना, बुढ़िया माँ, मैं तुझे पड़ावपर कहाँ तलाश करता फिरूँगा; तेरा जोखिमका मामला है।" घुड़सवारने कहा और वह आगे बढ़ गया। बढ़ते-बढ़ते उसने सोचा—"यह मड़चैल बुढ़िया और मैं हवा-से घोड़ेपर सवार; कहाँ यह, कहाँ मैं। इसकी पोटली ले लूँ और चलता बनूँ।"

सोचकर वह लौटा—"बुढ़िया माँ, ला तेरी पोटली अपने घोड़ेपर रख लूँ। नहीं तो तू भी कहेगी कि एक मदद माँगी थी, वह भी इस लड़केने नहीं दी!"

—पर बुढ़िया अब उसे अपनी पोटली देनेको तैयार न हुई। झुंझलाकर घुड़सवारने कहा—"क्यों, इतनी देरमें क्या हो गया? अभी तो तुम गिड़गिड़ा रही थी!"

बुढ़ियाने कहा—"हुआ तो कुछ नहीं बेटा, पर बात यह है कि जो तेरे कानमें कह गया, वही मेरे कानमें भी कह गया!" और बुढ़ियाने अपनी पोटली उसे नहीं दी!

इस लोक-गाथाकी साक्षी है कि विश्वसनीयता हमारे जीवनका कोई आवरण नहीं, वह आचरण है। हमें सुख हो या दुख, हम बढ़ें या मिट जायें; अपनोंका, परिवारवालोंका, पड़ौसियोंका, देशवासियोंका और संसारके समस्त नागरिकोंका हमारे प्रति जो सहज विश्वास है, हम उसे खण्डित न होने दें; हमारा यह निर्णय ही हमारी विश्वसनीयताका प्राण है। वह कोई अभिनय नहीं है कि हम उसे अभ्याससे प्रदर्शित कर सकें। वह हमारे जीवनका दीपक है, जो कागजों और दीवारोंपर चित्रित होकर नहीं, स्वयं जलकर ही रोशनी देता है।

आपके एक बड़े भाई हैं और एक भाभी। दोनोंमें मतभेद है, मन-मुटाव है। भाई आपसे भाभीके संबंधमें कुछ कहता है और भाभी भाईके बारेमें कुछ कहती है। क्या आप इन दो 'कुछ' को अलग-अलग रख सकते हैं? यदि हाँ तो आप विश्वसनीय हैं और नहीं, तो अविश्वसनीय! क्या आपको दूसरोंके पत्र पढ़नेकी, छिपकर बातें सुन लेनेकी, बेचैनी होती है? यदि हाँ, तो यह आपकी अविश्वसनीयताका पक्का प्रमाण है।

अपने वादोंके संबंधमें आपका क्या हाल है? क्या दावतोंमें, जल्सोंमें, आप ठीक समयसे पहुँचते हैं? नियत समयपर आप मित्रोंको घर मिलते हैं? वादा, विश्वसनीयताकी सबसे बड़ी कसौटी है!

आप अपने मित्रसे माँगकर एक पुस्तक लाये हैं? क्या कभी ऐसा हुआ है कि वह अपने घर नहीं लौट सकी? यदि हाँ, तो आप १०० प्रतिशत अविश्वसनीय हैं। आप एक लाख बहाने बनायें, सत्य यही है कि जब आपका एक पुस्तकके लिए भी विश्वास नहीं किया जा सकता, तो कोई राष्ट्रिय धरोहर आपको कैसे सौंपी जा सकती है?

आपने अपने किसी साथीका फ़ाउंटेनपेन उड़ाया है? आपकी रायमें यह मामूली बात है, पर सच यह है कि जो आदमी फ़ाउंटेनपेन चुरा सकता है, वह कोहनूरको कैसे छोड़ देगा?

मैं समझता हूँ कि मेरी बातचीत पूरी हो गई, पर लीजिये बात पूरी करते-करते भी आपको एक कहानी और सुनाये देता हूँ।

प्रेजीडेंट अब्राहम लिंकनको अप [illegible] आवश्यकता थी। प्रेजीडेंटने सब उम्मीदवारोंको [illegible] बुलाया और दरवाजेके पास रास्तेमें एक पुस्तक डाल दी। कोई २० उम्मीदवार थे। भड़भड़ीके साथ दफ़्तरमें वे आये और पुस्तकको कुचलते हुए प्रेजीडेंटकी मेज़ तक पहुँचे। हरेक अपनी बात कहनेको बेचैन था और कह रहा था।

उनमें एक उम्मीदवार, जो उम्र और ज्ञान दोनोंमें ही सबसे कम था, सबके बाद दफ़्तरमें आया। उसने उस पुस्तकको उठाकर [illegible]

किया और प्रेजीडेंटकी मेजपर रख, एक तरफ़ खड़ा हो गया। जब सब अपनी-अपनी बात कह चुके, तो प्रेजीडेंटसे पूछकर, संक्षेपमें, धीरेसे उसने अपनी बात कही। बात सुनकर प्रेजीडेंटने हाथों हाथ उसे अपना सहायक बना लिया।

दूसरे उम्मीदवारोंने इसपर ऐतराज़ किया कि आप एक कम-उम्र, कम-अनुभव, कम-योग्य आदमीको रख रहे हैं! प्रेजीडेंटने कहा—"मैं आपकी उम्र, आपके अनुभव और आपके प्रमाणपत्रोंको लेकर क्या करूँ; मुझे तो एक सहायककी आवश्यकता है। इस युवकने अपने व्यवहारसे सिद्ध कर दिया है कि इसे अपनेसे ज्यादा मेरी चिंता है और मैं इसका पूरी तरह विश्वास कर सकता हूँ।"

विश्वास दिलाया नहीं जाता, उत्पन्न किया जाता है। वह कसमोंसे उत्पन्न नहीं होता, आचरण और व्यवहारसे पनपता है। विश्वसनीय होना ही विश्वास दिलानेकी सबसे बड़ी तरकीब है!

श्रम-जीवियोंको प्रणाम

उस दिन मैं देहलीमें था। तीसरे पहर जरा भूख लगी तो भाई श्याम-लाल जैन बोले—"चलो, तुम्हें एक बहुत बढ़िया चीज खिलाकर लाऊँगा।" चाँदनी चौकमें उनके दफ्तरके सामने सेन्ट्रल बैंककी सीढ़ियोंके कोने पर, एक मटकेवाला बैठता है, वहाँ वे रुके। इस मटकेमें दही थी, पकौड़ियाँ थीं और मटका बहुत बड़ा था। अभी पाँच बजे थे, पर मटका खाली हो चला था। मेरे मित्रने बताया कि यह एक-दो मटके रोज बेचता है। हम चाट खाने लगे। सामने दूसरी ओर मुँह किये दो युवतियाँ भी चाट खा रही थीं। बातचीतसे दोनों कालेज-गर्ल-सी दिखाईं दीं। एक ओर साहबी ठाठके दो मित्र चाट खा रहे थे। एक चन्दनधारी पंडितजी आये, उन्होंने भी एक पत्ता लिया। जरा देर बाद एक झावेवाला मजदूर आया और उसने भी एक पत्ता लिया। पता नहीं, कितनी मेहनतोंका फल थे ये दो आने!

मैं देखता रहा सब कुछ, पर मेरा ध्यान केन्द्रित था, उस चाटवाले पर—उसके हाथोंमें तेजी, मस्तिष्कमें शान्ति, चेहरे पर संतोष, आँखोंमें आनन्द और मुँहमें मिश्री-सी वाणी। मुझपर इस वातावरणका गहरा प्रभाव पड़ा और मनमें एक नया भाव आया, पर उसे ठीक भाषा न मिली।

× × ×

"आओ, अच्छा एक और चीज तुम्हें खिलाऊँ।"

मेरे मित्र बोले और हम दोनों कुछ दूर आगे जाकर, एक आलूकी टिकियावालेके सामने रुके। यहाँ भी वही हाल था। टिकिया सिकती न थी, ग्राहक तैयार रहता। इस दूकानदारके चेहरे पर भी सन्तोषकी

आभा थी । मेरे भीतर जो भाव घूम रहा था निराकार-सा, वह अब भाषा भी पा गया ।

हम अपनी शक्तिका माप लिये बिना, बड़े-बड़े हवाई महल खड़े करते हैं और हमारा प्रयत्न होता है कि हमें वे महल जमीन पर खड़े दिखाई दें । इस उद्योगमें हम अपना तन, मन, धन, जीवन, यौवन और सुख-शान्ति सब फूँक डालते हैं, पर वे महल नहीं बनते, आसमानसे जमीन पर नहीं उतरते और यों ही रोते-रोते हमारा अंत हो जाता है । उन ऊँचे महलोंका मिथ्या आकर्षण हमें हमारे चारों ओर बिखरी छोटी-छोटी, पर निश्चित और सुखभरी सफलताओंकी ओर नहीं देखने देता ।

आज यह सट्टेका बाजार क्यों गरम है ? लाटरीके नाम पर लाखों रुपये हर साल देश क्यों लुटाता है ? राजनीतिमें यह नेतागिरीकी दौड़-धूप क्यों है ? और साहित्यमें जिसे देखो, वही अपना ग्रन्थ छपानेके लिए क्यों आकुल है ? काश, ये बड़े स्वप्न इन आँखोंमें न बसे होते, तो आज अन्धकारमें भटकनेवाले हजारों युवक शान्तिका जीवन व्यतीत करते होते । ऊँचे महलोंका यह आकर्षण इतना उग्र है कि हमें भटका देता है ।

× × ×

एक पुरानी याद मेरी आँखोंमें घूम गई । यों ही एक बार हँसी-हँसीमें मेरे मित्र श्री अलगूराय शास्त्रीने कहा—"मैं तो राष्ट्रपति (उन दिनोंका कांग्रेस-प्रधान) होना चाहता हूँ ।" मैंने पूछा—क्यों ? तो बोले—"मुझे अपना शानदार जलूस निकलवानेकी इच्छा है ।"

इसके कुछ साल बाद मैंने उन्हें नहटौरकी राजनीतिक कान्फ्रेंसके सभापति रूपमें देवबन्द बुलाया । मास्टर काशीराम जीके उद्योगसे जलूस इतना शानदार निकला कि क्या कहने ! स्वागताध्यक्षके रूपमें मैं उनकी गाड़ीमें था । बाजारमें पहुँचकर जब जलूस अपने पूरे रंग पर आया, तो अपनी गहमागहमीमें झूमकर शास्त्रीजी बोले—"बस भाई, अब राष्ट्रपति बननेकी मेरी इच्छा नहीं रही ।"

मैंने पूछा—क्यों ! तो बोले—"क्या इससे सुन्दर, व्यवस्थित और शानदार जलूस वहाँ क्या निकलेगा ? हाँ, कुछ बड़ा हो सकता है, पर जैसा छोटा मैं वैसा ही मेरा जलूस । बस, भर गया मन और हो गया मैं राष्ट्रपति । इस समय मुझे लग रहा है कि कलकत्तेमें पंडित मोतीलाल नेहरूकी जगह मेरा ही जलूस निकला था !!"

बात हँसीकी थी, हँसीमें टल गई, पर उनकी बातमें जो गहराई थी, उसे मैं आज समझा । दूसरोंकी सफलताका बाहरी रूप देखकर, हम जो अपनेको बिना देखे, बिना तोले, नक्शे बनाते हैं, वे तो पूरे होते नहीं—हो सकते ही नहीं, पर जो पूरे हो सकते थे, वे भी रह जाते हैं । अगर शास्त्रीजी राष्ट्रपति होनेका प्रोग्राम बना कर दौड़ पड़ते, तो जो सम्मान उन्हें आज प्राप्त है, वह न होता और उनकी दशा बेचारे एम० एन०राय से भी गई बीती होती !

मन ही मन मैंने कहा—सफल श्रम-जीवियोंको प्रणाम ।